ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १३

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चतुर्दशपूर्वधरस्थविरप्रणीत प्रथम उपांग

औपपातिकसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

□

प्रेरणा
(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

□

संयोजक तथा प्रधान सम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

□

अनुवादक—विवेचक
डा० छगनलाल शास्त्री, काव्यतीर्थ
एम. ए., पी-एच. डी., विद्यामहोदधि

□

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

अभी तक आगम बत्तीसी के नवीन सूत्रग्रन्थों के साथ अनुपलब्ध सूत्रों के प्रकाशन और पुनर्मुद्रण का कार्य साथ-साथ चलता रहा है। इस समय में अनेक सूत्रों का पुनर्मुद्रण हुआ। अब औपपातिक सूत्र से अनुपलब्ध सूत्रों के पुनर्मुद्रण का कार्य प्रारम्भ हो रहा है।

अंग आगमों में आचारांगसूत्र प्रथम है, और औपपातिकसूत्र उसका उपांग है। अतएव उपांग के क्रम में इसे भी प्रथम माना जायेगा। उपांग होते हुए भी इसका एक विशिष्ट स्थान है। इसका पूर्वार्ध कथाप्रधान है, किन्तु तद्गत वर्णन मूल आगमों का पूरक है। उन आगमों में उल्लिखित नगर, चैत्य, वनखण्ड, राजा, रानी, अनगार आदि के वर्णन को जानने के लिये 'वण्णओ' लिखकर इस सूत्र का अतिदेश किया जाता है। अर्थात् इन सबका वर्णन औपपातिक सूत्र के वर्णन के अनुसार कहना चाहिये। यह वर्णन अलंकारों और कोमल कान्त पदावली से इतना समृद्ध है कि पाठक इस वर्णन से यथार्थ की अनुभूति करता है। सारांश यह कि इस सूत्र का अध्ययन किये बिना अन्य कथासूत्रों का अध्ययन अपूर्ण ही रहता है।

उत्तरार्ध के वर्णन में विभिन्न प्रकार की परिव्राजक परम्पराओं का उल्लेख है, जो भारत के विभिन्न मतानुयायिओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये भारत के धार्मिक व सांस्कृतिक इतिहास लेखकों एवं अन्वेषकों को पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई हैं।

सारांश यह कि औपपातिक सूत्र एक साहित्यिक कृति होने के साथ-साथ विभिन्न धार्मिक आचार परंपराओं का इतिहास भी है। प्राचीन भारत की गौरव गाथा का अंकन करने वालों के लिये उपयोगी मार्गदर्शक सहयोगी बन सकता है।

आगमों के प्रकाशन की योजना के कारणों पर महामहिम स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. ने अपने 'आदिवचन' में विस्तृत प्रकाश डाला है। अतः पुनः कारणों का उल्लेख नहीं करते हैं। समिति तो इसी में गौरवानुभूति करती है कि उनका बोया बीज विशाल वटवृक्ष की तरह विस्तृत होता जा रहा है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि समिति द्वारा आगमों के प्रकाशन में आर्थिक लाभ पक्ष गौण है। इसीलिये प्रथम संस्करण के प्रकाशन में लागत से कम मूल्य रखा गया था और उसी नीति के अनुसार द्वितीय संस्करण के ग्रन्थों का मूल्य निर्धारित किया जा रहा है। समिति का उद्देश्य यही है कि सभी ग्रन्थ-भण्डारों एवं पाठकों को ग्रन्थ उपलब्ध हो जायें।

अन्त में अपने सभी सहयोगियों के आभारी हैं कि उनकी प्रेरणायें समिति को आगमों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने के लिये प्रेरित कर रही हैं।

इति शुभम्।

रतनचन्द मोदी	सायरमल चोरड़िया	अमरचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामंत्री	मंत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५ ९०१

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण से)

औपपातिकसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांग में प्राप्त है। वहाँ पूर्व और अंग के रूप में विभाग किया गया है। संख्या की दृष्टि से पूर्व चौदह[1] थे और अंग बारह[2] थे।

नन्दीसूत्र में दूसरा आगमों का वर्गीकरण मिलता है। वहाँ सम्पूर्ण आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में विभक्त किया है।[3]

आगमों का तीसरा वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल और छेद के रूप में किया गया है। यह वर्गीकरण सभी से उत्तरवर्ती है।

नन्दीसूत्र में आचार्य देववाचक ने मूल और छेद ये दो विभाग नहीं किये हैं और न उपांग शब्द का प्रयोग ही किया है। उपांग शब्द अर्वाचीन है। "उपांग" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आगमों के लिए किसने किया ? यह शोधार्थियों के लिए अन्वेषणीय है।

आचार्य उमास्वाति ने जो जैनदर्शन के तलस्पर्शी मूर्धन्य मनीषी थे, प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी संघवी ने जिनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है[4], तत्त्वार्थभाष्य में अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग किया है और उपांग से उनका तात्पर्य अंगबाह्य आगम है।[5]

---

१. चउदस पुव्वा पण्णत्ता, तं जहा—

उप्पायपुव्वमग्गेणियं च तइयं च वीरियं पुव्वं।
अत्थीनत्थिपवायं तत्तो नाणप्पवायं च॥
सच्चप्पवायपुव्वं तत्तो आयप्पवायपुव्वं च।
कम्मप्पवायपुव्वं पच्चक्खाणं भवे नवमं॥
विज्जाअणुप्पवायं अवंझपाणाउ बारसं पुव्वं।
तत्तो किरियविसालं पुव्वं तह बिंदुसारं च॥

—समवायांग, समवाय-१४

२. समवायांग, समवाय १३६.

३. अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं तं जहा—अङ्गपविट्ठं अङ्गबाहिरं च। —नन्दी, सूत्र ४३

४. तत्त्वार्थसूत्र—पं. सुखलालजी, विवेचन पृ. ९.

५. अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांगशः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्। —तत्त्वार्थभाष्य १-२०

आचार्य श्रीचन्द्र ने सुखबोधा समाचारी की रचना की है, जिनका समय ई. ११११२ से पूर्व माना जाता है। उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए अंगबाह्य के अर्थ में ही उपांग शब्द का प्रयोग किया है।[६]

आचार्य जिनप्रभ ने 'विधिमार्गप्रपा' ग्रन्थ की संरचना की। यह ग्रन्थ ई. १३०६ में पूर्ण हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ में आगमों की स्वाध्याय-तप-विधि का वर्णन करते हुए 'इयाणि उवंगा' लिखकर जिस अंग का जो उपांग है उसका उल्लेख किया है।[७]

जिनप्रभ ने 'वायणाविही' की उत्थानिका में जो वाक्य दिया है, उसमें भी उपांग विभाग का उल्लेख हुआ है।[८]

पं. बेचरदासजी दोशी का अभिमत है कि चूर्णि साहित्य में 'उपांग' शब्द आया है। वह शब्द कहाँ-कहाँ आया है? यह अन्वेषणीय है[९] (क)।

प्राचीन वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी अंग और उपांग ग्रन्थों की कल्पना की गई है। वेदों के गम्भीर रहस्य को वेदांगों में स्पष्ट किया गया है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष ये छह अंग हैं और उनकी व्याख्या करने वाले ग्रन्थ उपांग माने गये हैं[९] (ख)। वेदों के चार उपांग माने गये हैं—पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र[९] (ग)। चारों वेदों के समकक्ष चार उपवेदों की भी कल्पना की गई है, जो आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। वेदों के अंग और उपांग की कल्पना जो है, उसकी सार्थकता समझ में आती है कि उनके बिना याज्ञिक रूप से क्रियान्विति सम्भव नहीं है। अतः उनका अध्ययन आवश्यक माना, पर दार्शनिक दृष्टि से उपवेदों की कल्पना क्यों की गई? यह स्पष्ट नहीं है। जैसे—सामवेद का सम्बन्ध गान्धर्ववेद से जोड़ा जा सकता है, वैसे अन्य वेदों की भी अन्य उपवेदों से संगति बिठाना असम्भव तो नहीं है। पर वह केवल तर्क-कौशल ही है, वाद-नैपुण्य की परिसीमा में आता है। उपसर्ग के साथ निष्पन्न शब्दों में पूरकता का विशिष्ट गुण होना चाहिए। उसका उसमें अभाव है। उदाहरण के रूप में जैसे—गान्धर्व उपवेद सामवेद से निकला हुआ या उससे विकसित शास्त्र सम्भव है पर वह सामवेद का पूरक कैसे? उसके अभाव में सामवेद अपूर्ण है, यह कैसे कहा जा सकता है? सामवेद और गान्धर्व उपवेदों की तो कुछ संगति बिठाई जा सकती है पर अन्य वेदों के साथ वह सम्भव नहीं है। यदि ऐसा किया भी गया तो वह सीधा समाधान नहीं है। सम्भव

---

६. सुखबोधासमाचारी पृ. ३१-३४.

७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-१, प्रस्तावना —दलसुखभाई मालवणिया, पृ. ३८

८. एवं कप्पतिप्पाइविहि पुरस्सरं साहू समाणियसयलजोगविही मूलगन्थ नन्दि-अणुओगदार-उत्तरज्झयण-इसिभासिय-अंग-उवांग-पइण्णय-छेयगन्थआगमेवाइज्जा।—वायणाविहि पृ. ६४ जैन सा.वृ.इ. प्रस्तावना, पृ. ४०-४१

९. (क) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-१. —जैनश्रुत पृ. ३०

९. (ख) छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषाययनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साँगमधीत्यैवं, ब्रह्मलोके महीयते॥ —पाणिनीय शिक्षा, ४१-४२

९. (ग) पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राँगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ —याज्ञवल्क्य स्मृति; १-३

है धनुर्वेद प्रभृति लौकिक शास्त्रों का मूल उद्गम स्रोत वेद हैं, यह बताने के लिए ही यह उपक्रम किया गया हो। अस्तु।

अंगों का उल्लेख जिस प्रकार प्राचीन आगम ग्रन्थों में हुआ है और उनकी संख्या बारह बताई है, वहाँ बारह उपांगों का उल्लेख नहीं हुआ है। नन्दीसूत्र में भी कालिक और उत्कालिक के रूप में उपांगों का उल्लेख है। पर बारह उपांगों के रूप में नहीं। बारह उपांगों का उल्लेख बारहवीं शताब्दी से पहले के ग्रन्थों में नहीं है।

यह निर्विवाद है कि अंगों के रचयिता गणधर हैं और उपांगों के रचयिता विभिन्न स्थविर हैं। इसलिए अंग और उपाङ्ग का परस्पर एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि आचार्यों ने प्रत्येक अंग का एक उपांग माना है। आचार्य अभयदेव ने औपपातिक को आचारांग का उपांग माना है। आचार्य मलयगिरि ने राजप्रश्नीय को सूत्रकृतांग का उपांग माना है पर गहराई से अनुचिन्तन करने पर जीवाभिगम और स्थानांग का, सूर्यप्रज्ञप्ति और भगवती का, चन्द्रप्रज्ञप्ति तथा उपासकदशांग का, वण्हिदसा और दृष्टिवाद का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इस क्रम के पीछे उस युग की क्या परिस्थितियाँ थीं, यह शोधार्थियों के लिए अन्वेषणीय है। सम्भव है, जब आगम-पुरुष की कमनीय कल्पना की गई, जहाँ उसके अंग स्थानीय आगमों की परिकल्पना और अंग सूत्रों की तत्स्थानिक प्रतिष्ठापना का प्रश्न आया, तब यह क्रम बिठाया गया हो।

आधुनिक चिन्तकों का यह भी अभिमत है कि औपपातिक का उपांगों में प्रथम स्थान है, वह उचित नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रज्ञापना का प्रथम स्थान होना चाहिए। कारण यह है कि प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य हैं जो महावीर निर्वाण के तीन सौ पैंतीस में युगप्रधान आचार्य पद पर विभूषित हुए थे। इस दृष्टि से प्रज्ञापना प्रथम उपांग होना चाहिए। हमारी दृष्टि से औपपातिक को जो प्रथम स्थान मिला है, वह उसकी कुछ मौलिक विशेषताओं के कारण ही मिला है। इसके सम्बन्ध में हम आगे की पंक्तियों में चिन्तन करेंगे।

यह पूर्ण सत्य है कि आचारांग में जो विषय चर्चित हुए हैं, उन विषयों का विश्लेषण जैसा औपपातिक में चाहिए, वैसा नहीं हुआ है। उपांग अंगों के पूरक और यथार्थ संगति बिठाने वाले नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र विषयों का निरूपण करने वाले हैं। मूर्धन्य मनीषियों के लिए ये सारे प्रश्न चिन्तनीय हैं।

औपपातिक प्रथम उपांग है। अंगों में जो स्थान आचारांग का है, वही स्थान उपांगों में औपपातिक का है। प्रस्तुत आगम के दो अध्याय हैं। प्रथम का नाम समवसरण है और दूसरे का नाम उपपात है। द्वितीय अध्याय में उपपात सम्बन्धी विविध प्रकार के प्रश्न चर्चित हैं। एतदर्थी नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने औपपातिक-वृत्ति में लिखा है—उपपात-जन्म देव और नारकियों के जन्म तथा सिद्धि-गमन का वर्णन से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है[१०]।

विन्टरनित्ज ने औपपातिक के स्थान पर उपपादिक शब्द का प्रयोग किया है। पर औपपातिक में जो अर्थ की गम्भीरता है, वह उपपादिक शब्द में नहीं है। प्रस्तुत आगम का प्रारम्भिक अंश गद्यात्मक है और अंतिम अंश पद्यात्मक है। मध्य भाग में गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है। किन्तु कुल मिला कर प्रस्तुत सूत्र का अधिकांश भाग गद्यात्मक ही है। इसमें एक ओर जहाँ राजनैतिक, सामाजिक और नागरिक तथ्यों की चर्चाएँ की हैं, दूसरी ओर धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का भी सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। इस आगम की यह सबसे बड़ी

---

१०. उपपतनं उपपातो—देव-नारक-जन्म सिद्धिगमनं च। अतस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकम्।
—औप. अभयदेव वृत्ति

विशेषता है कि इसमें जो विषय चर्चित किये गये हैं, वे विषय पूर्ण विस्तार के साथ चर्चित हुए हैं। यही कारण है कि भगवती आदि अंग-आगमों में प्रस्तुत सूत्र को देखने का सूचन किया गया, जो इस आगम के वर्णन की मौलिकता सिद्ध करता है। श्रमण भगवान् महावीर का आनख-शिख समस्त अंगोपांगों का विशद वर्णन इसमें किया गया है, वैसा वर्णन अन्य किसी भी आगम में नहीं है। भगवान् महावीर की शरीर-सम्पत्ति को जानने के लिए यह आगम एकमात्र आधार है। इसमें भगवान् के समवसरण का सजीव चित्रण हुआ है। भगवान् महावीर की उपदेश-विधि भी इसमें सुरक्षित है।

मार्गदर्शक :- [illegible] महाराज

चम्पा नगरी : एक विश्लेषण

चम्पा अंगदेश की राजधानी थी। अथर्ववेद में अंग का उल्लेख है।[११] गोपथ ब्राह्मण में भी अंग और मगध का एक साथ उल्लेख हुआ है।[१२] पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी अंग का नाम बंग, कलिंग और पुण्ड्र आदि के नामों के साथ उल्लिखित है।[१३] रामायण में अंग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए एक आख्यायिका दी है।[१४] शिव की क्रोधाग्नि से बचने के लिए कामदेव इस प्रदेश में भागकर आया। अंग का परित्याग कर वह अनंग हो गया। इस घटना से प्रस्तुत क्षेत्र का नाम अंग हुआ। जातकों से यह भी परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध से पूर्व राज्यसत्ता के लिए मगध और अंग में परस्पर संघर्ष होता था।[१५] बुद्ध के समय अंग मगध का ही एक विभाग था। राजा श्रेणिक अंग और मगध इन दोनों का अधिपति था। त्रिपिटक-साहित्य में अंग और मगध को साथ में रखकर 'अंग-मगधा' द्वन्द्व समास के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[१६] 'चम्पेय जातक' के अनुसार चम्पा नदी अंग और मगध इन दोनों का विभाजन करती थी, जिसके पूर्व और पश्चिम में दोनों जनपद बसे हुए थे। अंग जनपद की पूर्वी सीमा राजप्रासादों की पहाड़ियाँ, उत्तरी सीमा कोसी नदी, दक्षिण में उसका समुद्र तक विस्तार था। पार्जिटर ने पूर्णिया जिले के पश्चिमी भाग को अंग जनपद के अन्तर्गत माना है।[१७] महाभारत के अनुसार अंग नामक राजा के नाम पर जनपद का नाम अंग पड़ा।

कनिंघम ने लिखा है—'भागलपुर से ठीक चौबीस मील पर पत्थर घाट है। इसके आस-पास चम्पा की अवस्थिति होनी चाहिए। इसके पास ही पश्चिम की ओर एक बड़ा गाँव है, जिसे चम्पानगर कहते हैं और एक छोटा सा गाँव है, जिसे चम्पापुर कहते हैं, सम्भव है, ये दोनों गाँव प्राचीन राजधानी 'चम्पा' की सही स्थिति को प्रकट करते हों।"[१८]

फाहियान ने चम्पा को पाटलीपुत्र से अठारह योजन पूर्व दिशा में गंगा के दक्षिणी तट पर अवस्थित

---

११. अथर्ववेद—५-२२-१४.
१२. गोपथ ब्राह्मण—२-९.
१३. अष्टाध्यायी—४-१-१७०
१४. रामायण—४७-१४
१५. जातक, पालिटैक्स्ट-सोसायटी, जिल्द-४, पृ. ४५४, जिल्द ५वीं पृ. ३१६. जिल्द छठी पृ. २७१.
१६. (क) दीघनिकाय-३।५.
    (ख) मज्झिमनिकाय-२।३।७
    (ग) थेरीगाथा-बम्बई विश्वविद्यालय संस्करण, गाथा ११०
१७. जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, सन् १८९७ पृ. ९५
१८. दी एन्शियण्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, पृ. ५४६-५४७

माना है।[१८] महाभारत की दृष्टि से चम्पा का प्राचीन नाम 'मालिनी' था। महाराज चम्प ने इसका नाम चम्पा रखा। चम्पा के 'चम्पावती', 'चम्पापुरी', 'चम्पानगर' और 'चम्पामालिनी' आदि नाम प्राप्त होते हैं।[१९] दीघ-निकाय के अनुसार इस महानगरी का निर्माण महागोविन्द ने किया था।[२१] चम्पक वृक्षों का बाहुल्य होने के कारण इस नगरी का नाम चम्पा पड़ा हो!

दीघनिकाय के अनुसार चम्पा एक विशालनगरी थी।[२२] जातकों में आये हुए वर्णन से यह स्पष्ट है कि चम्पा के चारों ओर एक सुन्दर खाई थी और बहुत सुदृढ प्राचीर था।[२३] पालि ग्रन्थों के अनुसार चम्पा में "गग्गरापोक्खरणी" नामक एक कासार था, जिसका निर्माण गाग्गरा नामक महारानी ने करवाया था। प्रस्तुत कासार के तट पर चम्पक वृक्षों का एक बहुत ही सुन्दर गुल्म था, जिसके कारण सन्निकट का प्रदेश अत्यन्त सौरभ-युक्त था। तथागत बुद्ध जब भी चम्पा में आते थे, वे गग्गरापोक्खरणी के तट पर ही रुकते थे।[२४] इस महानगरी की रमणीयता के कारण ही आनन्द ने गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपयुक्त नगरों में इस नगरी की परि-कल्पना की थी। तथागत बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण बौद्धयात्री समय-समय पर इसी नगरी के अवलोकनार्थ आये। चीनी यात्री फाहियान ने चम्पा का वर्णन करते हुए लिखा है, चम्पा नगर पाटलीपुत्र से अठारह योजन की दूरी पर स्थित था। उसके अनुसार चम्पा गंगा नदी के दक्षिण तट पर बसा हुआ था। चीनी यात्रियों के समय चम्पा नगरी का ह्रास प्रारम्भ हो गया था। उसने वहाँ पर स्थित विहारों का उल्लेख किया है।[२५] ह्वान्च्वांग भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों का निरीक्षण करता हुआ चम्पा पहुँचा था। वह इरण पर्वत से तीन सौ ली [पचास मील] की दूरी समाप्त कर चम्पा पहुँचा था। उसके अभिमतानुसार चम्पा देश की परिधि चार सौ "ली"। [सत्तर मील] थी और नगर की परिधि चालीस ली [सात मील] वह भी चम्पा को गंगा के दक्षिण तट पर अवस्थित मानता है। इसके आगमन के समय यह नगरी बहुत कुछ विनष्ट हो चुकी थी।

स्थानांग में जिन दश महानगरियों का उल्लेख है, उनमें चम्पा भी एक है। यह राजधानी थी। बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की यह जन्मभूमि थी। आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक सूत्र की रचना इस नगरी में की थी। 'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार सम्राट् श्रेणिक के निधन के पश्चात् सम्राट् कूणिक को राजगृह में रहना अच्छा न लगा। एक स्थान पर चम्पा के सुन्दर उद्यान को देखकर चम्पानगर बसाया।[२६]

---

१९. द्वैवेल्स ऑफ फाहियान, पृ. ६५
२०. ला. बी. सी., इण्डोलॉजिकल स्टडीज, पृ. ४९
२१. "दन्तपुरं कलिङ्गानमस्सकानाञ्च पोतनम्।
माहिस्सती अवन्तीनम् सोवीराञ्च रोरुकम्॥
मिथला च विदेहानम् चम्पा अङ्गेसु मापिता।
वाराणसी च कासीनम् एते गोविन्द-मापितेती॥
—दीघनिकाय, १९, ३६।
२२. दीघनिकाय-२-१४६
२३. जातक-४।४५४
२४. मललसेकर-२।७२४
२५. लेग्गे, फाहियान-१००
२६. विविध तीर्थ कल्प,—पृ. ६५

श्रीकल्याणविजय गणि के अभिमतानुसार चम्पा पटना से पूर्व [कुछ दक्षिण में] लगभग सौ कोश पर थी, जिसे आज चम्पकमाला कहते हैं। यह स्थान भागलपुर से तीन मील दूर पश्चिम में है।[२७]

चम्पा उस युग में व्यापार का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ पर माल लेने के लिए दूर-दूर से व्यापारी आते थे। चम्पा के व्यापारी भी माल लेकर के मिथिला, अहिच्छत्रा और पिहुण्ड [चिकाकोट और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश] आदि में व्यापारार्थ जाते थे।[२८] चम्पा और मिथिला में साठ योजन का अन्तर था।

मज्झिमनिकाय के अनुसार पूर्ण कस्सप, मक्खलिगोसाल, अजितकेसकम्बलिन, पकुधकच्चायन, सञ्जय बेलट्ठिपुत्त तथा निग्गन्थनाथपुत्त का वहाँ पर विचरण होता था।[२९] जैन इतिहास के अनुसार भगवान् महावीर अनेक बार चम्पा नगरी में पधारे थे और उन्होंने ५६७ ई. पूर्व में तीसरा, ५५८ ई. पूर्व में बाहरवां और सन् ई. पूर्व ५४४ में छब्बीसवाँ वर्षावास चम्पानगरी में किया था।[३०] भगवान् महावीर चम्पा के उत्तर-पूर्व में स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य में विराजते थे।

प्रस्तुत आगम में चम्पा का विस्तृत वर्णन है। वह वर्णन परवर्ती साहित्यकारों के लिए मूल आधार रहा है। प्राचीन वस्तुकला की दृष्टि से इस वर्णन का अनूठा महत्त्व है। प्राचीन युग में नगरों का निर्माण किस प्रकार होता था, यह इस वर्णन से स्पष्ट है। नगर की शोभा केवल गगनचुम्बी प्रासादों से ही नहीं होती, किन्तु सघन वृक्षों से होती है और वे वृक्ष लहलहाते हैं पानी की सरसब्जता से। इसलिए नगर के साथ ही पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख हुआ है। वनखण्ड में विविध प्रकार के वृक्ष थे, लताएं थीं और नाना प्रकार के पक्षियों का मधुर कलरव था।

सम्राट् कूणिक : एक चिन्तन

चम्पा का अधिपति कूणिक सम्राट था। कूणिक का प्रस्तुत आगम में विस्तार से निरूपण है। वह भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसकी भक्ति का जीता-जागता चित्र इसमें चित्रित है। उसी तरह कूणिक अजातशत्रु को बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध का परम भक्त माना है। सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार तथागत बुद्ध के प्रथम दर्शन में ही वह बौद्ध धर्म को स्वीकार करता है।[३१] बुद्ध की अस्थियों पर स्तूप बनाने के लिए जब बुद्ध के भस्मावशेष बाँटे जाने लगे, तब अजातशत्रु ने कुशीनारा के मल्लों को कहलाया कि बुद्ध भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ, अतः अवशेषों का एक भाग मुझे मिलना चाहिए। द्रोण विप्र की सलाह से उसे एक अस्थिभाग मिला और उसने उस पर एक स्तूप बनवाया।[३२]

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अजातशत्रु कूणिक जैन था या बौद्ध था? उत्तर में निवेदन है

---

२७. श्रमण भगवान् महावीर, पृ. ३६९

२८. (क) ज्ञातृधर्मकथा, ८, पृ. ९७, ९, पृ. १२१-१५, पृ. १५९
(ख) उत्तराध्ययन-२१।२

२९. मज्झिमनिकाय, २।२

३०. भगवान् महावीर का एक अनुशीलन—परिशिष्ट-१-२ देवेन्द्रमुनि

३१. एसाहं भन्ते, भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसंघं च। उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं। —सामञ्ञफलसुत्त

३२. बुद्धचर्या, पृ. ५०९

कि प्रस्तुत आगम में जो वर्णन है, उसके सामने सामञ्ञफलसुत्त का वर्णन शिथिल है, उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। सामञ्ञफलसुत्त में केवल इतना ही वर्णन है कि आज से भगवान् मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक समझें पर प्रस्तुत आगम में श्रमण भगवान् महावीर के प्रति अनन्य भक्ति कूणिक की प्रदर्शित की गई है। उसने एक प्रवृत्ति-वादुक (संवाददाता) व्यक्ति की नियुक्ति की थी। उसका कार्य था भगवान् महावीर की प्रतिदिन की प्रवृत्ति से उसे अवगत कराते रहना। उसकी सहायता के लिए अनेक कर्मकर नियुक्त थे, उनके माध्यम से भ. महावीर के प्रतिदिन के समाचार उस प्रवृत्ति-वादुक को मिलते और वह राजा कूणिक को बताता था। उसे कूणिक विपुल अर्थदान देता था। प्रवृत्ति-वादुक द्वारा समाचार ज्ञात होने पर भक्ति-भावना से विभोर होकर अभिवन्दन करना, उपदेश श्रवण के लिए जाना और निर्ग्रन्थ धर्म पर अपनी अनन्य श्रद्धा व्यक्त करना। इस वर्णन के सामने तथागत बुद्ध के प्रति जो उसकी श्रद्धा है, वह केवल औपचारिक है।*

अजातशत्रू कूणिक का बुद्ध से साक्षात्कार केवल एक बार होता है, पर महावीर से उसका साक्षात्कार अनेक बार होता है।[३३] भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् भी महावीर के उत्तराधिकारी गणधर सुधर्मा की धर्म-सभा में भी वह उपस्थित होता है।[३४]

डा. स्मिथ का मन्तव्य है—बौद्ध और जैन दोनों ही अजातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है जैनों का दावा अधिक आधारयुक्त है।[३५]

डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है—महावीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।[३६] उन्होंने आगे चलकर यह भी लिखा है, जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदाईभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं। क्योंकि दोनों जैनधर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।[३७]

अजातशत्रु बुद्ध का अनुयायी नहीं था, इसके भी अनेक कारण हैं—

१. अजातशत्रु की देवदत्त के साथ मित्रता थी, जबकि देवदत्त बुद्ध का विरोधी शिष्य था।

२. अजातशत्रु की वज्जियों के साथ शत्रुता थी, वज्जी लोग बुद्ध के परम भक्तों में थे।

३. अजातशत्रु ने प्रसेनजित् के साथ युद्ध किया, जबकि प्रसेनजित बुद्ध का परम भक्त और अनुयायी था।

तथागत बुद्ध की अजातशत्रु के प्रति सद्भावना नहीं थी। उन्होंने अजातशत्रु के सम्बन्ध में अपने भिक्षुओं को कहा—इस राजा का संस्कार अच्छा नहीं है। यह राजा अभागा है। यदि यह राजा अपनेधर्मराज-पिता की हत्या न करता तो आज इसी आसन पर बैठे-बैठे इसे नीरज-निर्मल धर्म-चक्षु उत्पन्न हो जाता।[३८] देवदत्त के

---

* आगम और त्रिपिटिक : एक अनुशीलन, पृ. ३३३

३३. स्थानांगवृत्ति, स्था. ४, उ. ३

३४. (क) ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र, सू. १-५
(ख) परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लो. १५-५४

35. Both Buddhists and Jains claimed his one of Themselves. The Jain claim appears to be well founded—Oxford History of India by V. A. Smith, Second Edition Oxford 1923, P. 51

३६. हिन्दू सभ्यता, पृ. १९०-१

३७. हिन्दू सभ्यता, पृ. २६४

३८. दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त, पृ. ३२

प्रसंग को लेकर बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ ! मगधराज अजातशत्रु, जो भी पापी हैं, उनके मित्र हैं। उनसे प्रेम करते हैं और उनसे संसर्ग रखते हैं।[३९]

जातकअट्ठकथा के अनुसार तथागत बुद्ध एक बार बिम्बिसार को धर्मोपदेश कर रहे थे। बालक अजातशत्रु को बिम्बिसार ने गोद में बिठा रखा था और वह क्रीडा कर रहा था। बिम्बिसार का ध्यान तथागत बुद्ध के उपदेश में न लगकर अजातशत्रु की ओर लगा हुआ था, इसलिए बुद्ध ने उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए एक कथा कही, जिसका रहस्य था कि तुम [illegible] मोह में मुझे ही पर नहीं अजातशत्रु बालक तुम्हारा घातक होगा।[४०]

अवदानशतक के अनुसार बिम्बिसार ने बुद्ध की वर्तमान अवस्था में ही बुद्ध के नख और केशों पर एक स्तूप अपने राजमहल में बनवाया था। राजरानियाँ धूप-दीप और पुष्पों से उसकी अर्चना करती थीं। जब अजातशत्रु राजसिंहासन पर आसीन हुआ, उसने सारी अर्चना बन्द करवा दी। श्रीमती नामक एक महिला ने उसकी आज्ञा की अवहेलना कर पूजा की, जिस कारण उसे मृत्युदण्ड दिया गया।[४१]

बौद्धसाहित्य के जाने माने विद्वान् राइस डेविड्स लिखते हैं--वार्तालाप के अन्त में अजातशत्रु ने बुद्ध को स्पष्ट रूप से अपना मार्गदर्शक स्वीकार किया और पितृ-हत्या का पश्चात्ताप भी व्यक्त किया। पर यह असंदिग्ध है कि उसने धर्म-परिवर्तन नहीं किया। इस सम्बन्ध में एक भी प्रमाण नहीं है। इस हृदयस्पर्शी प्रसंग के बाद वह तथागत बुद्ध की मान्यताओं का अनुसरण करता रहा हो, यह संभव नहीं है। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, उसके पश्चात् उसने बुद्ध के अथवा बौद्ध संघ के अन्य किसी भी भिक्षु के न कभी दर्शन किये और न उनके साथ धर्मचर्यायें कीं और न उसने बुद्ध के जीवन-काल में भिक्षु-संघ को कभी आर्थिक सहयोग भी किया। इतना तो अवश्य मिलता है कि बुद्ध निर्वाण के बाद उसने बुद्ध की अस्थियों की मांग की पर वह भी यह कह कर कि मैं भी बुद्ध की तरह क्षत्रिय हूँ। और उन अस्थियों पर बाद में एक स्तूप बनवाया। दूसरी बात उत्तरवर्ती ग्रन्थों में यह भी मिलती है कि बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् राजगृह में प्रथम संगति हुई, तब अजातशत्रु ने सप्तपर्णी गुफा के द्वार पर एक सभाभवन बनवाया था, जहाँ बौद्धपिटकों का संकलन हुआ। परन्तु इस बात का बौद्धधर्म के प्राचीनतम और मौलिक ग्रन्थों में किंचिन्मात्र भी न तो उल्लेख है और न संकेत ही है। यह सम्भव है कि उसमें बौद्धधर्म को बिना स्वीकार किये ही उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की हो। यह तो सब उसने केवल भारतीय राजाओं की उस प्राचीन परम्परा के अनुसार किया हो। सभी धर्मों का संरक्षण करना राजा अपना कर्तव्य मानता था।[४२]

धम्मपद अट्ठकथा में कुछ ऐसे प्रसंग दिये गये हैं। जो अजातशत्रु कूणिक की बुद्ध के प्रति दृढ़ श्रद्धा व्यक्त करते हैं पर उन प्रसंगों को आधुनिक मूर्धन्य मनीषीगण किंवदन्ती से रूप में स्वीकार करते हैं।[४३] उसका अधिक मूल्य नहीं है। कुछ ऐसे प्रसंग भी अवदानशतक आदि में आये हैं, जिससे अजातशत्रु की बुद्ध के प्रति विद्वेष

---

३९. विनयपिटक, चुल्लवग्ग संघभेदक खंधक-७

४०. जातकअट्ठकथा, धुस जातक समं. ३३८

४१. अवदानशतक, ५४.

४२. Buddhist India, PP. 15. 16.

४३. धम्मपद अट्ठकथा-१०-७; खण्ड-२; ६०५-६०६

भावना व्यक्त होती है।[४४] लगता है, ये दोनों प्रकार के प्रसंग कुछ अति मात्रा को लिये हुए हैं। उनमें तटस्थता का अभाव सा है।

सारांश यह है, अजातशत्रु कूणिक के अन्तर्मानस पर उसकी माता चेलना के संस्कारों का असर था। चेलना के प्रति उसके मानस में गहरी निष्ठा थी। चेलना ने ही कूणिक को यह बताया था कि तेरे पिता राजा श्रेणिक का तेरे प्रति कितना स्नेह था? उन्होंने तेरे लिए कितने कष्ट सहन किये थे! आवश्यकचूर्णि,[४५] त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र[४६] प्रभृति जैन ग्रन्थों में उसका अपर नाम 'अशोकचन्द्र' भी मिलता है चेलना भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त निष्ठावान् थी। चेलना के पूज्य पिता राजा 'चेटक' महावीर के परम उपासक थे।[४७] इसलिए अजातशत्रु कूणिक जैन था। यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

कूणिक की रानियों में पद्मावती,[४८] धारिणी[४९] और सुभद्रा[५०] प्रमुख थीं। आवश्यकचूर्णि[५१] में आठ कन्याओं के साथ उसके विवाह का वर्णन है पर वहाँ आठों कन्याओं के नाम नहीं हैं। महारानी पद्मावती का पुत्र उदायी था, वह मगध के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था। उसने चम्पा से अपनी राजधानी हटा कर पाटलीपुत्र में स्थापित की थी।[५२]

भगवान् महावीर

जैन इतिहास में भगवान् महावीर के भक्त अनेक सम्राटों का उल्लेख है, जो महावीर के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते थे। आठ राजाओं ने तो महावीर के पास आर्हती दीक्षा भी स्वीकार की थी। किन्तु कूणिक एक ऐसा सम्राट् था, जो प्रतिदिन महावीर के समाचार प्राप्त करता था और उसके लिए उसने एक पृथक् व्यवस्था कर रखी थी। दूसरे सम्राटों में यह विशेषता नहीं थी। इन सभी से यह सिद्ध है कि राजा कूणिक की महावीर के प्रति अपूर्व भक्ति थी।

भगवान् महावीर अपने शिष्य-समुदाय के साथ चम्पा नगरी में पधारते हैं। उनके तेजस्वी शिष्य कितने ही आरक्षक-दल के अधिकारी थे तो कितने ही राजा के मंत्री-मण्डल के सदस्य थे, कितने ही राजा के परामर्श-मण्डल के सदस्य थे। सैनिक थे, सेनापति थे। यह वर्णन यह सिद्ध करता है कि बुभुक्षु नहीं किन्तु मुमुक्षु श्रमण बनता है। जिस साधक में जितनी अधिक वैराग्य-भावना सुदृढ़ होती है, वह उतना ही साधना के पथ पर आगे बढ़ता है। "नारि मुई घर सम्पति नासी, मूंड मुंडाय भये संन्यासी" यह कथन प्रस्तुत आगम को पढ़ने से खण्डित होता है। महावीर के शासन में ऐरे-गेरे व्यक्तियों की भीड़ नहीं थी पर ऐसे तेजस्वी और वर्चस्वी व्यक्तियों का साम्राज्य था, जो स्वयं साधना के सच्चे पथिक थे। वे ज्ञानी भी थे, ध्यानी भी थे, लब्धिधारी भी थे और विविध शक्तियों के धनी भी थे।

---

४४. अवदानतक-५४
४५. आवश्यकचूर्णि उत्तरार्ध
४६. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र
४७. आवश्यकचूर्णि उत्तरार्द्ध पत्र-१६४
४८. तस्स णं कूणियस्स रण्णो पउमावई नामं देवी होत्था। —निरयावली, सूत्र-८.
४९. उववाई सूत्र १२.
५०. औपपातिक सूत्र-५५.
५१. कुणियस्स अट्ठहिं रायवरकन्नाहिं समं विवाहो कतो। —आव. चूर्णि उत्त. पत्र-१६७.
५२. आवश्यक चूर्णि—पत्र-१७७.

भगवान् महावीर के चित्ताकर्षक व्यक्तित्व को विविध उपमाओं से मण्डित कर हूबहू शब्द चित्र उपस्थित किया है, विराट् कृतित्व के धनी का व्यक्तित्व यदि अद्भुत नहीं है, तो जन-मानस पर उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। यही कारण है कि विश्व के सभी चिन्तकों ने अपने महापुरुष को सामान्य व्यक्तियों से पृथक् रूप में विशिष्ट रूप से चित्रित किया है। तीर्थंकर विश्व में सबसे महान् अनुपम शारीरिक-वैभव से विभूषित होते हैं। उनके शरीर में एक हजार आठ प्रशस्त लक्षण बताये गए हैं। डा. विमलचरण लॉ ने लिखा है—बौद्ध साहित्य बुद्ध के शरीरगत लक्षणों की संख्या बाईस बताते हैं, वहाँ औपपातिक सूत्र में महावीर के शरीरगत लक्षणों की संख्या आठ हजार बताई है।[५३] डॉ. विमलचरण लॉ को वहाँ पर संख्या के सम्बन्ध में भ्रान्ति हुई है। प्रस्तुत आगम में "अट्ठसहस्स" यह पाठ है और टीकाकार ने 'अष्टोत्तर सहस्रम्' लिखा है।[५४] जिसका अर्थ एक हजार आठ है। तीर्थंकर जैन दृष्टि से एक विलक्षण व्यक्तित्व के धनी होते हैं, सामान्य व्यक्ति में एकाध शुभ लक्षण होता है। उससे बढ़ कर व्यक्ति में बत्तीस लक्षण पाये जाते हैं। उससे भी उत्तम व्यक्ति में एक सौ आठ लक्षण होते हैं। लौकिक सम्पदा के उत्कृष्ट धनी चक्रवर्ती में एक हजार आठ लक्षण होते हैं पर वे कुछ अस्पष्ट होते हैं, जबकि तीर्थंकर में वे पूर्ण स्पष्ट होते हैं। लॉ ने बुद्ध के बाईस लक्षण कैसे कहे हैं ? यह चिन्तनीय है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तपः एक विश्लेषण

औपपातिक में श्रमणों के तप का सजीव चित्रण हुआ है। तप साधना का ओज है तेज है और शक्ति है। तपःशून्य साधना निष्प्राण है। साधना का भव्य प्रासाद तप की सुदृढ़ नींव पर आधारित है। साधना-प्रणाली, चाहे वह पूर्व में विकसित हुई हो अथवा पश्चिम में फली और फूली हो, उसके अन्तस्तल में तप किसी न किसी रूप में रहा हुआ है। तप में त्याग की भावना प्रमुख होती है और उसी से प्रेरित होकर साधक प्रयास करता है।

भारतीय सांस्कृतिक जीव का हम अध्ययन करें तो यह सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि चाहे भगवान् महावीर की अध्यात्मवादी विचार-धारा रही हो या भौतिकवादी अजितकेसकम्बलि या नियतिवादी गोशालक की विचार-धारा रही हो, सभी में तप के स्वर झंकृत हुए हैं किन्तु साधना-पद्धतियों में तप के लक्ष्य और स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचारभेद अवश्य रहा है। श्री भरतसिंह उपाध्याय का यह अभिमत है कि जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त और महत्त्वपूर्ण है, वह सब तपस्या से ही संभूत है।....प्रत्येक साधनाप्रणाली चाहे वह अध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक हो, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है।[५५]

तप के सम्बन्ध में अनुचिन्तन करते हुए सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक काका कालेलकर ने लिखा है—"बुद्ध-कालीन भिक्षुओं की तपस्या के परिणामस्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्यकालीन संस्कृति का विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का संस्करण हुआ। महावीर की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ और चैतन्य महाप्रभु, जो मुखशुद्धि के हेतु एक हर्र भी मुँह में नहीं रखते थे, उनके तप से बंगाल में वैष्णव संस्कृति विकसित हुई।[५६]" और महात्मा गांधी के फलस्वरूप ही भारत सर्वतंत्र स्वतन्त्र हुआ है।

भगवान् महावीर स्वयं उग्र तपस्वी थे। अतः उनका शिष्यवर्ग तप से कैसे अछूता रह सकता था ? वह भी उग्र तपस्वी था। जैन तप-विधि की यह विशेषता रही है कि वह आत्म-परिशोधन-प्रधान है। देहदण्ड

---

५३. औपपातिकसूत्र, पृ. १२. अट्ठसहस्सवरपुरिसलक्खणधरे।

५४. Some Jaina Canonical Sutras, P. 73.

५५. बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन प्र. सं. पृ. ७१-७२

५६. जीवन साहित्य-द्वितीय भाग पृ. ११७-११८.

किया नहीं जाता, वह सहज होता है। जैसे—स्वर्ण की विशुद्धि के लिए उसमें रहे हुए विकृत तत्त्वों को तपाते हैं, पात्र को नहीं, वैसे ही आत्मशुद्धि के लिए आत्म-विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का साधन है, इसलिए वह तप जाता है, तपाया नहीं जाता। तप में पीड़ा हो सकती है किन्तु पीड़ा की अनुभूति नहीं होनी चाहिए। पीड़ा शरीर से सम्बन्धित है और अनुभूति आत्मा से। अतः तप करता हुआ भी साधक दुःखी न होकर आह्लादित होता है।

आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषक फ्रायड ने 'दमन' की कटु आलोचना की है। उसने दमन को सभ्य समाज का सबसे बड़ा अभिशाप कहा है। उसका अभिमत है कि सभ्य संसार में जितनी भी विकृतियाँ हैं, मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ हैं, जितनी हत्यायें और आत्महत्यायें होती हैं, जितने लोग पागल और पाखण्डी बनते हैं, उसमें मुख्य कारण इच्छाओं का दमन है। इच्छाओं के दमन से अन्तर्द्वन्द्व पैदा होता है, जिससे मानव रुग्ण, विक्षिप्त और भ्रष्ट बन जाता है। इसलिए फ्रायड ने दमन का निषेध किया है। उसने उन्मुक्त भोग का उपाय बताया है। पर उसका सिद्धान्त भारतीय आचार में स्वीकृत नहीं है। वह तो उस दवा के समान है जो सामान्य रोग को मिटाकर भयंकर रोग पैदा करती है। यह सत्य है कि इच्छाओं का दमन हानिकारक है पर उससे कहीं अधिक हानिकारक और घातक है उन्मुक्त भोग! उन्मुक्त भोग का परिणाम अमेरिका आदि में बढ़ती हुई विक्षिप्तता और आत्महत्याओं के रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय आचार पद्धतियों में इच्छाओं की मुक्ति के लिए दमन के स्थान पर विराग की आवश्यकता बताई है। विषयों के प्रति जितना राग होगा उतनी ही इच्छाएं प्रबल होंगी! अन्तर्मानस में उद्दाम इच्छाएं पनप रही हों और फिर उनका दमन किया जाय तो हानि की संभावना है पर इच्छाएं निर्मूल समाप्त हो जायें तो दमन का प्रश्न ही कहाँ? और फिर उससे उत्पन्न होने वाली हानि को अवकाश कहाँ है? फ्रायड विशुद्ध भौतिकवादी या देहमनोवादी थे। वे मानव को मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का केवल पुतला मानते थे। उनके मन और मस्तिष्क में आध्यात्मिक उच्च स्वरूप की कल्पना नहीं थी, अतः वे यह स्वीकार नहीं कर सकते थे कि इच्छायें कभी समाप्त भी हो सकती हैं। उनका यह अभिमत था—मानव सागर में प्रतिपल प्रतिक्षण इच्छायें समुत्पन्न होती हैं और उन इच्छाओं की तृप्ति आवश्यक है। पर भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने यह उद्घोषणा की कि इच्छायें आत्मा का स्वरूप नहीं, विकृति स्वरूप हैं। वह मोहजनित हैं। इसलिए विराग से उन्हें नष्ट करना—निर्मूल बना देना सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए हितकर है। ऐसा करने से ही सच्ची—स्वाभाविक शांति उत्पन्न हो सकती है।

जैन आचारशास्त्र में दमन का भी यत्र-तत्र विधान हुआ है। "देहदुक्खं महाफलं" के स्वर झंकृत हुए हैं। संयम, संवर और निर्जरा का विधान है। वहाँ 'शम' और 'दम' दोनों आये हैं। शम का सम्बन्ध विषय-विराग से है और दम का सम्बन्ध इन्द्रिय-निग्रह से है। दूसरे शब्दों में शम और दम के स्थान पर मनोविजय और इन्द्रिय-विजय अथवा कषाय-विजय और इन्द्रिय-विजय शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। स्वामी कुमार ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा[४७] में "मण-इंदियाण विजई" और "इंदिय-कसायविजई" शब्दों का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है, मनोविजय और इन्द्रियनिग्रह अथवा 'कषायविजय' और 'इन्द्रियनिग्रह' निर्जरा के लिए आवश्यक है। दमन का विधान इन्द्रियों के लिए है और मनोगत विषय-वासना के लिए शम और विरक्ति पर बल दिया है। जब मन विषय-विरक्त हो जायेगा तो इच्छाएं स्वतः समाप्त हो जायेंगी। विषय के प्रति जो अनुरक्ति है,

---

४७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-गाथा, ११२-११४

वह ज्ञान से नष्ट होती है और इन्द्रियाँ, जो स्नायविक हैं, उन्हें अभ्यास से बदलना चाहिए। यदि वे विकारों में प्रवृत्त होती हों तो वैराग्यभावना से उनका निरोध करना चाहिए! दमन शब्द खतरनाक नहीं है। व्यसनजन्य इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रिय-दमन आवश्यक है। इन्द्रिय-दमन का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट करना नहीं अपितु दृढ़ संकल्प से इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति को रोकना है। यह आत्मपरिणाम दृढ़ संकल्प रूप होता है। व्यसनजन्य इच्छाओं का दमन हानिकारक नहीं किन्तु स्वस्थता के लिए आवश्यक है। इच्छायें प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक हैं। यह दमन प्रकृतिविरुद्ध नहीं किन्तु प्रकृतिसंगत है। इन्द्रियों की खतरनाक प्रवृत्ति को रोकना इन्द्रियानुशासन है और यह जैन दृष्टि से तप का सही उद्देश्य है। इसीलिए जैन दृष्टि से आगम-साहित्य में बाह्य और आभ्यन्तर तप का उल्लेख किया है। आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप कभी-कभी ताप बन जाता है। जैनदर्शन के तप की यह अपूर्व विशेषता प्रस्तुत आगम में विस्तार के साथ प्रतिपादित की गई है।

वैदिक साधना पद्धति के सम्बन्ध में यदि हम चिन्तन करें तो यह स्पष्ट होगा, वह प्रारम्भ में तप-प्रधान नहीं थी। श्रमण संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित होकर उसमें भी तप के स्वर मुखरित हुए और वैदिक ऋषियों की हृत्तंत्रियाँ झंकृत हुईं। तप से ही वेद उत्पन्न हुए हैं।[५८] तप से ही ऋत और सत्य समुत्पन्न हुए हैं।[५९] तप से ही ब्रह्म को खोजा जाता है।[६०] तप से ही मृत्यु पर विजय-वैजयन्ती फहरा कर ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है।[६१] जो कुछ भी दुर्लभ और दुष्कर है, वह सभी तप से साध्य है।[६२] तप की शक्ति दुरतिक्रम है। तप का लक्ष्य आत्मा या ब्रह्म की उपलब्धि है। तप से ब्रह्म की अन्वेषणा की जा सकती है।[६३] तप से ही ब्रह्म को जानो![६४] यह आत्मा तप और सत्य के द्वारा ही जाना जा सकता है।[६५] महर्षि पतंजलि के शब्दों में कहा जाए तो तप से अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।[६६]

जिस प्रकार जैन साधना पद्धति में बाह्य और आभ्यन्तर-ये दो तप के प्रकार बताये हैं, वैसे ही गीता में भी तप का वर्गीकरण किया गया है। स्वरूप की दृष्टि से तप के १. शारीरिक तप २. वाचिक तप और ३. मानसिक तप—ये भेद प्रतिपादित किये हैं।[६७] शारीरिक तप से तात्पर्य है—देव, द्विज, गुरुजन और ज्ञानी जनों का सत्कार करना। शरीर को आचरण से पवित्र बनाना, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना, यह शारीरिक तप है। वाचिक तप है—क्रोध का अभाव, प्रिय, हितकारी और यथार्थ संभाषण, स्वाध्याय और अध्ययन आदि। मानसिक तप वह है, जिसमें मन की प्रसन्नता, शांतता, मौन और मनोनिग्रह से भाव की शुद्धि हो।

---

५८. तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे। —मनुस्मृति ११, १४३.
५९. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। —ऋग्वेद १०, १९०, १.
६०. तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डक—१, १, ८.
६१. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —वेद
६२. यद् दुस्तरं यद्दुरापं दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम्॥ —मनुस्मृति—११/२३७.
६३. तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डकोपनिषद्—१. १. ८.
६४. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। —तैत्तरीयोपनिषद्-३. २. ३. ४.
६५. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। —मुण्डक—३. १. ५.
६६. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षया तपसः। —४३ साधनपाद—योगसूत्र
६७. गीता—अध्याय-१७, श्लो. १४, १५, १६.

जो तप श्रद्धापूर्वक, फल की आकांक्षा रहित होकर किया जाता है, वही सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप सत्कार, मान, प्रतिष्ठा के लिए अथवा प्रदर्शन के लिए किया जाता है, वह राजस तप है। जो तप अज्ञानतापूर्वक अपने आपको भी कष्ट देता है और दूसरों को भी दुःखी करता है, वह तामस तप है।[६८]

प्रस्तुत आगम में तप का जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें और गीता के वर्गीकरण में यही मुख्य अन्तर है कि गीताकार ने अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, आर्जव, प्रभृति को तप के अन्तर्गत माना है, जबकि जैन दृष्टि से वे महाव्रत और श्रमणधर्म के अन्तर्गत आते हैं। गीता में जैनधर्म-मान्य बाह्य तपों पर चिन्तन नहीं हुआ है और आभ्यन्तर तप में से केवल स्वाध्याय को तप की कोटि में रखा है। ध्यान और कायोत्सर्ग को योग साधना के अन्तर्गत लिया है। वैयावृत्य, विनय आदि को गुण माना है और प्रायश्चित्त का वर्णन शरणागति के रूप में हुआ है।[६९] महानारायणोपनिषद् में अनशन तप का महत्त्व यहाँ तक प्रतिपादित किया गया है कि अनशन तप से बढ़कर कोई तप नहीं है,[७०] जबकि गीताकार ने अवमोदर्य तप को अनशन से भी अधिक श्रेष्ठ माना है। उसका यह स्पष्ट अभिमत है—योग अधिक भोजन करने वालों के लिए सम्भव नहीं है और न निराहार रहने वालों के लिए सम्भव है किन्तु जो युक्त आहार-विहार करता है, उसी के लिए योग-साधन सरल है।[७१]

बौद्ध साधना पद्धति में भी तप का विधान है। वहाँ तप का अर्थ प्रतिपल-प्रतिक्षण चित्त शुद्धि का प्रयास करना है। महामंगलसुत्त में तथागत बुद्ध ने कहा—तप ब्रह्मचर्य आर्य सत्यों का दर्शन है और निर्वाण का साक्षात्कार है। यह उत्तम मंगल है।[७२] काशीभारद्वाजसुत्त में तथागत ने कहा—मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ। उस पर तप की वृष्टि होती है। तन और वचन में संयम रखता हूँ। आहार को नियमित कर सत्य के द्वारा मन के दोषों का परिष्कार करता हूँ। दिट्ठिवज्जसुत्त में उन्होंने कहा—किसी तप या व्रतों को ग्रहण करने से कुशल धर्मों की वृद्धि हो जायेगी और अकुशल धर्मों की हानि होगी। अतः तप अवश्य करना चाहिए।[७३] बुद्ध ने अपने आपको तपस्वी कहा। उनके साधना-काल का वर्णन और पूर्व जन्मों के वर्णन में उत्कृष्ट तप का उल्लेख हुआ है। उन्होंने सारिपुत्त के सामने अपनी उग्र तपस्या का निरूपण किया।[७४] सम्राट् बिम्बिसार से कहा—मैं अब तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ। मेरा मन उस साधना में रमता है।[७५] यह पूर्ण सत्य है कि बुद्ध अज्ञानयुक्त केवल देह-दण्ड को निर्वाण के लिए उपयोगी नहीं मानते थे। ज्ञानयुक्त तप को ही उन्होंने महत्त्व दिया था। डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है—बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की, तथापि यह आश्चर्य है कि बौद्ध श्रमणों का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित अनुशासन [तपश्चर्या] से कम कठोर नहीं है। यद्यपि शुद्ध सैद्धांतिक दृष्टि से वे निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी सम्भव मानते हैं, फिर भी व्यवहार में तप उनके अनुसार आवश्यक सा प्रतीत होता है।[७६]

---

६८. गीता—अध्याय-१७, श्लो. १७, १८, १९.
६९. भारतीय संस्कृति में तप साधना, ले. डॉ. सागरमल जैन
७०. तपः नानशनात्परम्। —महानारायणोपनिषद्. २१, २.
७१. गीता, ७, श्लो. १६-१७
७२. महामंगलसुत्त—सुत्तनिपात, १६-१०.
७३. अंगुत्तरनिकाय—दिट्ठवज्ज सुत्त
७४. मज्झिमनिकाय—महासिहनाद सुत्त
७५. सुत्तनिपात पवज्जा सुत्त-२७।२०,
७६. Indian Philosophy, by–Dr. Radhakrishnan, Vol 1. P. 436

बौद्ध दृष्टि से तप का उद्देश्य है —अकुशल कर्मों को नष्ट करना। तथागत बुद्ध ने सिंह सेनापति को कहा—हे सिंह ! एक पर्याय इस प्रकार का है, जिससे सत्यवादी मानव मुझे तपस्वी कह सकें। वह पर्याय है—पाप-कारक अकुशल धर्मों को तपाया जाये, जिससे पापकारक अकुशल धर्म गल जायें, नष्ट हो जायें और वे पुनः उत्पन्न नहीं हों।[७७]

जैनधर्म की तरह बौद्धधर्म में तप का जैसा चाहिए वैसा वर्गीकरण नहीं है। मज्झिमनिकाय में मानव के चार प्रकार बताये हैं जैसे—१. जो आत्म-तप हैं पर पर-तप नहीं हैं। इस समूह में कठोर तप करने वाले तपस्वियों का समावेश होता है। जो अपने आप को कष्ट देते हैं पर दूसरों को नहीं। २. जो पर-तप हैं किन्तु आत्म-तप नहीं हैं। इस समूह में वे हिंसक, जो पशुबलि देते हैं, आते हैं। वे दूसरों को कष्ट देते हैं, स्वयं को नहीं। ३. जो आत्म-तप भी है और पर-तप भी है। वे लोग जो स्वयं भी कष्ट सहन करते हैं और दूसरे व्यक्तियों को भी कष्ट प्रदान करते हैं। इस समूह में वे व्यक्ति आते हैं, जो तप के साथ यज्ञ-याग किया करते हैं। ४. जो आत्म-तप भी नहीं है और पर-तप भी नहीं है, ये वे लोग हैं, जो स्वयं को कष्ट नहीं देते और न दूसरों को ही कष्ट देते हैं। यह चतुर्भंगी स्थानांग की तरह है। इसमें वस्तुतः तप का वर्गीकरण नहीं हुआ है।

तथागत बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को अतिभोजन करने का निषेध किया था। केवल एक समय भोजन की अनुमति प्रदान की थी। रसासक्ति का भी निषेध किया था। विविध आसनों का भी विधान किया था। भिक्षाचर्या का भी विधान किया था। जो भिक्षु जंगल में निवास करते हैं, वृक्ष के नीचे ठहरते हैं, श्मशान में रहते हैं, उन धुतंग भिक्षुओं की बुद्ध ने प्रशंसा की। प्रवारणा [प्रायश्चित्त], विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग—इन सभी को जीवन में आचरण करने की बुद्ध ने प्रेरणा दी। किन्तु बुद्ध मध्यममार्गी विचारधारा के थे, इसलिए जैन तप-विधि में जो कठोरता है, उसका उसमें अभाव है, उनकी साधना सरलता को लिये हुए है।

हमने यहाँ संक्षेप में वैदिक और बौद्ध तप के सम्बन्ध में चिन्तन किया है, जिससे आगम-साहित्य में आये हुए तप की तुलना सहज हो सकती है। वस्तुतः प्रस्तुत आगम में आया हुआ तपो-वर्णन अपने आप में मौलिकता और विलक्षणता को लिये हुए है।

भगवान् महावीर के समवसरण में भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—ये चारों प्रकार के देव उपस्थित होते थे। उन देवों के वर्णन में नानाप्रकार के आभूषण, वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। यह वर्णन, जो शोधार्थी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए बहुत ही उपयोगी है। वस्त्र-निर्माण की कला में भारतीय कलाकार अत्यन्त दक्ष थे, यह भी इस वर्णन से परिज्ञात होता है। विस्तार-भय से हम यहाँ उस पर चिन्तन न कर मूल ग्रन्थ को ही देखने की प्रबुद्ध पाठकों को प्रेरणा देते हैं।

साथ ही कूणिक राजा का भगवान् को वन्दन करने के लिये जाने का वर्णन पठनीय है। इस वर्णन में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य रहे हुए हैं। भगवान् महावीर की धर्मदेशना भी इसमें विस्तार के साथ आई है। यों धर्म-देशना में सम्पूर्ण जैन आचार मार्ग का प्ररूपण हुआ है। श्रमणाचार और श्रावकाचार का विश्लेषण हुआ है। उसके पश्चात् गणधर गौतम की विविध जिज्ञासायें हैं। पापकर्म का अनुबन्धन कैसे होता है ? और किस प्रकार के आचार-विचार वाला जीव मृत्यु के पश्चात् कहाँ पर (किस योनि में) उत्पन्न होता है ? यह उपपात-वर्णन प्रस्तुत आगम का हार्द है। और इसी आधार पर प्रस्तुत आगम का नामकरण हुआ है। यह वर्णन ज्ञानवर्धन के साथ

---

७७. बुद्धलीलासारसंग्रह—पृ. २८०/२८१.

दिलचस्प भी है। इसमें वैदिक और श्रमण परम्परा के अनेक परिव्राजकों, तापसों व श्रमणों का उल्लेख है। उनकी आचार संहिता भी संक्षेप में दी गई है।

उन परिव्राजकों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है—

१. **गौतम**—ये अपने पास एक नन्हा सा बैल रखते थे, जिसके गले में कौड़ियों की माला होती, जो संकेत से अन्य व्यक्तियों के चरण स्पर्श करता। इस बैल को साथ रख कर यह साधु भिक्षा मांगा करते थे। अंगुत्तरनिकाय में भी इस प्रकार के साधुओं का उल्लेख है।[७८]

२. **गोव्रतिक**—गोव्रत रखने वाले। गाय के साथ ही ये परिभ्रमण करते। जब गाय गाँव से बाहर जाती तो ये भी उसके साथ जाते। गाय चारा चरती तो ये भी चरते और गाय के पानी पीने पर ये भी पानी पीते। जब गाय सोती तो ये सोते। गाय की भाँति ही घास और पत्तों का ये आहार करते थे। मज्झिमनिकाय[७९] और ललितविस्तर[८०] प्रभृति ग्रन्थों में भी इन गोव्रतिक साधुओं का उल्लेख मिलता है।

३. **गृहिधर्म**—ये अतिथि, देव आदि को दान देकर परम आह्लादित होते थे और अपने आपको गृहस्थ धर्म का सही रूप से पालन करने वाला मानते थे।

४. **धर्मचिन्तक**—ये धर्म-शास्त्र के पठन और चिन्तन में तल्लीन रहते थे। अनुयोगद्वार[८१] की टीका में याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषियों द्वारा निर्मित धर्म-संहिताओं का चिन्तन करने वालों को धर्म-चिन्तक कहा है।

५. **अविरुद्ध**—देवता, राजा, माता-पिता, पशु और पक्षियों की समान रूप से भक्ति करने वाले अविरुद्ध साधु कहलाते थे। ये सभी को नमस्कार करते थे, इसलिए विनयवादी भी कहलाते थे। आवश्यकनिर्युक्ति[८२], आवश्यकचूर्णि[८३], में इनका उल्लेख है। भगवतीसूत्र के अनुसार[८४] ताम्रलिप्ति के मौर्य-पुत्र तामलि ने यही प्रणामा-प्रव्रज्या ग्रहण की थी। अंगुत्तरनिकाय[८५] में भी अविरुद्धकों का वर्णन है।

६. **विरुद्ध**—ये पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक नहीं मानते थे। ये अक्रियावादी थे।

७. **वृद्ध**—तापस लोग प्रायः वृद्धावस्था में संन्यास लेते थे। इसलिए ये वृद्ध कहलाते थे। औपपातिक[८६]

---

७८. अंगुत्तरनिकाय-३, पृ. ७२६
७९. मज्झिमनिकाय-३, पृ. ३८७.
८०. ललितविस्तर, पृ. २४८.
८१. अनुयोगद्वार सूत्र, २०.
८२. आवश्यकनिर्युक्ति, ४९४.
८३. आवश्यकचूर्णि, पृ. २९८.
८४. भगवती सूत्र, ३।१.
८५. अंगुत्तरनिकाय-३, पृ. २७६.
८६. वृद्धाः तापसा वृद्धकाल एव दीक्षाभ्युपगमात्, आदि देवकालोत्पन्नत्वेन च सकललिङ्गिनामाद्यत्वात, श्रावका-धर्मशास्त्रश्रवणाद् ब्राह्मणाः अथवा वृद्धश्रावका ब्राह्मणाः। —औपपातिक सूत्र ३८ वृ.

की टीका के अनुसार वृद्ध अर्थात् तापस, श्रावक अर्थात् ब्राह्मण। तापसों को वृद्ध इसलिए कहा गया है कि समग्र तीर्थिकों की उत्पत्ति भगवान् ऋषभदेव की प्रव्रज्या के पश्चात् हुई थी। उनमें सर्वप्रथम तापस-सांख्यों का प्रादुर्भाव हुआ था, अतः वे वृद्ध कहलाये। श्रमण भगवान् महावीर के समय तीन सौ तिरेसठ पाखण्ड-मत प्रचलित थे। उन्हीं अन्य तीर्थों या तैर्थिकों में वृद्ध श्रावक शब्द भी व्यवहृत हुआ है।[८७] ज्ञाताधर्मकथा[८८] एवं अंगुत्तरनिकाय[८९] में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। अनुयोगद्वार[९०] की टीका में भी वृद्ध का अर्थ तापस किया है। कहीं पर 'वृद्धश्रावक' यह शब्द एक कर दिया गया है और कहीं पर दोनों को पृथक्-पृथक् किया गया है। हमारी दृष्टि से दोनों को पृथक् करने की आवश्यकता नहीं है। वृद्धश्रावक का अर्थ ब्राह्मण उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ पर वृद्ध और श्रावक शब्द जैन परम्परा से सम्बन्धित नहीं है। यह तो ब्राह्मणों का ही वाचक है।

८. **श्रावक**—धर्म-शास्त्रों को श्रवण करने वाला ब्राह्मण।[९१]

ये आठों प्रकार के साधु दूध-दही, मक्खन-घृत, तेल, गुड़, मधु, मद्य और मांस का भक्षण नहीं करते थे। केवल सरसों का तेल उपयोग में लेते थे।

गंगातट निवासी वानप्रस्थी तापस

९. **होत्तिय**—अग्निहोत्र करने वाले तापस।
१०. **पोत्तिय**—वस्त्रधारी।
११. **कोत्तिय**—भूमि पर सोने वाले।
१२. **जण्णई**—यज्ञ करने वाले।
१३. **सड्ढई**—श्रद्धाशील।
१४. **थालई**—सब सामान लेकर चलने वाले।
१५. **हुंबउट्ठ**—कुण्डी लेकर चलने वाले।
१६. **दंतुक्खलिय**—दांतों से चबाकर खाने वाले। इसका उल्लेख रामायण[९२] में प्राप्त है। दीघनिकाय[९३] अट्ठकथा में भी इस सम्बन्ध में उल्लेख है।
१७. **उम्मज्जक**—उन्मज्जन मात्र से स्नान करने वाले।[९४] अर्थात् कानों तक पानी में जाकर स्नान करने वाले।

---

८७. अण्णतीर्थिकाश्चरक-परिव्राजक-शाक्याजीवक-वृद्धश्रावकप्रभृतयः।
—निशीथ सभाष्यचूर्णि, भाग-२, पृ. ११८.

८८. ज्ञाताधर्मकथा, अध्य. १५ वां, सू. १.

८९. अंगुत्तरनिकाय—हिन्दी अनुवाद भाग २, पृ. ४५२.

९०. अनुयोगद्वार सूत्र-२० की टीका।

९१. देखिए विस्तार के साथ ज्ञातासूत्र प्रस्तावना पृ. ३७. —देवेन्द्रमुनि

९२. रामायण-३।६।३.

९३. दीघनिकाय अट्ठकथा १, पृ. २७०।

९४. कर्णदघ्ने जले स्थित्वा, तपः कुर्वन् प्रवर्तते।
उन्मज्जकः स विज्ञेयस्तापसो लोकपूजितः॥ —अभिधानवाचस्पति

१८ **सम्मज्जक**—अनेक बार उन्मज्जन करके स्नान करने वाले।

१९. **निमज्जक**—स्नान करते समय कुछ क्षणों के लिए जल में डूबे रहने वाले।

२०. **सम्पक्षाल**—शरीर पर मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले।

२१. **दक्खिणकूलग**—गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।

२२. **उत्तरकूलग**—गंगा के उत्तर तट पर रहने वाले।

२३. **संखधमक**—शंख बजाकर भोजन करने वाले। वे शंख इसलिए बजाते थे कि अन्य व्यक्ति भोजन करते समय न आयें।

२४. **कूलधमक**—किनारे पर खड़े होकर उच्च स्वर करते हुए भोजन करने वाले।

२५. **मियलुद्धक**—पशु-पक्षियों का शिकार कर भोजन करने वाले।

२६. **हत्थीतावस**—जो हाथी को मारकर बहुत समय तक उसका भक्षण करते थे। इन तपस्वियों का यह अभिमत था कि एक हाथी को एक वर्ष या छह महीने में मार कर हम केवल एक ही जीव का वध करते हैं, अन्य जीवों को मारने के पाप से बच जाते हैं। टीकाकार के अभिमतानुसार हस्तीतापस बौद्ध भिक्षु थे।[९५] ललितविस्तर में हस्तीव्रत तापसों का उल्लेख है।[९६*] महावग्ग में भी दुर्भिक्ष के समय हाथी आदि के मांस खाने का उल्लेख मिलता है।[९६†]

२७. **उड्ढडंक**—दण्ड को ऊपर उठाकर चलने वाले। आचारांग चूर्णि[९७] में उड्ढडंक, बोड़िय, और सरक्ख आदि साधुओं के साथ उसकी परिगणना की है। ये साधु केवल शरीर मात्र परिग्रही थे। पाणिपुट में ही भोजन किया करते थे।

२८. **दिसापोक्खी**—जल से दिशाओं का सिंचन कर पुष्प-फल आदि बटोरने वाले। भगवती सूत्र[९८] में हस्तिनापुर के शिवराजर्षि का उपाख्यान है। उन्होंने दिशा-प्रोक्षक तपस्वियों के निकट दीक्षा ग्रहण की थी। वाराणसी का सोमिल ब्राह्मण तपस्वी भी चार दिशाओं का अर्चक था।[९९] आवश्यकचूर्णि[१००] के अनुसार राजा प्रसन्नचन्द्र अपनी महारानी के साथ दिशा-प्रोक्षकों के धर्म में दीक्षित हुआ था। वसुदेवहिंडी[१०१] और दीघनिकाय[१०२] में भी दिसापोक्खी तापसों का वर्णन है।

२९. **वक्कवासी**—वल्कल के वस्त्र पहनने वाले।

---

९५. सूत्रकृतांग टीका, २।६.

९६.* ललितविस्तर, पृ. २४८.

९६.† महावग्ग-६।१०।२२. पृ. २३५.

९७. आचारांग चूर्णि-५, पृ. १६९.

९८. भगवती सूत्र-११।९.

९९. निरयावलिका-३, पृ. ३७-४०.

१००. आवश्यकचूर्णि, पृ. ४५७.

१०१. वसुदेवहिंडी, पृ. १७.

१०२. दीघनिकाय, सिगालोववादसुत्त

३०. **अम्बुवासी** – जल में रहने वाले।

३१. **बिलवासी**—बिलों में रहने वाले।

३२. **जलवासी**—जल में निमग्न होकर बैठने वाले।

३३. **वेलवासी**—समुद्र के किनारे रहने वाले।

३४. **रुक्खमूलिया**—वृक्षों के नीचे रहने वाले।

३५. **अम्बुभक्खी**—जल भक्षण करने वाले।

३६. **वाउभक्खी**—वायु पीकर रहने वाले। रामायण[१०३] में मण्डकरनी नामक तापस का उल्लेख है, जो केवल वायु पर जीवित रहता था। महाभारत[१०४] में भी वायुभक्षी तापसों के उल्लेख मिलते हैं।

३७. **सेवालभक्खी**—केवल शैवाल को खाकर जीवन-यापन करने वाले। ललितविस्तर[१०५] में भी इस सम्बन्ध में वर्णन मिलता है।

मार्गदर्शक :- आचार्यश्री जी महाराज

इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के तापस थे, जो मूल, कंद, छाल, पत्र, पुष्प और बीज का सेवन करते थे। और कितने ही सड़े गले हुए मूल, कन्द, छाल, पत्र आदि द्वारा अपना जीवन-यापन करते थे। दीघनिकाय[१०६] आदि में भी इस प्रकार के वर्णन हैं। इनमें से अनेक तापस पुनः-पुनः स्नान किया करते थे, जिससे इनका शरीर पीला पड़ जाता था। ये गंगा के किनारे रहते थे और वानप्रस्थाश्रम का पालन करते थे। ये तपस्वीगण एकाकी न रह कर समूह के साथ रहते थे। कोडिन्नदिन्न और सेवालि नाम के कितने ही तापस तो पाँच सौ-पाँच सौ तापसों के साथ रहते थे। ये गले सड़े हुए कन्द-मूल, पत्र और शेवाल का भक्षण करते थे। उत्तराध्ययन[१०७] टीका में वर्णन है कि ये तापसगण अष्टापद की यात्रा करने जाते थे।

वन-वासी साधु तापस कहलाते थे।[१०८] ये जंगलों में आश्रम बनाकर रहते थे। यज्ञ-याग करते, पंचाग्नि द्वारा अपने शरीर को कष्ट देते। इनका बहुत सारा समय कन्द-मूल और वन के फलों को एकत्रित करने में व्यतीत होता था। व्यवहारभाष्य[१०९] में यह भी वर्णन है कि ये तापस-गण ओखली और खलिहान के सन्निकट पड़े हुए धानों को बीनते और उन्हें स्वयं पकाकर खाते। कितनी बार एक चम्मच में आये, उतना ही आहार करते या धान्य-राशि पर वे वस्त्र फेंकते और जो अन्न कण उस वस्त्र पर लग जाते, उन्हीं से वे अपने उदर का पोषण करते थे।

प्रव्रजित श्रमण

परिव्राजक श्रमण ब्राह्मण-धर्म के लब्धप्रतिष्ठित पण्डित थे। वशिष्ठ धर्म-सूत्र के अनुसार वे सिर मुण्डन कराते थे। एक वस्त्र या चर्मखण्ड धारण करते थे। गायों द्वारा उखाड़ी हुई घास से अपने शरीर को ढँकते थे

---

१०३. रामायण-३-११/१२.

१०४. महाभारत, १।९६/४२.

१०५. ललितविस्तर, पृ. २४८.

१०६. दीघनिकाय, १, अम्बट्ठसुत्त, पृ. ८८.

१०७. उत्तराध्ययन टीका, १०. पृ. १५४. अ.

१०८. निशीथचूर्णि-१३/४४०२ की चूर्णि

१०९. (क) व्यवहारभाष्य— १०/२३-२५.
(ख) मूलाचार—५-५४.

और जमीन पर सोते थे।[110] ये आचार-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र पर विचार, चर्चा करने के लिए भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण करते थे। वे षडंगों के ज्ञाता होते थे। उन परिव्राजकों में कितने ही परिव्राजकों का परिचय इस प्रकार है—

३८. **संखा**—सांख्य मत के अनुयायी।

३९. **जोई**—योगी, जो अनुष्ठान पर बल देते थे।

४०. **कपिल**—निरीश्वरवादी सांख्या, जो ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता नहीं मानते थे।

४१. **भिउच्च**—भृगु ऋषि के अनुयायी।

४२. **हंस**—जो पर्वत की गुफाओं में, रास्तों में, आश्रमों में, देवकुलों और आरामों में रह कर केवल भिक्षा के लिए गाँव में प्रवेश करते थे। षड्दर्शनसमुच्चय[111] और रिलीजन्स ऑव दी हिन्दूज[112] में भी इनका उल्लेख आया है।

४३. **परमहंस**—जो सरिता के तट पर या सरिता के संगम-प्रदेशों में रहते और जीवन की सांध्य वेला में चीर, कोपीन, कुश आदि का परित्याग कर प्राणों का विसर्जन करते थे।

४४. **बहुउदय**—जो गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात रहते हों।

४५. **कुडिव्वय**—जो घर में रहते हों तथा क्रोध, लोभ और मोह रहित होकर अहंकार आदि का परित्याग करने में प्रयत्नशील हों।

४६. **कण्हपरिव्वायग**—कृष्ण परिव्राजक अर्थात् नारायण के परम भक्त।

ब्राह्मण परिव्राजक

४७. **कण्डु**—अथवा कण्ण।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

४८. **करकण्डु**

४९. **अम्बड**—ऋषिभासित, थेरीगाथा[113] और महाभारत[114] में भी अम्बड परिव्राजकों के सम्बन्ध में उल्लेख है।

५०. **परासर**—सूत्रकृतांग[115] में परासर को शीत, उदक और बीज रहित फलों आदि के उपभोग से सिद्ध माना गया है। उत्तराध्ययन[116] की टीका में द्वीपायन परिव्राजक की कथा है। उसका पूर्व नाम परासर था।

---

११०. (क) वशिष्ठ धर्मसूत्र-१०-६।११.
(ख) डिक्सनरी ऑव पाली प्रौपर नेम्स, जिल्द २, पृ. १५९. मलालसेकर
(ग) महाभारत-१२।१९०।३.

१११. षड्दर्शनसमुच्चय पृ. ८

११२. रिलीजन्स ऑव दी हिन्दूज, जिल्द-१, पृ. २३१. —लेखक एच. एच. विल्सन

११३. थेरी गाथा-११६.

११४. महाभारत-१।११४।३५.

११५. सूत्रकृतांग-३।४।२।३, पृ. ९४-९५.

११६. उत्तराध्ययन टीका-२, पृ. ३९.

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

५१. कण्हदीवायण—कण्हदीवायण जातक[११७] और महाभारत[११८] में इनका उल्लेख है।

५२. देवगुप्त

५३. नारय—नारद।

क्षत्रिय परिव्राजक

५४. सेलई

५५. ससिहार [ससिहर अथवा मसिहार ?]

५६. णग्गई [नग्नजित्],

५७. भग्गई

५८. विदेह

५९. रायाराय

६०. रायाराम

६१. बल

ये परिव्राजक गण वेदों और वेदांगों में पूर्ण निष्णात थे। दान और शौच धर्म का उपदेश देते थे। इनका यह अभिमत था—जो पदार्थ अशुचि से सने हुए हैं, वे मिट्टी आदि से स्वच्छ हो जाते हैं। वैसे ही हम पवित्र आचार, निरवद्य व्यवहार से, अभिषेक-जल से अपने को पवित्र बना सकते हैं एवं स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। ये परिव्राजक नदी, तालाब, पुष्करणी प्रभृति जलाशयों में प्रवेश नहीं करते और न किसी वाहन का ही उपयोग करते। न किसी प्रकार का नृत्य आदि खेल देखते। वनस्पति आदि का उन्मूलन नहीं करते और न धातुओं के पात्रों का ही उपयोग करते। केवल मिट्टी, लकड़ी और तुम्बी के पात्रों का उपयोग करते थे। अन्य रंग-बिरंगे वस्त्रों का उपयोग न कर केवल गेरुए वस्त्र पहनते थे। अन्य किसी भी प्रकार के सुगन्धित लेपों का उपयोग न कर केवल गंगा की मिट्टी का उपयोग करते थे। ये निर्मल छाना हुआ और किसी के द्वारा दिया हुआ एक प्रस्थ जितना जल पीने के लिए ग्रहण करते थे।

अम्बड़ परिव्राजक और उनके सात सौ शिष्यों का उल्लेख प्रस्तुत आगम में हुआ है। जैन साहित्य के बृहत् इतिहास[११९] में तथा 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' ग्रन्थों में अम्बड़ परिव्राजक के सात शिष्य होना लिखा है पर वह ठीक नहीं है। मूल शास्त्र में 'सत्त अंतेवासीसयाइं' पाठ है। उसका अर्थ सात सौ अंतेवासी होता है, न कि सात। अम्बड़ परिव्राजक का वर्णन जैन साहित्य में दो स्थलों पर आया है—औपपातिक में और भगवती में। अम्बड़ परिव्राजक[१२०] नामक एक व्यक्ति का और उल्लेख है, जो आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होगा। औपपातिक में आये हुए अम्बड़ महाविदेह में मुक्त होंगे।[१२१] इसलिए दोनों पृथक्-पृथक् होने चाहिए।

११७. कण्हदीवायण जातक-४, पृ. ८३-८७.

११८. महाभारत-१।११४।४५.

११९. (क) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ. २५.
(ख) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ४१८. —डा. जगदीशचन्द जैन

१२०. स्थानांग, ९ वाँ सूत्र ६१.

१२१. (क) यश्चौपपातिकोपाङ्गे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभिधीयते सोऽन्य इति सम्भाव्यते।
—स्थानाग वृत्ति, पत्र-४३४

(ख) दीघनिकाय के अम्बट्ठसुत्त में अंबट्ठ नाम के एक पंडित ब्राह्मण का वर्णन है। निशीथचूर्णि पीठिका में महावीर अम्बट्ठ को धर्म में स्थिर करने के लिए राजगृह पधारे थे।
—निशीथ चू. पीठिका, पृ. २०

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

भीषण ग्रीष्म ऋतु में जल प्राप्त होने पर भी उन्हें कोई व्यक्ति देने वाला न होने से सात सौ शिष्यों ने अदत्त ग्रहण नहीं किया और संथारा कर शरीर का परित्याग किया। अम्बड़ और उसके शिष्य भगवान् महावीर के प्रति पूर्ण निष्ठावान् थे। अम्बड़ अवधिज्ञानी भी था। वह औद्देशिक, नैमित्तिक आहार आदि नहीं लेता था।

आजीवक श्रमण

६२. **दुघरंतरिया**—एक घर में भिक्षा ग्रहण कर उसके पश्चात् दो घरों से भिक्षा न लेकर तृतीय घर से भिक्षा लेने वाले।

६३. **तिघरंतरिया**—एक घर से भिक्षा ग्रहण कर तीन घर छोड़ कर भिक्षा लेने वाले।

६४. **सत्तघरंतरिया**—एक घर से भिक्षा ग्रहण कर सात घर छोड़ कर भिक्षा लेने वाले।

६५. **उप्पलबेंटिया**—कमल के डंठल खाकर रहने वाले।

६६. **घरसमुदाणिय**—प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करने वाले।

६७. **विज्जुअंतरिया**—बिजली गिरने के समय भिक्षा न लेने वाले।

६८. **उट्टियसमण**—किसी बड़े मिट्टी के बर्तन में बैठ कर तप करने वाले।

आजीवक मत का संस्थापक गोशालक था। भगवती सूत्र[१२२] के अनुसार वह महावीर के साथ दीर्घकाल तक रहा था। वह आठ महानिमित्तों का ज्ञाता था[१२३] और उसके श्रमण उग्र तपस्वी थे।[१२४]

अन्य श्रमण

६९. **अत्तुक्कोसिय**—आत्म-प्रशंसा करने वाले।

७०. **परिवाइय**—पर-निन्दा करने वाले। भगवती [१२५] में अवर्णवादी को किल्विषक कहा है।

७१. **भूइकम्मिय**—ज्वरग्रस्त लोगों को भूति [राख] देकर नीरोग करने वाले।

७२. **भुज्जो भुज्जो कोउयकारक**—बार-बार सौभाग्य वृद्धि के लिए कौतुक, स्नानादि करने वाले।

सात निह्नव

विचार का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना है विचार-भेद का इतिहास। विचार व्यक्ति की उपज है। वह संघ में रूढ होने के बाद संघीय कहलाता है। सुदीर्घकालीन परम्परा में विचार-भेद होना असम्भव नहीं है। जैन परम्परा में भी विचार-भेद हुए हैं। जो जैन धर्मसंघ से सर्वथा पृथक् हो गए, उन श्रमणों का यहाँ उल्लेख नहीं है। यहाँ केवल उनका उल्लेख है, जिनका किसी एक विषय में मत-भेद हुआ, जो भगवान् महावीर के शासन से पृथक् हुए, पर जिन्होंने अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया। इसलिए वे जैन-शासन के एक विषय के अपलाप करने वाले निह्नव कहलाये। वे सात हैं। उनमें से दो भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के बाद हुए और

---

१२२. भगवती सूत्र, शतक १५ वां

१२३. पंचकल्प चूर्णि

१२४. (क) स्थानांग—४।३०९

(ख) हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रीन्स आफ द आजीविकाज —ए. एल. बाशम

१२५. भगवती सूत्र, १।२.

शेष पांच निर्वाण के पश्चात् हुए।[१२६] इनका अस्तित्व-काल श्रमण भगवान् महावीर के कैवल्य प्राप्ति के चौदह वर्ष से निर्वाण के पश्चात् पांच सौ चौरासी वर्ष तक का है।[१२७]

१. **बहुरत**—भगवान् महावीर के कैवल्य प्रप्ति के चौदह वर्ष पश्चात् श्रावस्ती में बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई।[१२८] इसके प्ररूपक जमाली थे। बहुरतवादी कार्य की निष्पत्ति में दीर्घकाल की अपेक्षा मानते हैं। वह क्रियमाण को कृत नहीं मानते, अपितु वस्तु के पूर्ण निष्पन्न होने पर ही उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

२. **जीवप्रादेशिक**—भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात् ऋषभपुर[१२९] में जीव-प्रादेशिकवाद की उत्पत्ति हुई।[१३०] इसके प्रवर्त्तक तिष्यगुप्त थे। जीव के असंख्य प्रदेश हैं, परन्तु जीवप्रादेशिक मतानुसारी जीव के चरम प्रदेश को ही जीव मानते हैं, शेष प्रदेशों को नहीं।

३. **अव्यक्तिक**—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ चौदह वर्ष पश्चात् श्वेताम्बिका नगरी में अव्यक्तवाद की उत्पत्ति हुई।[१३१] इसके प्रवर्त्तक आचार्य आसाढ़ के शिष्य थे। अव्यक्तवादी ये शिष्य अनेक थे। अतएव उनके नामों का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। मात्र उनके पूर्वावस्था के गुरु का नामोल्लेख किया गया है। नवांगी टीकाकार ने भी इस आशय का संकेत किया है।[१३२]

मार्गदर्शक :- आचार्य

४. **समुच्छेदिक**—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ बीस वर्ष के पश्चात् मिथिलापुरी में समुच्छेदवाद की उत्पत्ति हुई।[१३३] इनके प्रवर्तक आचार्य अश्वमित्र थे। ये प्रत्येक पदार्थ का सम्पूर्ण विनाश मानते हैं, एवं एकान्त समुच्छेद का निरूपण करते हैं।

५. **द्वैक्रिय**—श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के दो सौ अट्ठाईस वर्ष पश्चात् उल्लुकातीर नगर

---

१२६. णाणुप्पत्तीय दुवे, उप्पण्णा णिव्वुए सेसा। —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-७८४.

१२७. चोद्दस सोलह सवासा, चोद्दस बीसुत्तरा य दोण्णिसया।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया उ चोयाला॥
पंचलया चुलसीया..... । —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-७८३-७८४.

१२८. चउदस वासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
तो बहुरयाण दिट्ठी सावत्थीए समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१२५.

१२९. ऋषभपुरं राजगृहस्याद्याह्वा। —आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, पत्र-१४३.

१३०. सोलसवासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स।
जीवपएसिअदिट्ठी उसभपुरम्मि समुप्पन्ना॥ —आवश्यकभाष्य गाथा, १२७.

१३१. चउदस दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
अव्वत्तगाण दिट्ठी, सेअबियाए समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१२९.

१३२. सोऽमव्यक्तमतधर्माचार्यो, न चायं तन्मतप्ररूपकत्वेन किन्तु प्रागवस्थायामिति। —स्थानांग वृत्ति, पत्र ३९१.

१३३. बीसा दो वाससया तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
सामुच्छेइअदिट्ठी, मिहिलपुरीए समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१३१.

में द्विक्रियावाद की उत्पत्ति हुई।[134] इसके प्रवर्तक आचार्य गंग थे। ये एक ही साथ दो क्रियाओं का अनुवेदन मानते हैं।

६. **त्रैराशिक**—श्रमण भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पांच सौ चवालीस वर्ष पश्चात् अन्तरंजिका नगरी में त्रैराशिक मत का प्रवर्तन हुआ।[135] इसके प्रवर्तक आचार्य रोहगुप्त [षडुलूक] थे। उन्होंने दो राशि के स्थान पर तीन राशियां मानी।

७. **अबद्धिक**—श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के पाँच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् दशपुर नगर में अबद्धिक मत का प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्तक आचार्य गोष्ठामाहिल थे।[136] इनका यह मन्तव्य था कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं किन्तु उनके साथ एकीभूत नहीं होते।

इन सात निह्नवों में जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल—ये तीनों अन्त समय तक अलग रहे। शेष चार निह्नव भगवान् महावीर के शासन में पुनः मिल गये।

इन सभी तापसों, परिव्राजकों और श्रमणों के मरण के पश्चात् विभिन्न पर्यायों में जन्मग्रहण करने के उल्लेख हैं। ये उल्लेख इस बात के द्योतक हैं कि कौन साधक कितना अधिक साधना-सम्पन्न है? जिसकी जितनी अधिक निर्मल साधना है, उतना ही वह अधिक उच्च देवलोक को प्राप्त होता है। कर्मों का पूर्ण क्षय होने पर मुक्ति होती है। इसलिए केवली समुद्घात का भी निरूपण है। केवली समुद्घात में आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं। इसकी तुलना मुण्डक उपनिषद् के 'सर्वगतः' से की जा सकती है।[137]

मुक्त आत्माओं की विग्रहगति नहीं होती, मुक्त होते समय साकारोपयोग होता है। सिद्धों की सादि अपर्यवसित स्थिति को द्योतित करने के लिए दग्ध बीज का उदाहरण दिया गया है। सिद्ध होने वाले जीव का संहनन, संस्थान, जघन्य-उत्कृष्ट अवगाहना, सिद्धों का निवास-स्थान, सर्वार्थसिद्ध विमान के ऊपरी भाग से ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी तल का अन्तर, ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी का आयाम, विष्कंभ, परिधि, मध्यभाग की मोटाई, उसके १२ नाम, उसका वर्ण, संस्थान, पौद्गलिक रचना, स्पर्श और उसकी अनुपम सुन्दरता का वर्णन किया गया है। ईषत् प्राग्भारा के उपरि तल से लोकान्त का अन्तर और कोश के छठे भाग में सिद्धों की अवस्थिति आदि बताई गई है।

अन्त में बाईस गाथाओं के द्वारा सिद्धों का वर्णन है। ये गाथायें सिद्धों के वर्णन को समझने में अत्यन्त उपयोगी हैं। इसमें भील-पुत्र के उदाहरण से सिद्धों के सुख को स्पष्ट किया गया है। यह उदाहरण बहुत ही हृदय-स्पर्शी है।

इस प्रकार यह आगम अपने आप में महत्त्वपूर्ण सामग्री लिये हुए है। नगर, चैत्य, राजा और रानियों का सांगोपांग वर्णन अन्य आगमों के लिए आधार रूप रहा है। चम्पा नगरी का आलंकारिक वर्णन प्राकृत-साहित्य के

---

१३४. अट्ठावीसा दो वाससया तइया सिद्धिगयस्स वीरस्स।
दो किरियाणं दिट्ठी उल्लुगतीरे समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१३३.

१३५. पंच सया चोयाला तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स।
पुरिमंतरंजियाए तेरासियदिट्ठी उप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१३५.

१३६. पंचसया चुलसीया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स।
अबद्धिगाण दिट्ठी दसपुरनयरे समुप्पन्ना॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१४१.

१३७. मुण्डक उपनिषद्—१।१।६

लिए स्रोत रूप में रहा है। ऐसा सूक्ष्म और पूर्ण वर्णन संस्कृत-साहित्य में भी कम देखने को मिलता है। संस्कृति और समाज की दृष्टि से तथा तत्काल में प्रचलित विभिन्न आत्मसाधना-पद्धतियों को समझने की दृष्टि से भी इस आगम का महत्त्व है। इसमें धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना हुई है।

भाषा की दृष्टि से प्रस्तुत आगम उपमा-बहुल, समास-बहुल और विशेषण-बहुल है। इसमें पहले प्रकरण की भाषा कठिन है तो दूसरे प्रकरण की भाषा बहुत ही सरल है। आगम के अन्त में तो बहुत ही सरल भाषा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रस्तुत आगम में आये हुए शब्दों के प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्रायः ज्यों के त्यों मिलते हैं। उदाहरण के रूप में प्रस्तुत आगम में घूसखोर के लिए प्रयुक्त "उक्कोडिय" जिसका संस्कृत रूप "उत्कोचक" है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में[१३८] भी इसी अर्थ में आया है।

औपपातिक में कूणिक राजा के प्रसंग में बताया गया है कि वह महेन्द्र और मलय पर्वत की तरह उन्नत कुल में समुत्पन्न हुआ था।[१३९] कौटिलीय अर्थशास्त्र में मलय और महेन्द्र पर्वत का वर्णन है। महेन्द्रपर्वत के मोती और मलय पर्वत के चन्दन-वृक्ष बहुत ही श्रेष्ठ होते हैं।[१४०]

औपपातिक में 'अर्गला' का नाम 'इन्द्रकील' आया है।[१४१] तो कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी अर्गला के अर्थ में इन्द्रकील शब्द प्रयुक्त है।[१४२]

इस तरह प्रस्तुत आगम में आये हुए अनेक शब्दों की तुलना कौटिल्य-अर्थशास्त्र से की जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत आगम की रचना उससे बहुत पहले हुई। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, प्रारम्भ की भाषा कठिन व समासयुक्त है तो बाद की भाषा सरल है। किन्तु विषय के अनुरूप भाषा कठिन और सरल होती है, इसलिए इसे दोनों अध्यायों को अलग-अलग समय की रचना मानना उपयुक्त नहीं है। हमारे अपने अभिमतानुसार यह सम्पूर्ण आगम एक ही समय की रचना है।

व्याख्या-साहित्य

औपपातिक सूत्र का विषय सरल होने के कारण इस पर निर्युक्ति, भाष्य या चूर्णि साहित्य की संरचना नहीं की गई, केवल नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने इस पर संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम टीका लिखी। यह टीका शब्दार्थ प्रधान है। टीका में सर्वप्रथम आचार्य ने भगवान् महावीर को नमस्कार किया है तथा औपपातिक का अर्थ करते हुए लिखा है कि उपपात का अर्थ है—देवों और नारकों में जन्म लेना व सिद्धि गमन करना। उपपात सम्बन्धी वर्णन होने से इस आगम का नाम 'औपपातिक' है।

टीका में नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विडम्बक, कथक, प्लवक, लासक, आख्यायक, प्रभृति अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक एवं प्रशासन विषयक शास्त्रीय शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया गया है। वृत्ति [टीका]

---

१३८. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण ४, अध्याय ४।१०.
१३९. औपपातिक
१४०. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ११।२.
१४१. औपपातिक
१४२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३।२६.

में अनेक पाठान्तर और मतान्तरों का भी संकेत है। वृत्ति के अन्त में अपने कुल और गुरु का नाम भी निर्दिष्ट किया है। यह भी लिखा है, इस वृत्ति का संशोधन अणहिलपाटक नगर में द्रोणाचार्य ने किया।[१४३]

प्रस्तुत आगम किस अंग का उपांग है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए टीका में आचार्य अभयदेव ने लिखा है कि आचारांग का प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा है। उसका यह सूत्र है कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा? इस सूत्र में उपपात की चर्चा है, इसलिए यह आगम आचारांग का ही उपांग है।[१४४]

प्रस्तुत आगम अभयदेववृत्ति के साथ सर्वप्रथम सन् १८७५ में रायबहादुर धनपतसिंह ने कलकत्ता से प्रकाशित किया। उसके बाद १८८० में आगम संग्रह-कलकत्ता से और १९१६ में आगमोदय समिति-बम्बई से अभयदेववृत्ति के साथ प्रकट हुआ है। सन् १८८३ में प्रस्तावना आदि के साथ E. Leumann Lepizip, का प्रकाशन हुआ। आचार्य अमोलकऋषिजी ने हिन्दी अनुवाद सहित इसका संस्करण प्रकाशित किया। सन् १९६३ में मूल हिन्दी अनुवाद के साथ संस्कृति रक्षक, संघ, सैलाना से एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। १९५९ में जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से संस्कृत व्याख्या व हिन्दी गुजराती अनुवाद के साथ आचार्य श्री घासीलालजी म. ने संस्करण निकाला है। सन् १९३६ में इसका मात्र मूल पाठ छोटेलाल यति ने जीवन कार्यालय-अजमेर से और पुष्पभिक्षु ने सुत्तागमे के रूप में छपाया।

प्रस्तुत संस्करण और सम्पादन

इस प्रकार समय-समय पर अनेक संस्करण औपपातिक के प्रकाशित हुए हैं, किन्तु आधुनिक दृष्टि से शुद्ध मूल पाठ, प्रांजल भाषा में अनुवाद और आवश्यक स्थलों पर टिप्पण आदि के साथ अभिनव संस्करण की अत्यधिक माँग थी। उस माँग की पूर्ति श्रमण संघ के युवाचार्य महामहिम श्री मधुकरमुनिजी ने करने का भगीरथ कार्य अपने हाथ में लिया और अनेक मूर्धन्य मनीषियों के हार्दिक सहयोग से यह कार्य द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। प्रश्न-व्याकरण को छोड़ कर शेष दश अंग प्रायः प्रकाशित हो चुके हैं। भगवती जो विराट्काय आगम है, वह भी अनेक भागों में प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत आगम के साथ युवाचार्यश्री ने उपांग साहित्य को प्रकाशित करने का श्रीगणेश किया है। युवाचार्यश्री प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी हैं और साथ ही मेरे परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्रीपुष्करमुनिजी म. के अनन्य सहयोगी और साथी हैं। युवाचार्यश्री के प्रबल प्रयास से यह कार्य प्रगति पर है, यह प्रसन्नता है।

---

१४३. चन्द्रकुल विपुल भूतलयुगप्रवर वर्धमानकल्पतरोः।
कुसुमोपमस्य सूरेः गुणसौरभभरितभवनस्य ॥१॥
निस्सम्बन्ध विहारस्य, सर्वदा श्रीजिनेश्वराह्वस्य।
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणेयं, कृता वृत्तिः ॥२॥
अणहिलपाटक नगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण, संशोधिता चेयम् ॥३॥

१४४. इदं चोपाङ्गं वर्त्तते, आचारांगस्य हि प्रथममध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा, तस्याद्योद्देशके सूत्रमिदम् 'एवमेगेसिं नो नायं भवइ, अत्थि वा मे आया उववाइए, नत्थि वा मे आया उववाइए, के वा अहं आसी? के वा इह [अहं] च्चुए [इओ चुओ] पेच्चा इह भविस्सामि' इत्यादि, इह च सूत्रे यदौपपातिकत्वमात्मनो निर्दिष्टं तदिह प्रपञ्च्यत इत्यर्थतोऽङ्गस्य समीपभावेनेदमुपाङ्गम्। —औपपातिक अभयदेववृत्ति

प्रस्तुत आगम के सम्पादक डॉ. छगनलालजी शास्त्री हैं, जिन्होंने पहले उपासकदशांग का शानदार सम्पादन किया है। औपपातिक सूत्र के सम्पादन में भी उनकी प्रबल प्रतिभा यत्र-तत्र मुखरित हुई है। अनुवाद मूल विषय को स्पष्ट करने वाला है। जहाँ कहीं उन्होंने विवेचन किया है, उनके गम्भीर पाण्डित्य को प्रदर्शित कर रहा है। तथा सम्पादनकलामर्मज्ञ पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का गहन श्रम भी इसमें उजागर हुआ है।

मुझे पूर्ण विश्वास है—प्रस्तुत आगम जन-जन के अन्तर्मानस में त्याग-वैराग्य की ज्योति जागृत करेगा। भौतिकवाद की आंधी में स्व-स्वरूप को भूले हुए राहियों को यह सम्यक् बोध प्रदान करेगा। आगम में आये हुए कितने ही तथ्यों पर मैंने संक्षेप में चिन्तन किया है। जिज्ञासु प्रबुद्ध पाठकवर्ग प्रस्तुत आगम का स्वाध्याय कर विचार-मुक्ताओं को प्राप्त करें, यही मंगल मनीषा !

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक सिंहपोल
जोधपुर (राजस्थान)
दि. ४ अगस्त १९८२
रक्षाबन्धन

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
चम्पा नगरी	३	एकरात्रिक भिक्षुप्रतिमा	४१
पूर्णभद्र चैत्य	४	लघुमोक प्रतिमा	४१
वन-खण्ड	८	यवमध्यचन्द्र प्रतिमा	४१
पादप	८	स्थविरों के गुण	४२
अशोक वृक्ष	९	गुणसम्पन्न अनगार	४३
शिलापट्टक	१२	तप का विवेचन	४६
चम्पाधिपति कूणिक	१३	प्रतिसंलीनता	५५
राजमहिषी धारिणी	१४	योगप्रतिसंलीनता	५६
कूणिक का दरबार	१५	प्रायश्चित्त	५७
भगवान् महावीर : पदार्पण	१५	विनय-भेद-प्रभेद	५९
प्रवृत्तिव्यापृत द्वारा सूचना	१९	आचार्य	६०
कूणिक द्वारा भगवान् का परोक्ष वन्दन	२१	उपाध्याय	६१
भगवान् का चम्पा में आगमन	२३	स्थविर	६४
भगवान् के अन्तेवासी	२३	ध्यान	६९
ज्ञानी : शक्तिधर : तपस्वी	२४	व्युत्सर्ग	७५
रत्नावली तप	२७	अनगारों द्वारा उत्कृष्ट धर्मसाधना	८०
कनकावली तप	२८	भगवान् की सेवा में असुरकुमार देवों का आगमन	८२
एकावली तप	२९	शेष भवनवासी देवों का आगमन	८४
लघुसिंहनिष्क्रीडित तप	३०	व्यन्तरदेवों का आगमन	८७
महासिंहनिष्क्रीडित तप	३१	ज्योतिष्क देवों का आगमन	८८
भद्र प्रतिमा	३२	वैमानिक देवों का आगमन	८८
महाभद्र प्रतिमा	३३	जन-समुदाय द्वारा भगवान् का वन्दन	९०
सर्वतोभद्र प्रतिमा	३३	महाराज कूणिक को सूचना	९३
लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा	३३	दर्शन-वन्दन की तैयारी	९३
महासर्वतोभद्र प्रतिमा	३५	प्रस्थान	१००
आयंबिल वर्धमान	३६	दर्शन-लाभ	१०६
भिक्षुप्रतिमा	३८	रानियों का सपरिजन आगमन : वन्दन	१०७
अहोरात्रि भिक्षुप्रतिमा	४०	भगवान् द्वारा धर्म-देशना	१०८

विषय	पृष्ठ
परिषद्-विसर्जन	११४
इन्द्रभूति गौतम की जिज्ञासा	११६
पाप-कर्म का बन्ध	११७
एकान्तबाल : एकान्तसुप्त का उपपात	११८
क्लिशित-उपपात	११९
भद्रप्रकृति जनों का उपपात	१२२
परिक्लेश-बाधित नारियों का उपपात	१२३
द्विद्रव्यादिसेवी मनुष्यों का उपपात	१२४
वानप्रस्थों का उपपात	१२५
प्रव्रजित श्रमणों का उपपात	१२८
परिव्राजकों का उपपात	१२९
अम्बड परिव्राजक के सात सौ अन्तेवासी	१३६
चमत्कारी अम्बड परिव्राजक	१४१
अम्बड के उत्तरवर्ती भव	१४६
प्रत्यनीकों का उपपात	१५३
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्योनि जीवों का उपपात	१५४

विषय	पृष्ठ
आजीवकों का उपपात	१५४
आत्मोत्कर्षक प्रव्रजित श्रमणों का उपपात	१५५
निह्नवों का उपपात	१५५
अल्पारंभी आदि मनुष्यों का उपपात	१६०
अनारंभी श्रमण	१६२
सर्वकामादि विरत मनुष्यों का उपपात	१६५
केवलि-समुद्घात में कर्म-पुद्गलों का विस्तार	१६५
केवलि-समुद्घात का हेतु	१६७
समुद्घात का स्वरूप	१६८
समुद्घात के पश्चात् योग-प्रवृत्ति	१७०
योग-निरोध: सिद्धावस्था	१७१
सिद्धों का स्वरूप	१७३
सिद्धयमान के संहनन, संस्थान आदि	१७३
सिद्धों का परिवास	१७४
सिद्ध : सार संक्षेप	१७७
परिशिष्ट : गण और कुल संबंधी विशेष विचार	१८२

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

औपपातिकसूत्र

चम्पा नगरी

१—तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था—रिद्धत्थिमियसमिद्धा, पमुइयजणजाणवया, आइण्णजणमणूसा, हलसयसहस्ससंकिट्ठ-विकिट्ठ-लट्ठ-पण्णत्तसेउसीमा, कुक्कुडसंडेयगामपउरा, उच्छुजवसालिकलिया, गो-महिस-गवेलगप्पभूया, आयारवंत-चेइयजुवइविविहसण्णिविट्ठबहुला, उक्कोडियगायगंठिभेयग-भड-तक्कर-खंडरक्खरहिया, खेमा, णिरुवद्दवा, सुभिक्खा, वीसत्थसुहावासा, अणेगकोडिकुडुंबियाइण्णणिव्वुयसुहा, णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-मंख-लंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-अणेगतालायराणुचरिया, आरामुज्जाण-अगड-तलाग-दीहिय-वप्पिणगुणोववेया, नंदणवणसन्निभप्पगासा, उव्विद्धविउलगंभीरखायफलिहा, चक्क-गय-भुसुंढि-ओरोह-सयग्घि-जमलकवाड-घणदुप्पवेसा, धणुकुडिलवंकपागारपरिक्खित्ता, कविसीसगवट्टरइयसंठियविरायमाणा, अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-समुण्णयसुविभत्तरायमग्गा, छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला, विवणिविणिछित्तसिप्पियाइण्णणिव्वुयसुहा, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-पणियावण-विविहवत्थुपरिमंडिया, सुरम्मा, नरवइपविइण्णमहिवइपहा, अणेगवरतुरग-मत्तकुंजर-रहपहकर-सीय-संदमाणीआइण्णजाण-जुग्गा, विमउलणवणलिणिसोभियजला, पंडुरवरभवणसण्णिमहिया, उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा, पासादीया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा पडिरूवा।

१—उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में; उस समय—जब आर्य सुधर्मा विद्यमान थे, चम्पा नामक नगरी थी। वह वैभवशाली, सुरक्षित एवं समृद्ध थी। वहां के नागरिक और जनपद के अन्य भागों से आये व्यक्ति वहां आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन होने से प्रमुदित रहते थे। लोगों की वहाँ घनी आबादी थी। सैंकड़ों, हजारों हलों से जुती उसकी समीपवर्ती भूमि सहजतया सुन्दर मार्ग-सीमा सी लगती थी। वहाँ मुर्गों और युवा सांडों के बहुत से समूह थे। उसके आसपास की भूमि ईख, जौ और धान के पौधों से लहलहाती थी। वहाँ गायों, भैंसों, भेड़ों की प्रचुरता थी। वहाँ सुन्दर शिल्पकलायुक्त चैत्य और युवतियों के विविध सन्निवेशों—पण्य तरुणियों के पाड़ों—टोलों का बाहुल्य था। वह रिश्वतखोरों, गिरहकटों, बटमारों, चारों, खण्डरक्षकों—चुंगी वसूल करने वालों से रहित, सुख-शान्तिमय एवं उपद्रवशून्य थी। वहाँ भिक्षुकों को भिक्षा सुखपूर्वक प्राप्त होती थी, इसलिए वहाँ निवास करने में सब सुख मानते थे, आश्वस्त थे। अनेक श्रेणी के कौटुम्बिक—पारिवारिक लोगों की घनी बस्ती होते हुए भी वह शान्तिमय थी। नट—नाटक दिखाने वाले, नर्तक—नाचने वाले, जल्ल—कलाबाज—रस्सी आदि पर चढ़कर कला दिखाने वाले, मल्ल—पहलवान, मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विदूषक—मसखरे, कथक—कथा कहने वाले, प्लवक—उछलने या नदी आदि में तैरने का प्रदर्शन करने वाले, लासक—वीररस की गाथाएं या रास गाने वाले,

आख्यायक—शुभ अशुभ बताने वाले, लंख—बांस के सिरे पर खेल दिखाने वाले, मंख—चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वाले, तूणइल्ल—तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका कमाने वाले, तुंबवीणिक—तुंब-वीणा या पूंगी बजाने वाले, तालाचर—ताली बजाकर मनोविनोद करने वाले आदि अनेक जनों से वह सेवित थी। आराम—क्रीडावाटिका, उद्यान—बगीचे, कुएं, तालाब, बावड़ी, जल के छोटे-छोटे बांध—इनसे युक्त थी, नंदनवन-सी लगती थी। वह ऊंची, विस्तीर्ण और गहरी खाई से युक्त थी, चक्र, गदा, भुसुंडि—पत्थर फेंकने का एक विशेष अस्त्र—गोफिया, अवरोध—अन्तर-प्राकार—शत्रु सेना को रोकने के लिए परकोटे जैसा भीतरी सुदृढ़ आवरक साधन, शतघ्नी—महायष्टि या महाशिला, जिसके गिराये जाने पर सैकड़ों व्यक्ति दब-कुचल कर मर जाएं और द्वार के छिद्र रहित कपाटयुगल के कारण जहाँ प्रवेश कर पाना दुष्कर था। धनुष जैसे टेढ़े परकोटे से वह घिरी हुई थी। उस परकोटे पर गोल आकार के बने हुए कपिशीर्षकों—कंगूरों—भीतर से शत्रु-सैन्य को देखने आदि हेतु निर्मित बन्दर के मस्तक के आकार के छेदों—से वह सुशोभित थी। उसके राजमार्ग, अट्टालक—परकोटे के ऊपर निर्मित आश्रय-स्थानों—गुमटियों, चरिका—परकोटे के मध्य बने हुए आठ हाथ चौड़े मार्गों, परकोटे में बने हुए छोटे द्वारों—बारियों, गोपुरों—नगरद्वारों, तोरणों से सुशोभित और सुविभक्त थे। उसकी अर्गला और इन्द्रकील—गोपुर के किवाड़ों के आगे जड़े हुए नुकीले भाले जैसी कीलें, सुयोग्य शिल्पाचार्यों—निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित थीं। विपणि—हाट-मार्ग, वणिक्-क्षेत्र—व्यापार-क्षेत्र, बाजार आदि के कारण तथा बहुत से शिल्पियों, कारीगरों के आवासित होने के कारण वह सुख-सुविधा पूर्ण थी। तिकोने स्थानों, तिराहों, चौराहों, चत्वरों—जहाँ चार से अधिक रास्ते मिलते हों, ऐसे स्थानों, बर्तन आदि की दूकानों तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं से परिमंडित—सुशोभित और रमणीय थी। राजा की सवारी निकलते रहने के कारण उसके राजमार्गों पर भीड़ लगी रहती थी। वहाँ अनेक उत्तम घोड़े, मदोन्मत्त हाथी, रथसमूह, शिविका—पर्देदार पालखियां, स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखियां, यान—गाड़ियां तथा युग्य—पुरातनकालीन गोल्लदेश में सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे चौड़े डोली जैसे यान—इनका जमघट लगा रहता था। वहाँ खिले हुए कमलों से शोभित जल—जलाशय थे। सफेदी किए हुए उत्तम भवनों से वह सुशोभित, अत्यधिक सुन्दरता के कारण निर्निमेष नेत्रों से प्रेक्षणीय, चित्त को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय, अभिरूप—मनोज्ञ—मन को अपने में रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन में बस जाने वाली थी।

पूर्णभद्र चैत्य

२—तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए पुण्णभद्दे नामं चेइए होत्था—चिराईए, पुव्वपुरिसपण्णत्ते पोराणे, सद्दिए, वित्तिए, कित्तिए, णाए, सच्छत्ते, सज्झए, सघण्टे, सपडागे, पडागाइपडागमंडिए, सलोमहत्थे, कयवेयड्डिए, लाउल्लोइयमहिए, गोसीस-सरसरत्तचंदण-दद्दरदिण्ण-पंचंगुलितले, उवचियचंदणकलसे, चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए, आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे, पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए, कालागुरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे, सुगंधवरगंधगंधिए, गंधवट्टिभूए—

णड-णट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-पवग-कहग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-भुयग-मागहपरिगए, बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए, बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे, पाहुणिज्जे, अच्चणिज्जे, वंदणिज्जे, नमंसणिज्जे, पूयणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणणिज्जे, कल्लाणं, मंगलं,

देवयं, चेइयं, विणएणं पज्जुवासणिज्जे, दिव्वे, सच्चे, सच्चोवाए, सण्णिहियपाडिहेरे, जागसहस्सभाग-पडिच्छए बहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभद्दचेइयं पुण्णभद्दचेइयं ।।

२—उस चम्पा नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा भाग में—ईशान कोण में पूर्णभद्र नामक चैत्य—यक्षायतन था। वह चिरकाल से चला आ रहा था। पूर्व पुरुष—अतीत में हुए मनुष्य उसकी प्राचीनता की चर्चा करते रहते थे। वह सुप्रसिद्ध था। वह वित्तिक—वित्तयुक्त-चढ़ावा, भेंट आदि के रूप में प्राप्त सम्पत्ति से युक्त था अथवा वृत्तिक—आश्रित लोगों को उसकी ओर से आर्थिक वृत्ति दी जाती थी। वह कीर्तित—लोगों द्वारा प्रशंसित था, न्यायशील था—लौकिक श्रद्धायुक्त पुरुष वहाँ आकर न्याय प्राप्त करते थे अथवा वह ज्ञात—अपने प्रभाव आदि के कारण विख्यात था। वह छत्र, ध्वजा, घण्टा तथा पताका युक्त था। वह छोटी और बड़ी झण्डियों से सजा था। सफाई के लिए वहाँ रोममय पिच्छियाँ रक्खी थीं। वेदिकाएँ बनी हुई थीं वहाँ की भूमि गोबर आदि से लिपी थी। उसकी दीवारें खड़िया, कलई आदि से पुती थीं। उसकी दीवारों पर गोलोचन तथा सरस—आर्द्र लाल चन्दन के, पाँचों अंगुलियों और हथेली सहित, हाथ की छापें लगी थीं। वहाँ चन्दन-कलश—चन्दन से चर्चित मंगल-घट रक्खे थे। उसका प्रत्येक द्वार-भाग चन्दन-कलशों और तोरणों से सजा था। जमीन से ऊपर तक के भाग को छूती हुई बड़ी-बड़ी, गोल तथा लम्बी अनेक पुष्पमालाएँ वहाँ लटकती थीं। पाँचों रंगों के सरस—ताजे फूलों के ढेर के ढेर वहाँ चढ़ाये हुए थे, जिनसे वह बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था। काले अगर, उत्तम कुन्दरुक, लोबान तथा धूप की गमगमाती महक से वहाँ का वातावरण बड़ा मनोज्ञ था, उत्कृष्ट सौरभमय था। सुगन्धित धूएँ की प्रचुरता से वहाँ गोल-गोल धूममय छल्ले से बन रहे थे।

वह चैत्य नट—नाटक दिखानेवाले, नर्तक—नाचनेवाले, जल्ल—कलाबाज—रस्सी आदि पर चढ़कर कला दिखानेवाले, मल्ल—पहलवान, मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विदूषक—मसखरे, प्लवक—उछलने या नदी आदि में तैरने का प्रदर्शन करनेवाले, कथक—कथा कहने वाले, लासक—वीर रस की गाथाएँ या रास गानेवाले, लंख—बाँस के सिरे पर खेल दिखानेवाले, मंख—चित्रपट दिखाकर आजीविका चलानेवाले, तूणइल्ल—तूण नामक तन्तुवाद्य बजाकर आजीविका चलानेवाले, तुम्बवीणिक—तुम्ब-वीणा या पूंगी बजानेवाले, भोजक—भक्ति प्रधान गीत गायक तथा मागध—भाट आदि यशोगायक जनों से युक्त था। अनेकानेक नागरिकों तथा जनपदवासियों में उसकी कीर्ति फैली थी। बहुत से दानशील, उदार पुरुषों के लिए वह आह्वनीय—आह्वान करने योग्य, प्राहवणीय—विशिष्ट विधि-विधान पूर्वक आह्वान करने योग्य, अर्चनीय—चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से अर्चना करने योग्य, वन्दनीय—स्तुति आदि द्वारा वन्दना करने योग्य, नमस्करणीय—प्रणमन, पूर्वक नमस्कार करने योग्य, पूजनीय—पुष्प आदि द्वारा पूजा करने योग्य, सत्करणीय—वस्त्र आदि द्वारा सत्कार करने योग्य, सम्माननीय—मन से सम्मान देने योग्य, कल्याणमय—कल्याण—अर्थ, प्रयोजन या कामना पूर्ण करने वाला, मंगलमय—अनर्थप्रतिहारक—अवाञ्छित स्थितियाँ मिटानेवाला, दिव्य—दैवी शक्ति युक्त तथा विनयपूर्वक पर्युपासनीय—विशेष रूप से उपासना करने योग्य था। वह दिव्य, सत्य एवं सत्योपाय—अपने आराधकों की सेवा को सफल करने वाला था। वह अतिशय व अतीन्द्रिय प्रभाव युक्त था, हजारों प्रकार की पूजा-उपासना उसे प्राप्त होती थी। बहुत से लोग वहाँ आते और उस पूर्णभद्र चैत्य की अर्चना-पूजा करते।

विवेचन—इस सन्दर्भ में प्रयुक्त चैत्य शब्द कुछ विवादास्पद है। चैत्य शब्द अनेकार्थवाची है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्य श्री जयमलजी म० ने चैत्य शब्द के एक सौ बारह अर्थों की गवेषणा की।[1]

---

१. चैत्यः प्रासाद-विज्ञेयः १ चेइयं हरिरुच्यते २।
चैत्यं चैतन्य-नाम स्यात् ३ चेइयं च सुधा स्मृता ४॥
चैत्यं ज्ञानं समाख्यातं ५ चेइयं मानस्य मानवः ६।
चेइयं यतिरुत्तमः स्यात् ७ चेइयं भगमुच्यते ८॥
चैत्यं जीवमवाप्नोति ९ चेई भोगस्य रंभणम् १०।
चैत्यं भोग-निवृत्तिश्च ११ चेई विनयनीचकौ १२॥
चैत्यं पूर्णिमाचन्द्रः स्यात् १३ चेई गृहस्य रंभणम् १४।
चैत्यं गृहमव्याबाधं १५ चेई च गृहच्छादनम् १६॥
चैत्यं गृहस्तंभं चापि १७ चेई नाम वनस्पतिः १८।
चैत्यं पर्वताग्रे वृक्षः १९ चेई वृक्षस्यस्थूलनम् २०॥
चैत्यं वृक्षसारश्च २१ चेई चतुष्कोणस्तथा २२।
चैत्यं विज्ञान-पुरुषः २३ चेई देहश्च कथ्यते २४॥
चैत्यं गुणज्ञो ज्ञेयः २५ चेई च शिव-शासनम् २६।
चैत्यं मस्तकं पूर्णं २६ चेई वपुर्हीनकम् २८॥
चेई अश्वमवाप्नोति २९ चेइय खर उच्यते ३०।
चैत्यं हस्ती विज्ञेयः ३१ चेई च विमुखीं विदुः ३२॥
चैत्यं नृसिंह-नाम स्यात् ३३ चेई च शिवा पुनः ३४।
चैत्यं रंभानामोक्तं ३५ चेई स्यान्मृदंगकम् ३६॥
चैत्यं शार्दूलता प्रोक्ता ३७ चेई च इन्द्रवारुणी ३८।
चैत्यं पुरंदरं-नाम ३९ चेई चैतन्यमत्तता ४०॥
चैत्यं गृहि-नाम स्यात् ४१ चेई शास्त्र-धारणा ४२।
चैत्यं क्लेशहारी च ४३ चेई गांधर्वी-स्त्रियः ४४॥
चैत्यं तपस्वी नारी च ४५ चेई पात्रस्य निर्णयः ४६।
चैत्यं शकुनादि-वार्ता च ४७ चेई कुमारिका विदुः ४८॥
चेई तु त्यक्त-रागस्य ४९ चेई धत्तूर कुट्टितम् ५०।
चैत्यं शांति-वाणी च ५१ चेई वृद्धा वरांगना ५२॥
चेई ब्रह्माण्डमानं च ५३ चेई मयूरः कथ्यते ५४।
चैत्यं च नारका देवाः ५५ चेई च बक उच्यते ५६॥
चेई हास्यमवाप्नोति ५७ चेई निभृष्टः प्रोच्यते ५८।
चैत्यं मंगल-वार्ता च ५९ चेई च काकिनी पुनः ६०॥
चैत्यं पुत्रवती नारी ६१ चेई च मीनमेव च ६२।
चैत्यं नरेन्द्रराज्ञी च ६३ चेई च मृगवानरी ६४॥
चैत्यं गुणवती नारी ६५ चेई च स्मरमन्दिरे ६६।
चैत्यं वर-कन्या नारी ६७ चेई च तरुणी-स्तनौ ६८॥

चैत्य शब्द के सन्दर्भ में भाषावैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि किसी मृत व्यक्ति के जलाने के स्थान पर उसकी स्मृति में एक वृक्ष लगाने की प्राचीनकाल में परम्परा रही है। भारतवर्ष से बाहर भी ऐसा होता रहा है। चिति या चिता के स्थान पर लगाये जाने के कारण वह वृक्ष 'चैत्य' कहा जाने लगा हो। आगे चलकर यह परम्परा कुछ बदल गई। वृक्ष के स्थान पर स्मारक के रूप में मकान बनाया जाने लगा। उस मकान में किसी लौकिक देव या यक्ष आदि की प्रतिमा स्थापित की जाने लगी। यों उसने एक देवस्थान या मन्दिर का रूप ले लिया। वह चैत्य कहा जाने लगा। ऐसा होते-होते चैत्य शब्द सामान्य मन्दिरवाची भी हो गया।

प्रस्तुत सूत्र में आये हुए चैत्य के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ वह लौकिक दृष्टि से पूजा का स्थान था, अनेक मनौतियां लेकर लोग वहाँ आते थे, वहाँ नागरिकों में आमोद-प्रमोद तथा

चैत्यं सुवर्ण-वर्णा, च ६९ चेई मुकुट-सागरो ७०।
चैत्यं स्वर्णा जटी चोक्ता ७१ चेई च अन्य-धातुषु ७२॥
चैत्यं राजा चक्रवर्ती ७३ चेई च तस्य याः स्त्रियः ७४।
चैत्यं विख्यात पुरुषः ७५ चेई पुष्पमती-स्त्रियः ७६॥
चेई ये मन्दिरं राज्ञः ७७ चैत्यं वाराह-संमतः ७८।
चेई च यतयो धूर्ताः ९९ चैत्यं गरुडपक्षिणि ८०।
चेई च पद्मनागिनी ८१ चेई रक्त-मंत्रेऽपि ८२।
चेई चक्षुविहीनस्तु ८३ चैत्यं युवक पूरुषः ८४॥
चैत्यं वासुकी नागः ८५ चेई पुष्पी निगद्यते ८६।
चैत्यं भाव-शुद्धः स्यात् ८७ चेई क्षुद्रा च घंटिका ८८॥
चेई द्रव्यमवाप्नोति ८९ चेई च प्रतिमा तथा ९०।
चेई सुभट योद्धा च ९१ चेई च द्विविधा क्षुधा ९२॥
चैत्यं पुरुष-क्षुद्रश्च ९३ चैत्यं हार एव च ९४।
चैत्यं नरेन्द्राभरणः ९५ चेई जटाधरो नरः ९६॥
चेई च धर्म-वार्तायां ९७ चेई च विकथा पुनः ९८।
चैत्यं चक्रपतिः सूर्यः ९९ चेई च विधि-भ्रष्टकम् १००॥
चैत्यं राज्ञी शयनस्थानं १०१ चेई रामस्य गर्भता १०२।
चैत्यं श्रवणे शुभे वार्ता १०३ चेई च इन्द्रजालकम् १०४॥
चैत्यं यत्यासनं प्रोक्तं १०५ चेई च पापमेव च १०६।
चैत्यमुदयकाले च १०७ चैत्यं च रजनी पुनः १०८॥
चैत्यं चन्द्रो द्वितीयः स्यात् १०९ चेई च लोकपालके ११०।
चैत्यं रत्नं महामूल्यं १११ चेई अन्यौषधीः पुनः ११२॥

[इति अलंकरणे दीर्घब्रह्माण्डे सुरेश्वरवार्तिके प्रोक्तम् प्रतिमा चेइय शब्दे नाम ९०मो छे। चेइय ज्ञान नाम पांचमो छे। चेइय शब्दे यति = साधु नाम ७मुं छे। पछे यथा योग्य ठामे जे नामे हुवे ते जाणवो। सर्व चैत्य शब्दना आंक ५७, अने चेइयं शब्दे ५५ सर्व ११२ लिखितं पू० भूधरजी तत्शिष्य ऋषि जयमल नागौर मझे सं० १८०० चैत सुदी १० दिने]

—जयध्वज, पृष्ठ ५७३-७६

हास-विनोद का भी वह स्थान था, जो वहाँ नर्तकों, कलाबाजों, पहलवानों, मसखरों, कथा कहने-वालों, वाद्य बजानेवालों, मागधों—यशोगायकों आदि की अवस्थिति से प्रकट होता है।

वन-खण्ड

३—से णं पुण्णभद्दे चेइए एक्केणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता परिक्खित्ते। से णं वणसंडे किण्हे, किण्होभासे, नीले, नीलोभासे, हरिए, हरिओभासे, सीए, सीओभासे, णिद्धे, णिद्धोभासे, तिव्वे, तिव्वोभासे, किण्हे, किण्हच्छाए, नीले, नीलच्छाए, हरिए, हरियच्छाए, सीए, सीयच्छाए, णिद्धे, णिद्धच्छाए, तिव्वे, तिव्वच्छाए, घणकडिअकडिच्छाए, रम्मे, महामेहणिकुरंबभूए।

३—वह पूर्वभद्र चैत्य सब ओर से—चारों ओर से एक विशाल वन-खण्ड से घिरा हुआ था। सघनता के कारण वह वन-खण्ड काला, काली आभावाला, (मोर की गर्दन जैसा) नीला, नीली आभावाला तथा (तोते की पूंछ जैसा) हरा, हरी आभावाला था। लताओं, पौधों व वृक्षों की प्रचुरता के कारण वह (वन-खण्ड) स्पर्श में शीतल, शीतल आभामय, स्निग्ध—चिकना, रुक्षतारहित, स्निग्ध आभामय, तीव्र—सुन्दर वर्ण आदि उत्कृष्ट गुणयुक्त तथा तीव्र आभामय था।

यों वह वन-खण्ड कालापन, काली छाया, नीलापन, नीली छाया, हरापन, हरी छाया, शीतलता, शीतल छाया, स्निग्धता, स्निग्ध छाया, तीव्रता तथा तीव्र छाया लिये हुए था। वृक्षों की शाखाओं के परस्पर गुँथ जाने के कारण वह गहरी, सघन छाया से युक्त था। उसका दृश्य ऐसा रमणीय था, मानों बड़े-बड़े बादलों की घटाएँ घिरी हों।

पादप

४—ते णं पायवा मूलमंतो कंदमंतो, खंधमंतो, तयामंतो, सालमंतो, पवालमंतो, पत्तमंतो, पुप्फमंतो, फलमंतो, बीयमंतो, अणुपुव्वसुजाय-रुइल-वट्टभावपरिणया, एक्कखंधा, अणेगसाला, अणेग-साहप्पसाहविडिमा, अणेगनरवामसुप्पसारियअग्गेज्झ घणविउलबद्धखंधा, अच्छिद्दपत्ता, अविरलपत्ता, अवाईणपत्ता, अणईअपत्ता, निद्धयजरढपंडुयत्ता, णवहरियभिसंतपत्तभारंधयारगंभीरदरिसणिज्जा, उवणिग्गयणवतरुणपत्त - पल्लव - कोमल - उज्जलचलंतकिसलय-सुकुमालपवालसोहियवरंकुरग्गसिहरा, णिच्चं कुसुमिया, णिच्चं माइया, णिच्चं लवइया, णिच्चं थवइया, णिच्चं गुलइया, णिच्चं गोच्छिया, णिच्चं जमलिया, णिच्चं जुवलिया, णिच्चं विणमिया, णिच्चं पणमिया, णिच्चं कुसुमिय-माइय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमिय-सुविभत्तपिंडमंजरिवडिंसयधरा, सुय बर-हिण-मयणसाल-कोइल-कोभगक-भिंगारग-कोंडलग-जीवंजीवग-णंदीमुह-कविलपिंगलक्खग-कारंड-चक्क-वाय-कलहंस-सारस-अणेगसउणगणमिहुणविरइयसद्दुण्णइयमहुरसरणाइए, सुरम्मे, संपिंडियदरिय भमर-महुयरिपहकरपरिलित-मत्तछप्पय-कुसुमासवलोलमहुर-गुमगुमंतगुंजंतदेसभाए, अब्भिंतरपुप्फफले, बाहिरपत्तोच्छण्णे, पत्तेहि य पुप्फेहि य ओच्छन्नपडिवलिच्छण्णे साउफले, निरोयए, अकंटए, णाणाविह-गुच्छ-गुम्म-मंडवग-रम्मसोहिए, विचित्तसुहकेउभूए, वावी-पुक्खरिणी-दीहियासु य सुनिवेसियरम्मजाल-हरए पिंडिमणीहारिमं सुगंधि सुहसुरभिमणहरं च महया गंधद्धणिं मुयंता, णाणाविहगुच्छगुम्ममंडव-गघरगसुहसेउकेउबहुला, अणेगरहजाणजुग्गसिवियपविमोयणा, सुरम्मा, पासादीया, दरिसणिज्जा अभिरूवा, अडिरूवा॥

४—उस वन-खण्ड के वृक्ष उत्तम-मूल—जड़ों के ऊपरी भाग, कन्द—भीतरी भाग, जहाँ से जड़ें फूटती हैं, स्कन्ध—तने, छाल, शाखा, प्रवाल—अंकुरित होते पत्ते, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज से

सम्पन्न थे। वे क्रमशः आनुपातिक रूप में सुन्दर तथा गोलाकार विकसित थे। उनके एक-एक—अविभक्त तना तथा अनेक शाखाएँ थीं। उनके मध्य भाग अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं का विस्तार लिये हुए थे। उनके सघन, विस्तृत तथा सुघड़ तने अनेक मनुष्यों द्वारा फैलाई हुई भुजाओं से भी गृहीत नहीं किये जा सकते थे—घेरे नहीं जा सकते थे। उनके पत्ते छेदरहित, अविरल—घने—एक दूसरे से मिले हुए, अधोमुख—नीचे की ओर लटकते हुए तथा उपद्रव-रहित—नीरोग थे। उनके पुराने, पीले पत्ते झड़ गये थे। नये, हरे, चमकीले पत्तों की सघनता से वहाँ अंधेरा तथा गम्भीरता दिखाई देती थी।

नवीन, परिपुष्ट पत्तों, कोमल उज्ज्वल तथा हिलते हुए किसलयों—पूरी तरह नहीं पके हुए पत्तों, प्रवालों—ताम्र वर्ण के नये निकलते पत्तों से उनके उच्च शिखर सुशोभित थे।

उनमें कई वृक्ष ऐसे थे, जो सब ऋतुओं में फूलों, मंजरियों, पत्तों, फूलों के गुच्छों, गुल्मों—लता-कुंजों तथा पत्तों के गुच्छों से युक्त रहते थे। कई ऐसे थे, जो सदा, समश्रेणिक रूप में—एक कतार में स्थित थे। कई ऐसे थे, जो सदा युगल रूप में—दो-दो की जोड़ी के रूप में विद्यमान थे। कई ऐसे थे, जो पुष्प, फल आदि के भार से नित्य विनमित—बहुत झुके हुए थे, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनत—नमे हुए थे।

यों विविध प्रकार की अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये हुए वे वृक्ष अपनी सुन्दर लुम्बियों तथा मंजरियों के रूप में मानो शिरोभूषण—कलंगियाँ धारण किये रहते थे। तोते, मोर, मैना, कोयल, कोभगक, भिंगारक, कोण्डलक, चकोर, नन्दिमुख, तीतर, बटेर, बतख, चक्रवाक, कलहंस, सारस प्रभृति पक्षियों द्वारा की जाती आवाज के उन्नत एवं मधुर स्वरालाप से वे वृक्ष गुंजित थे, सुरम्य प्रतीत होते थे। वहाँ स्थित मदमाते भ्रमरों तथा भ्रमरियों या मधुमक्खियों के समूह एवं पुष्परस—मकरन्द के लोभ से अन्यान्य स्थानों से आये हुए विविध जाति के भँवर मस्ती से गुनगुना रहे थे, जिससे वह स्थान गुंजायमान हो रहा था।

वे वृक्ष भीतर से फूलों और फलों से आपूर्ण थे तथा बाहर से पत्तों से ढके थे। वे पत्तों और फूलों से सर्वथा लदे थे। उनके फल स्वादिष्ट, नीरोग तथा निष्कण्टक थे। वे तरह-तरह के फूलों के गुच्छों, लता-कुंजों तथा मण्डपों द्वारा रमणीय प्रतीत होते थे, शोभित होते थे। वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दर ध्वजाएँ फहराती थीं। चौकोर, गोल तथा लम्बी बावड़ियों में जाली-झरोखेदार सुन्दर भवन बने थे। दूर-दूर तक जाने वाली सुगन्ध के संचित परमाणुओं के कारण वे वृक्ष अपनी सुन्दर महक से मन को हर लेते थे, अत्यन्त तृप्तिकारक विपुल सुगन्ध छोड़ते थे। वहाँ नानाविध, अनेकानेक पुष्पगुच्छ, लताकुंज, मण्डप, विश्राम-स्थान, सुन्दर मार्ग थे, झण्डे लगे थे। वे वृक्ष अनेक रथों, वाहनों, डोलियों तथा पालखियों के ठहराने के लिए उपयुक्त विस्तीर्ण थे।

इस प्रकार के वृक्ष रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाले तथा प्रतिरूप—मन में बस जाने वाले थे।

अशोक-वृक्ष

५—तस्स णं वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एक्के असोगवरपायवे पण्णत्ते—कुस-विकुस-विसुद्ध-रुक्खमूले, मूलमंते, कंदमंते, जाव (खंधमंते, तयामंते, सालमंते, पवालमंते, पत्तमंते, पुप्फमंते,

फलमंते, बीयमंते, अणुपुव्वसुजायरुइलवट्टे भावपरिणए, एक्कखंधे, अणेगसाले, अणेगसाहप्पसाहविडिमे, अणेगनरवामसुप्पसारिय-अग्गेज्झघणविउलबद्धखंधे, अच्छिद्दपत्ते, अविरलपत्ते, अवाईणपत्ते,-अणईअपत्ते, निद्धूयजरढपंडुपत्ते, णव-हरिय-भिसंत-पत्तभारंधयारगंभीरदरिसणिज्जे, उवणिग्गय-णव-तरुण-पत्त-पल्लव-कोमलउज्जलचलंत-किसलय-सुकुमालपवाल-सोहियवरंकुरग्गसिहरे, णिच्चं कुसुमिए, णिच्चं माइए, णिच्चं लवइए, णिच्चं थवइए, णिच्चं गुलइए, णिच्चं गोच्छिए, णिच्चं जमलिए, णिच्चं जुवलिए, णिच्चं विणमिए, णिच्चं पणमिए, णिच्चं कुसुमिय-माइय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमिय-सुविभत्तपिंडमंजरिवडिंसयधरे, सुय-बरहिण-मयणसाल-कोइल-कोभगक-भिंगारग-कोंडलग-जीवंजीवग-णंदीमुह-कविलपिंगलक्खग - कारंड-चक्कवाय-कलहंस - सारस-अणेगसउणिगणमिहुणविरइयसद्दुण्णइयमहुरसरणाइए, सुरम्मे, संपिंडिय-दरिय-भमर-महुयरिपहकर-परिलिंतमत्तछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमंतगुंजंतदेसभाए, अब्भितर-पुप्फफले, बाहिरपत्तोच्छण्णे, पत्तेहि य पुप्फेहि य ओच्छन्नविच्छण्णे, साउफले, निरोयए, अकंटए, णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगरम्म-सोहिए विचित्तसुहकेउभूए वावीपुक्खरिणीदीहियासु य सुनिवेसिय-रम्मजालहरए पिडिमणीहारिमं सुगंधि सुहसुरभिमणहरं च महया गंधद्धणिं मुयंते, णाणाविहगुच्छ-गुम्म-मंडवग-घरगसुहसेउकेउबहुले, अणेगरह-जाण-जुग्ग-सिविय-परिमोयणे), सुरम्मे, पासादीए, दरिसणिज्जे अभिरूवे, पडिरूवे ।।

५—उस वन-खण्ड के ठीक बीच के भाग में एक विशाल एवं सुन्दर अशोक वृक्ष था। उसकी जड़ें डाभ तथा दूसरे प्रकार के तृणों से विशुद्ध—रहित थीं। (वह वृक्ष उत्तम मूल—जड़ों के ऊपरी भाग, कन्द—भीतरी भाग, जहाँ से जड़ें फूटती हैं; स्कन्ध—तना, छाल, शाखा, प्रवाल—अंकुरित होते पत्ते, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज सम्पन्न था। वह क्रमशः आनुपातिक रूप में सुन्दर तथा गोलाकार विकसित था। उसके एक—अविभक्त तना तथा अनेक शाखाएँ थीं। उसका मध्य भाग अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं का विस्तार लिये हुए था। उसका सघन, विस्तृत तथा सुघड़ तना अनेक मनुष्यों द्वारा फैलाई हुई भुजाओं से भी गृहीत नहीं किया जा सकता था—घेरा नहीं जा सकता था। उसके पत्ते छेदरहित, अविरल—घने—एक दूसरे से मिले हुए, अधोमुख—नीचे की ओर लटकते हुए तथा उपद्रव-रहित थे। उसके पुराने, पीले पत्ते झड़ गये थे। नये, हरे, चमकीले पत्तों की सघनता से वहाँ अंधेरा तथा गम्भीरता दिखाई देती थी। नवीन, परिपुष्ट पत्तों, कोमल, उज्ज्वल तथा हिलते हुए किसलयों—पूरी तरह नहीं पके हुए पत्तों, प्रवालों—ताम्र वर्ण के नये निकलते पत्तों से उसका उच्च शिखर सुशोभित था।

वह सब ऋतुओं में फूलों, मंजरियों, पत्तों, फूलों के गुच्छों, गुल्मों—लता-कुंजों तथा पत्तों के गुच्छों से युक्त रहता था। वह सदा समश्रेणिक तथा युगल-रूप में—दो-दो के जोड़ के बीच अवस्थित था। वह पुष्प, फल आदि के भार से सदा विनमित—बहुत झुका हुआ, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनत—नमा हुआ था।

यों विविध प्रकार से अपनी विशेषताएँ लिये हुए वह वृक्ष अपनी सुन्दर लुम्बियों तथा मंजरियों के रूप में मानो शिरोभूषण—कलंगियाँ धारण किये रहता था। तोते, मोर, मैना, कोयल, कोभगक, भिंगारक, कोण्डलक, चकोर, नन्दिमुख, तीतर, बटेर, बतख, चक्रवाल, कलहंस, सारस प्रभृति पक्षियों द्वारा की जाती आवाज के उन्नत एवं मधुर स्वरालाप से वह गुंजित था, सुरम्य प्रतीत होता था। वहाँ स्थित मदमाते भ्रमरों तथा भ्रमरियों या मधुमक्खियों के समूह एवं पुष्परस—मकरन्द के लोभ

से अन्यान्य स्थानों से आये हुए विविध जाति के भँवरे मस्ती से गुनगुना रहे थे, जिससे वह स्थान गुंजायमान हो रहा था।

वह वृक्ष भीतर से फूलों और फलों से आपूर्ण था तथा बाहर से पत्तों से ढँका था। यों वह पत्तों और फलों से सर्वथा लदा था। उसके फल स्वादिष्ट, नीरोग तथा निष्कण्टक थे। वह तरह-तरह के फूलों के गुच्छों, लता-कुंजों तथा मण्डपों द्वारा रमणीय प्रतीत होता था, शोभित होता था। वहां भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दर ध्वजाएँ फहराती थीं। चौकोर, गोल तथा लम्बी बावड़ियों में जाली-झरोखेदार सुन्दर भवन बने थे। दूर दूर तक जानेवाली सुगन्ध के संचितपरमाणुओं के कारण वह वृक्ष अपनी सुन्दर महक से मन को हर लेता था, अत्यन्त तृप्तिकारक विपुल सुगन्ध छोड़ता था। वहाँ नानाविध अनेकानेक पुष्पगुच्छ, लता-कुंज, मण्डप, गृह—विश्रामस्थान तथा सुन्दर मार्ग व अनेक ध्वजाएँ विद्यमान थीं। अति विशाल होने से उसके नीचे अनेक रथों, यानों, डोलियों और पालखियों के ठहराने के लिए पर्याप्त स्थान था।

इस प्रकार वह अशोक वृक्ष रमणीय, सुखप्रद—चित्त को प्रसन्न करनेवाला, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाला तथा प्रतिरूप—मनमें बस जाने वाला था।

६—से णं असोगवरपायवे अण्णेहिं बहूहिं तिलएहिं, लउएहिं, छत्तोवेहिं, सिरीसेहिं, सत्तवण्णेहिं, दहिवण्णेहिं, लोद्धेहिं, धवेहिं, चंदणेहिं, अज्जुणेहिं, णीवेहिं, कुडएहिं, कलंबेहिं, सव्वेहिं, फणसेहिं, दालिमेहिं, सालेहिं, तालेहिं, तमालेहिं, पियएहिं, पियंगूहिं, पुरोवगेहिं, रायरुक्खेहिं, णंदिरुक्खेहिं, सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते ॥

६—वह उत्तम अशोक वृक्ष तिलक, लकुच, क्षत्रोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब, सव्य, पनस, दाडिम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियंगु, पुरोपग, राजवृक्ष, नन्दिवृक्ष—इन अनेक अन्य पादपों से सब ओर से घिरा हुआ था।

७—ते णं तिलया लउया जाव (छत्तोवया, सिरीसा, सत्तवण्णा, दहिवण्णा, लोद्धा, धवा, चंदणा, अज्जुणा, णीवा, कुडया, कलंबा, सव्वा, फणसा, दालिमा, साला, ताला, तमाला, पियया, पियंगुया, पुरोवगा, रायरुक्खा,) णंदिरुक्खा, कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला, मूलमंतो, कंदमतो, एएसि वण्णओ भाणियव्वो जाव[1] सिवियपरिमोयणा, सुरम्मा, दासादीया, परिसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा ॥

७—उन तिलक, लकुच, (क्षत्रोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब, सव्य, पनस, दाडिम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियंगु, पुरोपग, राजवृक्ष) नन्दिवृक्ष—इन सभी पादपों की जड़ें डाभ तथा दूसरे प्रकार के तृणों से विशुद्ध—रहित थीं। उनके मूल, कन्द आदि दशों अंग उत्तम कोटि के थे।

यों वे वृक्ष रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाले तथा प्रतिरूप—मनमें बस जानेवाले थे। उनका वर्णन अशोकवृक्ष के समान ज्ञान लेना चाहिए।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ५

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

८—ते णं तिलया जाव[1] णंदिरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं पउमलयाहिं, णागलयाहिं, असोअलयाहिं, चंपगलयाहिं, चूयलयाहिं, वणलयाहिं, वासंतियलयाहिं, अइमुत्तयलयाहिं कुंदलयाहिं, सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता ।।

८—वे तिलक, नन्दिवृक्ष, आदि पादप अन्य बहुत सी पद्मलताओं, नागलताओं, अशोकलताओं, चम्पकलताओं, सहकारलताओं, पीलुकलताओं, वासन्तीलताओं तथा अतिमुक्तकलताओं से सब ओर से घिरे हुए थे।

९—ताओ णं पउमलयाओ णिच्चं कुसुमियाओ जाव (णिच्चं माइयाओ, णिच्चं लवइयाओ, णिच्चं थवइयाओ, णिच्चं गुलइयाओ, णिच्चं गोच्छियाओ, णिच्चं जमलियाओ, णिच्चं जुवलियाओ, णिच्चं विणमियाओ, णिच्चं पणमियाओ, णिच्चं कुसुमिय-माइय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमियसुविभत्तपिंडमंजरिवडिंसयधराओ,) पासादीयाओ, दरिसणिज्जाओ, अभिरूवाओ, पडिरूवाओ।

९—वे लताएं सब ऋतुओं में फूलती थीं (मंजरियों, पत्तों, फूलों के गुच्छों, गुल्मों तथा पत्तों के गुच्छों से युक्त रहती थीं। वे सदा समश्रेणिक तथा युगल रूप में अवस्थित थीं। वे पुष्प, फल आदि के भार से सदा विनमित—बहुत झुकी हुई, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनत—नमी हुई, थीं। यों विविध प्रकार से अपनी विशेषताएँ लिये हुए वे लताएँ अपनी सुन्दर लुम्बियों तथा मंजरियों के रूप में मानो शिरोभूषण—कलंगियाँ धारण किये रहती थीं।) वे रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन में बस जाने वाली थीं।

शिलापट्टक

१०—तस्स णं असोगवरपायवस्स हेट्ठा ईसिं खंधसमल्लीणे एत्थ णं महं एक्के पुढविसिलापट्टए पण्णत्ते—विक्खंभायामउस्सेहसुप्पमाणे, किण्हे, अंजण-घण-कविाण-कुवलय-हलहरकोसेज्जागास-केस-कज्ज-लंगीखंजण-सिंगभेद-रिट्ठय - जंबूफल-असणग-सण-बंधण-णीलुप्पलपत्तनिकर - अयसिकुसुमप्पगासे, मरगय-मसारकलित्त-णयणकोयरासिवण्णे, णिद्धघणे, अट्ठसिरे आयंसयतलोवमे, सुरम्मे, ईहामिय-उसभ-तुरग-णर-मगर-विहग-वालग-किण्णर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलय-भत्तिचित्ते, आईणग-रुय-बूर-णवणीय-तूलफरिसे, सीहासणसंठिए, पासादीए, दरिसणिज्जे, अभिरूवे, पडिरूवे।

१०—उस अशोक वृक्ष के नीचे, उसके तने के कुछ पास एक बड़ा पृथिवी-शिलापट्टक—चबूतरे की ज्यों जमी हुई मिट्टी पर स्थापित शिलापट्टक—था। उसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई समुचित प्रमाण में थी। वह काला था। वह अंजन (वृक्षविशेष), बादल, कृपाण, नीले कमल, बलराम के वस्त्र, आकाश, केश, काजल की कोठरी, खंजन पक्षी, भैंस के सींग, रिष्टक रत्न, जामुन के फल, बीयक (वनस्पतिविशेष), सन के फूल के डंठल, नील कमल के पत्तों की राशि तथा अलसी के फूल के सदृश प्रभा लिये हुए था।

नील मणि, कसौटी, कमर पर बाँधने के चमड़े के पट्टे तथा आँखों की कनीनिका—तारे—इनके पुंज जैसा उसका वर्ण था। वह अत्यन्त स्निग्ध—चिकना था। उसके आठ कोने थे। वह दर्पण

१. देखें सूत्र-संख्या ७

के तल के समान सुरम्य था। भेड़िये, बैल, घोड़े, मनुष्य, मगर, पक्षी, साँप, किन्नर, रुरु, अष्टापद चमर, हाथी, वनलता और पद्मलता के चित्र उस पर बने हुए थे। उसका स्पर्श मृगछाला, कपास, बूर, मक्खन तथा आक की रूई के समान कोमल था। वह आकार में सिंहासन जैसा था।

इस प्रकार वह शिलापट्टक मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाला और प्रतिरूप—मन में बस जाने वाला था।

चम्पाधिपति कूणिक

११—तत्थ णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं राया परिवसइ—महयाहिमवंत-महंतमलय-मंदर-महिंदसारे, अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए, णिरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे, बहुजणबहुमाण-पूइए, सव्वगुणसमिद्धे, खत्तिए, मुइए, मुद्धाहिसित्ते, माउपिउसुजाए, दयपत्ते, सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, मणुस्सिंदे, जणवयपिया, जणवयपाले, जणवयपुरोहिए, सेउकरे, केउकरे, णरपवरे, पुरिसवरे, पुरिससीहे, पुरिसवग्घे, पुरिसासीविसे, पुरिसपुंडरीए, पुरिसवरगंधहत्थी, अड्ढे, दित्ते, वित्ते, विच्छण्णविउलभवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णे, बहुधण-बहुजायरूव-रयए, आओगपओगसंपउत्ते, विच्छड्डियपउरभत्तपाणे, बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूए, पडिपुण्णजंतकोसकोट्ठागाराउधागारे, बलवं, दुब्बलपच्चामित्ते, ओहयकंटयं, निहयकंटयं, मलियकंटयं, उद्धियकंटयं, अकंटयं, ओहयसत्तुं, निहयसत्तुं, मलियसत्तुं, उद्धियसत्तुं, निज्जियसत्तुं, पराइयसत्तुं, ववगयदुब्भिक्खं, मारिभयविप्पमुक्कं, खेमं, सिवं, सुभिक्खं, पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरइ।

११—चम्पा नगरी का कूणिक नामक राजा था, जो वहाँ निवास करता था। वह महा-हिमवान् पर्वत के समान महत्ता तथा मलय, मेरु एवं महेन्द्र (संज्ञक पर्वतों) के सदृश प्रधानता या विशिष्टता लिये हुए था। वह अत्यन्त विशुद्ध—दोषरहित, चिरकालीन—प्राचीन राजवंश में उत्पन्न हुआ था। उसके अंग पूर्णतः राजोचित लक्षणों से सुशोभित थे। वह बहुत लोगों द्वारा अति सम्मानित और पूजित था, सर्वगुणसमृद्ध—सब गुणों से शोभित क्षत्रिय था—जनता को आक्रमण तथा संकट से बचाने वाला था। वह सदा मुदित[1]—प्रसन्न रहता था। अपनी पैतृक परम्परा द्वारा, अनुशासनवर्ती अन्यान्य राजाओं द्वारा उसका मूर्द्धाभिषेक—राजाभिषेक या राजतिलक हुआ था। वह उत्तम माता-पिता से उत्पन्न उत्तम पुत्र था।

वह स्वभाव से करुणाशील था। वह मर्यादाओं की स्थापना करने वाला तथा उनका पालन करने वाला था। वह क्षेमंकर—सबके लिए अनुकूल स्थितियाँ उत्पन्न करने वाला तथा क्षेमंधर—उन्हें स्थिर बनाये रखने वाला था। वह परम ऐश्वर्य के कारण मनुष्यों में इन्द्र के समान था। वह अपने राष्ट्र के लिए पितृतुल्य, प्रतिपालक, हितकारक, कल्याणकारक, पथदर्शक तथा आदर्श उपस्थापक था। वह नरप्रवर—वैभव, सेना, शक्ति आदि की अपेक्षा से मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा पुरुषवर—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों में उद्यमशील पुरुषों में परमार्थ-चिन्तन के कारण श्रेष्ठ था। कठोरता व पराक्रम में वह सिंहतुल्य, रौद्रता में बाघ सदृश तथा अपने क्रोध को सफल बनाने के सामर्थ्य में सर्पतुल्य था। वह पुरुषों में उत्तम पुण्डरीक—सुखार्थी, सेवाशील जनों के लिए श्वेत कमल

---

१. टीकाकार आचार्य श्री अभयदेवसूरि ने 'मुदित' का एक दूसरा अर्थ निर्दोषमातृक भी किया है। उसे सन्दर्भ में उन्होंने उल्लेख किया है—"मुइओ जो होइ जोणिसुद्धोत्ति।" —औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र ११

जैसा सुकुमार था। वह पुरुषों में गन्धहस्ती के समान था—अपने विरोधी राजा रूपी हाथियों का मान-भंजक था। वह समृद्ध, दृप्त—दर्प या प्रभावयुक्त तथा वित्त या वृत्त—सुप्रसिद्ध था। उसके यहाँ बड़े-बड़े विशाल भवन, सोने-बैठने के आसन तथा रथ, घोड़े आदि सवारियाँ, वाहन बड़ी मात्रा में थे। उसके पास विपुल सम्पत्ति, सोना तथा चाँदी थी। वह आयोग-प्रयोग—अर्थ लाभ के उपायों का प्रयोक्ता था—धनवृद्धि के सन्दर्भ में वह अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहता था। उसके यहाँ भोजन कर लिये जाने के बाद बहुत खाद्य-सामग्री बच जाती थी। (जो तदपेक्षी जनों में बांट दी जाती थी।) उसके यहाँ अनेक दासियाँ, दास, गायें, भैंसें तथा भेड़ें थीं। उसके यहाँ यन्त्र, कोष—खजाना, कोष्ठागार—अन्न आदि वस्तुओं का भण्डार तथा शस्त्रागार प्रतिपूर्ण—अति समृद्ध था। उसके पास प्रभूत सेना थी। उसने अपने राज्य के सीमावर्ती राजाओं या पड़ोसी राजाओं को शक्तिहीन बना दिया था। उसने अपने सगोत्र प्रतिस्पर्द्धियों—प्रतिस्पर्द्धा व विरोध रखने वालों को विनष्ट कर दिया था। उनका धन छीन लिया था, उनका मान भंग कर दिया था तथा उन्हें देश से निर्वासित कर दिया था। यों उसका कोई भी सगोत्र विरोधी बच नहीं पाया था। उसी प्रकार उसने अपने (गोत्रभिन्न) शत्रुओं को विनष्ट कर दिया था, उनकी सम्पत्ति छीन ली थी, उनका मानभंग कर दिया था और उन्हें देश से निर्वासित कर दिया था। अपने प्रभावातिशय से उसने उन्हें जीत लिया था, पराजित कर दिया था।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस प्रकार वह राजा दुर्भिक्ष तथा महामारी के भय से रहित—निरुपद्रव, क्षेममय, कल्याणमय, सुभिक्षयुक्त एवं शत्रुकृत विघ्नरहित राज्य का शासन करता था।

राजमहिषी धारिणी

१२—तस्स णं कोणियस्स रण्णो धारिणी णामं देवी होत्था—सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा, लक्खण-वंजण-गुणोववेया, माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्ण-सुजायसव्वंगसुंदरंगी, ससिसोमाकारकंतपियदंसणा, सुरूवा, करयलपरिमियपसत्थतिवलीवलियमज्झा, कुंडलुल्लिहियगंडलेहा, कोमुइयरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा, सिंगारागारचारुवेसा, संगयगय-हसिय-भणिय-विहिय-विलास-सललियसंलाव-णिउणजुत्तोवयारकुसला, पासादीया, दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा कोणिएणं रण्णा भंभसारपुत्तेण सद्धिं अणुरत्ता, अविरत्ता इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरइ॥

१२—राजा कूणिक की रानी का नाम धारिणी था। उसके हाथ-पैर सुकोमल थे। उसके शरीर की पाँचों इन्द्रियाँ अहीन-प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखण्डित, सम्पूर्ण, अपने अपने विषयों में सक्षम थीं। वह उत्तम लक्षण—सौभाग्यसूचक हाथ की रेखाओं आदि, व्यंजन—उत्कर्षसूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुण—शील, सदाचार, पातिव्रत्य आदि से युक्त थी। दैहिक फैलाव, वजन, ऊँचाई आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दरी थी। उसका आकार-स्वरूप चन्द्र के समान सौम्य तथा दर्शनीय था। वह परम रूपवती थी। उसकी देह का मध्य भाग कमर हथेली के विस्तार जितनी या मुट्ठी द्वारा गृहीत की जा सके, इतना सा विस्तार लिये थी—बहुत पतली थी, पेट पर पड़ने वाली प्रशस्त—उत्तम तीन रेखाओं से युक्त थी। उसके कपोलों की रेखाएँ कुण्डलों से उद्दीप्त—सुशोभित थीं। उसका मुख शरत्पूर्णिमा के चन्द्र के सदृश निर्मल, परिपूर्ण

तथा सौम्य था। उसकी सुन्दर वेशभूषा ऐसी थी, मानो शृंगार-रस का आवास-स्थान हो। उसकी चाल, हँसी, बोली, कृति एवं दैहिक चेष्टाएँ संगत—समुचित थीं। लालित्यपूर्ण आलाप-संलाप में वह चतुर थी। समुचित लोक-व्यवहार में वह कुशल थी। वह मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप थी।

कूणिक का दरबार

१३—तस्स णं कोणियस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकयवित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवओ तद्देवसियं पवित्तिं णिवेदेइ ।।

१३—राजा कूणिक के यहाँ पर्याप्त वेतन पर भगवान् महावीर के कार्यकलाप को सूचित करने वाला एक वार्ता-निवेदक पुरुष नियुक्त था, जो भगवान् के प्रतिदिन के विहारक्रम आदि प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में राजा को निवेदन करता था।

१४—तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्णभतिभत्तवेयणा भगवओ पवित्तिवाउया भगवओ तद्देवसियं पवित्तिं णिवेदेंति ।।

१४—उसने अन्य अनेक व्यक्तियों को भोजन तथा वेतन पर नियुक्त कर रखा था, जो भगवान् की प्रतिदिन की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उसे सूचना करते रहते थे।

१५—तेणं कालेणं तेणं समएणं कोणिए राया भंभसारपुत्ते बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अणेग-गणणायग-दंडणायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-मति-महामति-गणग - दोवारिय-अमच्च - चेड-पीढमद्द-नगरनिगम-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवाल-सद्धिं संपरिवुडे विहरइ।

१५—एक समय की बात है, भंभसार का पुत्र कूणिक अनेक गणनायक—विशिष्ट जनसमूहों के अधिनेता, दण्डनायक—तन्त्रपाल—उच्च आरक्षि अधिकारी, राजा—माडंलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशाली पुरुष, तलवर—राज्यसम्मानित विशिष्ट नागरिक, मांडविक—जागीरदार, भूस्वामी, कौटुम्बिक—बड़े परिवारों के प्रमुख, मन्त्री, महामन्त्री—मन्त्रिमण्डल के प्रधान, गणक—ज्योतिषी, द्वारपाल, अमात्य—राज्याधिष्ठायक—राज्य-कार्यों में परामर्शक, सेवक, पीठमर्द-परिपार्श्विक—राजसभा में आसन्नसेवारत पुरुष, नागरिक, व्यापारी, सेठ[1], सेनापति—राजा की चतुरंगिणी—रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना के अधिनायक, सार्थवाह—दूसरे देशों में व्यापार करने वाले व्यवसायी, दूत—दूसरों तथा राजा के आदेश-सन्देश पहुँचाने वाले, सन्धिपाल—राज्य की सीमाओं के रक्षक—इन विशिष्ट जनों से संपरिवृत—चारों ओर से घिरा हुआ बहिर्वर्ती राजसभा भवन में अवस्थित था।

भगवान् महावीर : पदार्पण

१६—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे, तित्थगरे, सहसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे,

---

१. टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार "श्रेष्ठिनः—श्रीदेवताऽध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमाङ्गाः" अर्थात् लक्ष्मी के चिह्न से अंकित स्वर्णपट्ट से जिनका मस्तक सुशोभित रहता था, वे श्रेष्ठी कहे जाते थे। यह सम्मान संभवतः उन्हें राज्य से प्राप्त होता था। —औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र १४

पुरिससीहे, पुरिसवरपुंडरीए, पुरिसवरगंधहत्थी, अभयदए, चक्खुदए, मग्गदए, सरणदए, जीवदए, दीवो, ताणं, सरणं, गई, पइट्ठा, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी, अप्पडिहयवरनाणदंसणधरे, वियट्टच्छउमे, जिणे, जाणए, तिण्णे, तारए, मुत्ते, मोयए, बुद्धे, बोहए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तगं सिद्धिगइणामधेज्जं ठाणं संपाविउकामे, अरहा, जिणे, केवली, सत्तहत्थुस्सेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वज्जरिसहनारायसंघयणे, अणुलोमवाउवेगे कंकग्गहणी कवोयपरिणामे, सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणए, पउमुप्पलगंधसरिसनिस्साससुरभिवयणे, छवी, निरायंक-उत्तमपसत्थ-अइसेयनिरुवमपले, जल्ल-मल्ल-कलंक-सेय-रय-दोसवज्जियसरीरनिरुवलेवे, छायाउज्जोइयंगमंगे, घणनिचियसुबद्ध-लक्खणुण्णयकूडागारनिभपिंडियग्गसिरए, सामलिबोंड-घणनिचियच्छोडियमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुन्दर-भुयमोयग-भिग-नील-कज्जल - पहट्ठभमरगणणिद्धनिकुरंबनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरए, दालिमपुप्फप्पगासतवणिज्जसरिसनिम्मलसुणिद्धकेसंतकेसभूमी, छत्तागारुत्तिमंगदेसे णिव्वण-सम-लट्ठ-मट्ठ-चंदद्धसमणिडाले, उडुवइपडिपुण्णसोमवयणे, अल्लीणपमाणजुत्तसवणे, सुस्सवणे, पीण-मंसल-कवोलदेसभाए, आणामियचावरुइल-किण्हब्भराइतणुकसिणणिद्धभमुहे, अवदालियपुंडरीयणयणे, कोआसियधवलपत्तलच्छे, गरुलाययउज्जुतुंगणासे, उवचियसिलप्पवाल-बिंबफलसण्णिभाहरोट्ठे, पंडुर-ससिसयलविमलणिम्मलसंख-गोक्खीरफेण-कुंद-दगरय-मुणालिया-धवलदंतसेढी, अखंडदंते, अप्फुडियदंते, अविरलदंते, सुणिद्धदंते, सुजायदंते, एगदंतसेढी विव अणेगदंते, हुयवहणिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहे, अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू, मंसल-संठिय-पसत्थ-सद्दूलविउलहणुए, चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसग्गीवे, वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल-उसभ-नागवर-पडिपुण्णविउलक्खंधे, जुगसन्निभपीण-रइयपीवरपउट्ठ-सुसंठिय-सुसिलिट्ठ-विसिट्ठ - घण-थिर-सुबद्धसंधिपुरवर-फलिहवट्टियभुए-भुयगीसरविउलभोगआयाणपलिहउच्छूढदीहबाहू, रत्ततलोवइय-मउय-मंसल-सुजाय-लक्खणपसत्थअच्छिद्दजालपाणी, पीवरकोमल-वरंगुली, आयंबतंबतलिणसुइरुइलणिद्धणखे, चंदपाणिलेहे, संखपाणिलेहे, चक्कपाणिलेहे, दिसासोत्थियपाणिलेहे, चंद-सूर-संख-चक्क-दिसासोत्थियपाणिलेहे, कणगसिलायलुज्जल-पसत्थ-समतल-उवचिय-विच्छिण्णपिहुलवच्छे, सिरिवच्छंकियवच्छे, अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी, अट्ठसहस्सपडिपुण्णवरपुरिसलक्खणधरे, सण्णयपासे, संगयपासे, सुंदरपासे, सुजायपासे, मियमाइयपीणरइयपासे, उज्जुय-समसहिय-जच्च-तणु-कसिण-णिद्ध-आइज्ज-लउह-रमणिज्जरोमराई, झस-विहग-सुजायपीणकुच्छी, झसोयरे, सुइकरणे पउमवियडणाभे, गंगावत्तगपयाहिणावत्त-तरंगभंगुर-रविकिरण-तरुण-बोहियअकोसायंत-पउमगंभीरविय डणाभे, साहयसोणंद-मुसलदप्पणणिकरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झे, पमुइयवरतुरग-सीहवरवट्टियकडी, वरतुरगसुजायसुगुज्झदेसे, आइण्णहउव्वणिरुवलेवे, वरवारणतुल्लविक्कमविलसियगई, गयससणसुजायसन्निभोरू, समुग्गणिमग्गगूढजाणू, एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघे, संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फे, सुप्पइट्ठियकुम्मचारुचलणे, अणुपुव्व-सुसंहयंगुलीए, उण्णयतणुतंबणिद्धणक्खे, रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलतले, अट्ठसहस्सवरपुरिसलक्खणधरे, नग-नगर-मगर-सागर-चक्क-कवरंग-मंगलंकियचलणे, विसिट्ठरूवे, हुयवहनिद्धूमजलियतडितडियतरुणरविकिरणसरिसतेए, अणासवे,अममे, अकिंचणे, छिन्नसोए,निरुवलेवे, ववगयपेम-राग-दोस-मोह, निग्गंथस्स पवयणस्स देसए, सत्थनायगे, पइट्ठावए, समणगपई, समणगविंदपरियट्टिए, चउत्तीसबुद्धवयणाइसेसपत्ते, पणतीससच्चवयणाइसेसपत्ते, आगासगएणं चक्केणं, आगासगएणं छत्तेणं, आगासियाहिं चामराहिं, आगासफलियामएणं सपायवीढेणं सीहासणेणं, धम्मिज्जाएणं पुरओ पकड्ढिज्जमाणेणं, चउट्ठसहि समणसाहस्सीहिं, छत्तीसाए अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं

चरमाणे, गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे चंपाए नयरीए बहिया उवणगरग्गामं उवागए चंपं नगरिं पुण्णभद्दं चेइयं समोसरिउकामे ।

१६—उस समय श्रमण—घोर तप या साधना रूप श्रम में निरत, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्यसम्पन्न, महावीर—उपद्रवों तथा विघ्नों के बीच साधना-पथ पर वीरतापूर्वक अविचल भाव से गतिमान्, आदिकर—अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म-तीर्थ—धर्मसंघ के प्रतिष्ठापक, स्वयं-संबुद्ध—स्वयं बिना किसी अन्य निमित्त के बोध-प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुषसिंह—आत्म-शौर्य में पुरुषों में सिंह-सदृश, पुरुषवर-पुंडरीक—मनुष्यों में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप—आसक्तिशून्य, पुरुषवर-गन्धहस्ती—पुरुषों में उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्ध-हस्ती के पहुंचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी क्षेत्र में जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, अभयप्रदायक—सभी प्राणियों के लिए अभयप्रद-संपूर्णतः अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नहीं करने वाले, चक्षु-प्रदायक-आन्तरिक नेत्र—सद्ज्ञान देने वाले, मार्ग-प्रदायक—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-पथ के उद्बोधक, शरणप्रद—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनप्रद—आध्यात्मिक जीवन के संबल, दीपक के सदृश समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा संसार-सागर में भटकते जनों के लिए द्वीप के समान आश्रयस्थान, प्राणियों के लिए आध्यात्मिक उद्बोधन के नाते शरण, गति एवं आधारभूत, चार अन्त-सीमा युक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, प्रतिघात—बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तछद्मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—संसार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—संसार-सागर से पार उतारने वाले, मुक्त—बाहरी और भीतरी ग्रन्थियों से छूटे हुए, मोचक—दूसरों को छुड़ाने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—औरों के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार में आगमन नहीं होता, ऐसी सिद्ध-गति—सिद्धावस्था नामक स्थिति पाने के लिए संप्रवृत्त, अर्हत्—पूजनीय, रागादिविजेता, जिन, केवली—केवलज्ञानयुक्त, सात हाथ की दैहिक ऊँचाई से युक्त, समचौरस संस्थान-संस्थित, वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन—अस्थिबन्ध युक्त, देह के अन्तर्वर्ती पवन के उचित वेग-गतिशीलता से युक्त, कंक पक्षी की तरह निर्दोष गुदाशय युक्त, कबूतर की तरह पाचन शक्ति युक्त, उनका अपान-स्थान उसी तरह निर्लेप था, जैसे पक्षी का, पीठ और पेट के नीचे के दोनों पार्श्व तथा जंघाएं सुपरिणित-सुन्दर-सुगठित थीं, उनका मुख पद्म—कमल अथवा पद्मनामक सुगन्धित द्रव्य तथा उत्पल—नील कमल या उत्पलकुष्ट नामक सुगन्धित द्रव्य जैसे सुरभिमय निःश्वास से युक्त था, छवि—उत्तम छविमान्—उत्तम त्वचा युक्त, नीरोग, उत्तम, प्रशस्त, अत्यन्त श्वेत मांस युक्त, जल्ल—कठिनाई से छूटने वाला मैल, मल्ल—आसानी से छूटने वाला मैल, कलंक—दाग, धब्बे, स्वेद—पसीना तथा रज-दोष—मिट्टी लगने से विकृति—वर्जित शरीर युक्त, अतएव निरुपलेप—अत्यन्त स्वच्छ, दीप्ति से उद्योतित प्रत्येक अंगयुक्त, अत्यधिक सघन, सुबद्ध स्नायुबंध सहित, उत्तम लक्षणमय पर्वत के शिखर के समान उन्नत उनका मस्तक था, बारीक रेशों से भरे सेमल के फल फटने से

निकलते हुए रेशों जैसे कोमल विशद, प्रशस्त, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण—मुलायम, सुरभित, सुन्दर, भुजमोचक, नीलम, भौंग, नील, कज्जल, प्रहृष्ट—सुपुष्ट भ्रमरवृन्द जैसे चमकीले काले, घने, घुंघराले, छल्लेदार केश उनके मस्तक पर थे, जिस त्वचा पर उनके बाल उगे हुए थे, वह अनार के फूल तथा सोने के समान दीप्तिमय, लाल, निर्मल और चिकनी थी, उनका उत्तमांग—मस्तक का ऊपरी भाग सघन, भरा हुआ और छत्राकार था, उनका ललाट निव्रण-फोड़े-फुन्सी आदि के घाव—चिह्न से रहित, समतल तथा सुन्दर एवं अर्द्ध चन्द्र के सदृश भव्य था, उनका मुख पूर्ण चन्द्र के समान सौम्य था, उनके कान मुख के साथ सुन्दर रूप में संयुक्त और प्रमाणोपेत—समुचित आकृति के थे, इसलिए वे बड़े सुहावने लगते थे, उनके कपोल मांसल और परिपुष्ट थे, उनकी भौंहें कुछ खींचे हुए धनुष के समान सुन्दर—टेढ़ी, काले बादल की रेखा के समान कृश—पतली, काली एवं स्निग्ध थीं, उनके नयन खिले हुए पुंडरीक-सफेद कमल के समान थे, उनकी आँखें पद्म—कमल की तरह विकसित, धवल तथा पत्रल—बरौनी युक्त थीं, उनकी नासिका गरुड़ की तरह—गरुड़ की चोंच की तरह लम्बी, सीधी और उन्नत थी, संस्कारित या सुघटित मूंगे की पट्टी-जैसे या बिम्ब फल के सदृश उनके होठ थे, उनके दांतों की श्रेणी निष्कलंक चन्द्रमा के टुकड़े, निर्मल से भी निर्मल शंख, गाय के दूध, फेन, कुंद के फूल, जलकण और कमल-नाल के समान सफेद थी, दाँत अखंड, परिपूर्ण, अस्फुटित—सुदृढ़, टूट फूट रहित, अविरल—परस्पर सटे हुए, सुस्निग्ध—चिकने—आभामय, सुजात—सुन्दराकार थे, अनेक दाँत एक दन्तश्रेणी की तरह प्रतीत होते थे, जिह्वा और तालु अग्नि में तपाये हुए और जल से धोये हुए स्वर्ण के समान लाल थे, उनकी दाढ़ी-मूंछ अवस्थित—कभी नहीं बढ़ने वाली, सुविभक्त बहुत हलकी-सी तथा अद्भुत सुन्दरता लिए हुए थी, ठुड्डी मांसल—सुपुष्ट, सुगठित, प्रशस्त तथा चीते की तरह विपुल—विस्तीर्ण थी, ग्रीवा—गर्दन चार अंगुल प्रमाण—चार अंगुल चौड़ी तथा उत्तम शंख के समान त्रिवलियुक्त एवं उन्नत थी, उनके कन्धे प्रबल भैंसे, सूअर, सिंह, चीते, सांड तथा उत्तम हाथी के कन्धों जैसे परिपूर्ण एवं विस्तीर्ण थे, उनकी भुजाएं युग-गाड़ी के जुए अथवा यूप—यज्ञ स्तम्भ—यज्ञ के खूंटे की तरह गोल और लम्बी, सुदृढ़, देखने में आनन्दप्रद, सुपुष्ट कलाइयों से युक्त, सुश्लिष्ट—सुसंगत, विशिष्ट, घन—ठोस, स्थिर, स्नायुओं से यथावत् रूप में सुबद्ध तथा नगर की अर्गला—आगल के समान गोलाई लिए हुए थीं, इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए नागराज के फैले हुए विशाल शरीर की तरह उनके दीर्घ बाहु थे, उनके पाणि—कलाई से नीचे के हाथ के भाग उन्नत, कोमल, मांसल तथा सुगठित थे, शुभ लक्षणों से युक्त थे, अंगुलियाँ मिलाने पर उनमें छिद्र दिखाई नहीं देते थे, उनके तल—हथेलियाँ ललाई लिए हुए, पतली, उजली, रुचिर—देखने में रुचिकर, स्निग्ध सुकोमल थीं, उनकी हथेली में चन्द्र, सूर्य, शंख, चक्र, दक्षिणावर्त स्वस्तिक की शुभ रेखाएं थी, उनका वक्षस्थल—सीना स्वर्ण-शिला के तल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त समतल, उपचित—मांसल, विस्तीर्ण चौड़ा, पृथुल—(विशाल) था, उस पर श्रीवत्स—स्वस्तिक का चिह्न था, देह की मांसलता या परिपुष्टता के कारण रीढ़ की हड्डी नहीं दिखाई देती थी, उनका शरीर स्वर्ण के समान कान्तिमान्, निर्मल, सुन्दर, निरुपहत—रोग-दोष-वर्जित था, उसमें उत्तम पुरुष के १००८ लक्षण पूर्णतया विद्यमान थे, उनकी देह के पार्श्व भाग—पसवाड़े नीचे की ओर क्रमशः संकड़े, देह के प्रमाण के अनुरूप, सुन्दर, सुनिष्पन्न, अत्यन्त समुचित परिमाण में मांसलता लिए हुए मनोहर थे, उनके वक्ष और उदर पर सीधे, समान, संहित—एक दूसरे से मिले हुए, उत्कृष्ट कोटि के, सूक्ष्म—हलके, काले, चिकने उपादेय—उत्तम, लावण्यमय, रमणीय बालों की पंक्ति थी, उनके

कुक्षिप्रदेश—उदर के नीचे के दोनों पार्श्व मत्स्य और पक्षी के समान सुजात—सुनिष्पन्न—सुन्दर रूप में अवस्थित तथा पीन—परिपुष्ट थे, उनका उदर मत्स्य जैसा था, उनके उदर का कारण—आन्त्र समूह शुचि-स्वच्छ—निर्मल था, उनकी नाभि कमल की तरह विकट—गूढ़, गंगा के भंवर की तरह गोल, दाहिनी ओर चक्कर काटती हुई तरंगों की तरह घुमावदार, सुन्दर, चमकते हुए सूर्य की किरणों से विकसित होते कमल के समान खिली हुई थी तथा उनकी देह का मध्यभाग त्रिकाष्ठिका, मूसल व दर्पण के हत्थे के मध्य-भाग के समान, तलवार की मूठ के समान तथा उत्तम वज्र के समान गोल और पतला था, प्रमुदित—रोग-शोकादि, रहित—स्वस्थ, उत्तम घोड़े तथा उत्तम सिंह की कमर के समान उनकी कमर गोल घेराव लिए थी, उत्तम घोड़े के सुनिष्पन्न गुप्तांग की तरह उनका गुह्य भाग था, उत्तम जाति के अश्व की तरह उनका शरीर 'मलमूत्र' विसर्जन की अपेक्षा से निर्लेप था, श्रेष्ठ हाथी के तुल्य पराक्रम और गम्भीरता लिए उनकी चाल थी, हाथी की सूंड की तरह उनकी जंघाएं सुगठित थीं, उनके घुटने डिब्बे के ढक्कन की तरह निगूढ़ थे—मांसलता के कारण अनुन्नत—बाहर नहीं निकले हुए थे, उनकी पिण्डलियाँ हरिणी की पिण्डलियों, कुरुविन्द घास तथा कते हुए सूत की गेंडी की तरह क्रमशः उतार सहित गोल थीं, उनके टखने सुन्दर, सुगठित और निगूढ थे, उनके चरण—पैर सुप्रतिष्ठित—सुन्दर रचनायुक्त तथा कछुए की तरह उठे हुए होने से मनोज्ञ प्रतीत होते थे, उनके पैरों की अंगुलियाँ क्रमशः आनुपातिक रूप में छोटी-बड़ी एवं सुसंहत—सुन्दर रूप में एक दूसरे से सटी हुई थीं, पैरों के नख उन्नत, पतले, तांबे की तरह लाल, स्निग्ध—चिकने थे, उनकी पगथलियाँ लाल कमल के पत्ते के समान मृदुल, सुकुमार तथा कोमल थीं, उनके शरीर में उत्तम पुरुषों के १००८ लक्षण प्रकट थे, उनके चरण पर्वत, नगर, मगर, सागर तथा चक्र रूप उत्तम चिह्नों और स्वस्तिक आदि मंगल-चिह्नों से अंकित थे, उनका रूप विशिष्ट—असाधारण था, उनका तेज निर्धूम अग्नि की ज्वाला, विस्तीर्ण विद्युत् तथा अभिनव सूर्य की किरणों के समान था, वे प्राणातिपात आदि आस्रव-रहित, ममता-रहित थे, अकिंचन थे, भव-प्रवाह को उच्छिन्न कर चुके थे—जन्म मरण से अतीत हो चुके थे, निरुपलेप—द्रव्य-दृष्टि से निर्मल देहधारी तथा भाव-दृष्टि से कर्मबन्ध के हेतु रूप उपलेप से रहित थे, प्रेम, राग, द्वेष और मोह का नाश कर चुके थे, निर्ग्रन्थ-प्रवचन के उपदेष्टा, धर्म-शासन के नायक—शास्ता, प्रतिष्ठापक तथा श्रमण-पति थे, श्रमण वृन्द से घिरे हुए थे, जिनेश्वरों के चौतीस बुद्ध-अतिशयों से तथा पैंतीस सत्य-वचनातिशयों से युक्त थे, आकाशगत चक्र, छत्र, आकाशगत चंवर, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक से बने पाद-पीठ सहित सिंहासन, धर्मध्वज—ये उनके आगे चल रहे थे, चौदह हजार साधु तथा छत्तीस हजार साध्वियों से संपरिवृत—घिरे हुए थे, आगे से आगे चलते हुए, एक गाँव से दूसरे गाँव होते हुए सुखपूर्वक विहार करते हुए चम्पा के बाहरी उपनगर में पहुँचे, जहाँ से उन्हें चम्पा में पूर्णभद्र चैत्य में पधारना था।

प्रवृति-व्यापृत द्वारा सूचना

१७—तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए, पीइमणे, परमसोमणस्सिए, हरिसवसविसप्पमाणहियए, ण्हाए, कयबलिकम्मे, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते, सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिए, अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव कोणियस्स रण्णो गिहे, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावित्ता एवं वयासी—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१७—प्रवृत्ति-निवेदक को जब यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात मालूम हुई, वह हर्षित एवं परितुष्ट हुआ। उसने अपने मन में आनन्द तथा प्रीति—प्रसन्नता का अनुभव किया। सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक से उसका हृदय खिल उठा। उसने स्नान किया, नित्यनैमित्तिक कृत्य किये, कौतुक—देहसज्जा की दृष्टि से नेत्रों में अंजन आंजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दुःस्वप्नादि दोषनिवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दही, अक्षत, आदि से मंगल-विधान किया, शुद्ध, प्रवेश्य—राजसभा में प्रवेशोचित—उत्तम वस्त्र भलीभाँति पहने, थोड़े से—संख्या में कम पर बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। यों (सजकर) वह अपने घर से निकला। (घर से) निकलकर वह चम्पा नगरी के बीच जहाँ राजा कूणिक का महल था, जहाँ बहिर्वर्ती राजसभा-भवन था, जहाँ भंभसार का पुत्र राजा कूणिक था, वहाँ आया। (वहाँ) आकर उसने हाथ जोड़ते हुए, उन्हें सिर के चारों ओर घुमाते हुए, अंजलि बांधे "आपकी जय हो, विजय हो" इन शब्दों में वर्धापित किया। तत्पश्चात् इस प्रकार बोला—

१८—जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं कंखंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पीहंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पत्थंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं अभिलसंति, जस्स णं देवाणुप्पिया णामगोयस्स वि सवणयाए हट्ठतुट्ठ जाव (चित्तमाणंदिया, पीइमणा, परम-सोमणस्सिया) हरिसवसविसप्पमाणहियया भवंति, से णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे चंपाए णयरीए उवणगरग्गामं उवागए, चंपं णगरिं पुण्णभद्दं चेइयं समोसरिउकामे। तं एवं देवाणुप्पियाणं पियट्ठयाए पियं णिवेदेमि, पियं ते भवउ॥

१८—देवानुप्रिय (सौम्यचेता राजन्)! जिनके दर्शन की आप कांक्षा करते हैं—प्राप्त होने पर छोड़ना नहीं चाहते, स्पृहा करते हैं—दर्शन न हुए हों तो करने की इच्छा लिये रहते हैं, प्रार्थना करते हैं—दर्शन हों, सुहृज्जनों से वैसे उपाय जानने की अपेक्षा रखते हैं, अभिलाषा करते हैं—जिनके दर्शन हेतु अभिमुख होने की कामना करते हैं, जिनके नाम (महावीर, ज्ञातपुत्र, सन्मति आदि) तथा गोत्र (कश्यप) के श्रवणमात्र से हर्षित एवं परितुष्ट होते हैं, मन में आनन्द तथा प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक से हृदय खिल उठता है, वे श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से विहार करते हुए, एक गांव से दूसरे गाँव होते हुए चम्पा नगरी के उपनगर में पधारे हैं। अब पूर्णभद्र चैत्य में पधारेंगे। देवानुप्रिय! आपके प्रीत्यर्थ—प्रसन्नता हेतु यह प्रिय समाचार मैं आपको निवेदित कर रहा हूँ। यह आपके लिए प्रियकर हो।

१९—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते तस्स पवित्तिवाउयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए, वियसियवरकमलणयणवयणे, पयलियवरकडग-तुडिय-केऊर-मउड-कुंडल-हार-विरायंतरइयवच्छे, पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरियं, चवलं नरिंदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता, पाउयाओ ओमुयइ, ओमुइत्ता अवहट्टु पंच रायक-कुहाइं, तं जहा—१. खग्गं, २. छत्तं, ३. उप्फेसं, ४. वाहणाओ, ५. वालवीयणं, एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ, करेत्ता आयंते, चोक्खे, परमसुइभूए, अंजलिमउलियहत्थे तित्थगराभिमुहे सत्तट्ठ, पयाइं अणुगच्छइ, सत्तट्ठपयाइ अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ, वामं जाणुं अंचेत्ता दाहिणं

१. देखें सूत्र-संख्या १८

जाणुं धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमित्ता कडगतुडियथंभियाओ भुयाओ पडिसाहरइ, पडिसाहरित्ता करयल जाव (—परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि) कट्टु एवं वयासी।

१९—भंभसार का पुत्र राजा कूणिक वार्तानिवेदक से यह सुनकर, उसे हृदयंगम कर हर्षित एवं परितुष्ट हुआ। उत्तम कमल के समान उसका मुख तथा नेत्र खिल उठे। हर्षातिरेकजनित संस्फूर्तिवश राजा के हाथों के उत्तम कड़े, बाहुरक्षिका—भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखने वाली आभरणात्मक पट्टी, केयूर—भुजबन्ध, मुकुट, कुण्डल तथा वक्षःस्थल पर शोभित हार सहसा कम्पित हो उठे—हिल उठे।

राजा के गले में लम्बी माला लटक रही थी, आभूषण झूल रहे थे। राजा आदरपूर्वक शीघ्र सिंहासन से उठा। (सिंहासन से) उठकर, पादपीठ (पैर रखने के पीढ़े) पर पैर रखकर नीचे उतरा। नीचे उतर कर पादुकाएँ उतारीं। फिर खड्ग, छत्र, मुकुट, वाहन, चंवर—इन पांच राजचिह्नों को अलग किया। जल से आचमन किया, स्वच्छ तथा परम शुचिभूत अति स्वच्छ व शुद्ध हुआ। कमल की कली की तरह हाथों को संपुटित किया—हाथ जोड़े। जिस ओर तीर्थंकर भगवान् महावीर विराजित थे, उस ओर सात, आठ कदम सामने गया। वैसा कर अपने बायें घुटने को आकुंचित—संकुचित किया—सिकोड़ा, दाहिने घुटने को भूमि पर टिकाया, तीन बार अपना मस्तक जमीन से लगाया। फिर वह कुछ ऊपर उठा, कंकण तथा बाहुरक्षिका से सुस्थिर भुजाओं को उठाया, हाथ जोड़े, अंजलि (जुड़े हुए हाथों) को मस्तक के चारों ओर घुमाकर बोला।

कूणिक द्वारा भगवान् का परोक्ष वन्दन

२०—णमोऽत्थु णं अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थगराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं, लोगहियाणं लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, दीवो, ताणं, सरणं, गई, पइट्ठा, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं, वियट्टछउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्वण्णूणं, सव्वदरिसीणं, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तगं, सिद्धिगइणामधेज्जं ठाणं संपत्ताणं।

नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स, आदिगरस्स, तित्थगरस्स जाव[1] संपाविउकामस्स, मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स। वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए, पासउ मे भगवं तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए, पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, निसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउयस्स अट्ठुत्तरं सयसहस्सं पीइदाणं दलयइ, दलइत्ता सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता एवं वयासी—

२०—अर्हंत—इन्द्र आदि द्वारा पूजित अथवा कर्मशत्रुओं के नाशक, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्य सम्पन्न, आदिकर—अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका

---

१. इस सूत्र में आये भगवान् के सभी विशेषण षष्ठी एकवचनान्त होकर यहाँ लगेंगे।

रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ—धर्मसंघ के प्रवर्तक, स्वयंसंबुद्ध—स्वयं बोधप्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुषसिंह—आत्मशौर्य में पुरुषों में सिंहसदृश, पुरुषवरपुण्डरीक—सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने के कारण पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान अथवा मनुष्यों में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप, पुरुषवर-गन्धहस्ती—उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्धहस्ती के पहुँचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उस प्रकार किसी क्षेत्र में जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, लोकोत्तम—लोक के सभी प्राणियों में उत्तम, लोकनाथ—लोक के सभी भव्य प्राणियों के स्वामी—उन्हें सम्यक्दर्शन एवं सन्मार्ग प्राप्त कराकर उनका योग-क्षेम[1] साधने वाले, लोकहितकर—लोक का कल्याण करने वाले, लोकप्रदीप—ज्ञान रूपी दीपक द्वारा लोक का अज्ञान दूर करने वाले अथवा लोकप्रतीप—लोकप्रवाह के प्रतिकूलगामी—अध्यात्मपथ पर गतिशील, लोकप्रद्योतकर—लोक, अलोक, जीव, अजीव आदि का स्वरूप प्रकाशित करने वाले अथवा लोक में धर्म का उद्योत फैलाने वाले, अभयदायक—सभी प्राणियों के लिए अभयप्रद—सम्पूर्णतः अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नहीं करने वाले, चक्षुदायक—आन्तरिक नेत्र—सद्ज्ञान देने वाले, मार्गदायक—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधनापथ के उद्बोधक, शरणदायक—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनदायक—आध्यात्मिक जीवन के संबल, बोधिदायक—सम्यक् बोध देने वाले, धर्मदायक—सम्यक् चारित्र रूप धर्म के दाता, धर्मदेशक—धर्मदेशना देने वाले, धर्मनायक, धर्मसारथि—धर्मरूपी रथ के चालक, धर्मवरचातुरन्त-चक्रवर्ती—चार अन्त—सीमायुक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, दीप—दीपक सदृश समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा द्वीप—संसार समुद्र में डूबते हुए जीवों के लिए द्वीप के समान बचाव के आधार, त्राण—कर्मकदर्थित भव्य प्राणियों के रक्षक, शरण—आश्रय, गति एवं प्रतिष्ठास्वरूप, प्रतिघात, बाधा या आवरणरहित उत्तम ज्ञान, दर्शन के धारक, व्यावृत्तछद्मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—संसार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—दूसरों को संसार-सागर से पार उतारने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—औरों के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार में आगमन नहीं होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्था को प्राप्त किये हुए—सिद्धों को नमस्कार हो।

आदिकर, तीर्थंकर, सिद्धावस्था पाने के इच्छुक (तदर्थ समुद्यत), मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर को मेरा नमस्कार हो। यहाँ स्थित मैं, वहाँ स्थित भगवान् को वन्दन करता हूँ। वहाँ स्थित भगवान् यहाँ स्थित मुझको देखते हैं।

इस प्रकार राजा कूणिक भगवान् को वन्दन करता है, नमस्कार करता है। वन्दन-नमस्कार कर पूर्व की ओर मुँह किये अपने उत्तम सिंहासन पर बैठा। (बैठकर) एक लाख आठ हजार मुद्राएँ वार्तानिवेदक को प्रीतिदान—तुष्टिदान या पारितोषिक के रूप से दीं। उत्तम वस्त्र आदि द्वारा

---

१. अप्राप्तस्य प्रापणं योगः—जो प्राप्त नहीं है, उसका प्राप्त होना योग कहा जाता है। प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः—प्राप्त की रक्षा करना क्षेम है।

उसका सत्कार किया, आदरपूर्ण वचनों से सम्मान किया। यों सत्कार तथा सम्मान कर उसने कहा—

२१—जया णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे इहमागच्छेज्जा, इह समोसरिज्जा, इहेव चंपाए णयरीए बहिया पुणभद्दे चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरेज्ज, तया णं मम एयमट्ठं निवेदिज्जासित्ति कट्टु विसज्जिए।

२१—देवानुप्रिय ! जब श्रमण भगवान् महावीर यहाँ पधारें, समवसृत हों, यहाँ चम्पानगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य में यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विराजित हों, मुझे यह समाचार निवेदित करना। यों कहकर राजा ने वार्तानिवेदक को वहाँ से विदा किया।

भगवान् का चम्पा में आगमन

२२—तए णं समणे भगवं महावीरे कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए, फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियंमि अहपंडुरे पहाए, रत्तासोगप्पगास-किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धरागसरिसे, कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि, सूरे सहस्सरस्सिम दिणयरे तेयसा जलंते, जेणेव चंपा णयरी, जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अहापडिरूवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

२२—तत्पश्चात् अगले दिन रात बीत जाने पर, प्रभात हो जाने पर, नीले तथा अन्य कमलों के सुहावने रूप में खिल जाने पर, उज्ज्वल प्रभायुक्त एवं लाल अशोक, किंशुक—पलाश, तोते की चोंच, घुंघची के आधे भाग के सदृश लालिमा लिये हुए, कमलवन को उद्बोधित—विकसित करने वाले, सहस्रकिरणयुक्त, दिन के प्रादुर्भावक सूर्य के उदित होने पर, अपने तेज से उद्दीप्त होने पर श्रमण भगवान् महावीर, जहाँ चम्पा नगरी थी, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे। पधार कर यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विराजे।

भगवान् के अन्तेवासी

२३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइया, भोगपव्वइया, राइण्ण-णायकोरव्वखत्तियपव्वइया, भडा, जोहा, सेणावई पसत्थारो, सेट्ठी, इब्भा, अण्णे य बहवे एवमाइणो उत्तमजाइकुलरूवविणयविण्णाणवण्णलावण्णविक्कमपहाणसोभग्गकंतिजुत्ता, बहुधणधण्णणिचयपरियालफिडिया, णरवइगुणाइरेगा, इच्छियभोगा, सुहसंपललिया किंपागफलोवमं च मुणिय विसयसोक्खं जलबुब्बुयसमाणं, कुसग्गजलबिन्दुचंचलं जीवियं य णाऊण अद्धुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ताणं चइत्ता हिरण्णं जाव (चिच्चा सुवण्णं, चिच्चा धणं—एवं धण्णं बलं वाहणं कोसं कोट्ठागारं रज्जं रट्ठं पुरं अन्तेउरं चिच्चा, विउलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयणमाइयं संतसारसावतेज्जं विच्छड्डइत्ता, विगोवइत्ता, दाणं च दाइयाणं परिभायइत्ता, मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं) पव्वइया, अप्पेगइया अद्धमासपरियाया, अप्पेगइया मासपरियाया—एवं दुमास-तिमास जाव (चउमास-पंचमास-छमास-सत्तमास-अट्ठमास-

नवमास-दसमास-) एक्कारस-मास परियाया, अप्पेगइया बासपरियाया, दुवासपरियाया तिवास परियाया अप्पेगइया अणेगवासपरियाया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।।

२३—तब श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी—शिष्य बहुत से श्रमण संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे। उनमें अनेक ऐसे थे, जो उग्र—आरक्षक अधिकारी, भोग—राजा के मंत्रीमंडल के सदस्य, राजन्य—राजा के परामर्शमंडल के सदस्य, ज्ञात—ज्ञातवंशीय या नागवंशीय, कुरुवंशीय, क्षत्रिय—क्षत्रिय वंश के राजकर्मचारी, सुभट, योद्धा—युद्धोपजीवी—सैनिक, सेनापति, प्रशास्ता—प्रशासन-अधिकारी, सेठ, इभ्य—हाथी डूब जाय एतत्प्रमाण धनराशि युक्त—अत्यन्त धनिक—इन इन वर्गों में से दीक्षित हुए थे। और भी बहुत से उत्तम जाति—उत्तम मातृपक्ष, उत्तम कुल—पितृपक्ष, सुन्दररूप, विनय, विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान, वर्ण—दैहिक आभा, लावण्य-आकार की स्पृहणीयता, विक्रम—पराक्रम, सौभाग्य तथा कान्ति से सुशोभित, विपुल धन-धान्य के संग्रह और पारिवारिक सुख-समृद्धि से युक्त, राजा से प्राप्त अतिशय वैभव सुख आदि से युक्त इच्छित भोगप्राप्त तथा सुख से लालित-पालित थे, जिन्होंने सांसारिक भोगों के सुख को किंपाक फल के सदृश असार, जीवन को जल में बुलबुले तथा कुश के सिरे पर स्थित जल की बूंद की तरह चंचल जानकर सांसारिक अध्रुव—अस्थिर पदार्थों को वस्त्र पर लगी हुई रज के समान झाड़ कर,—हिरण्य—रौप्य या रूपा, सुवर्ण—घड़े हुए सोने के आभूषण, धन—गायें आदि, धान्य, बल—चतुरंगिणी सेना, वाहन, कोश—खजाना, कोष्ठागार—धान्य-भण्डार, राज्य, राष्ट्र, पुर—नगर, अन्तःपुर, प्रचुर धन, कनक—बिना घड़ा हुआ सुवर्ण, रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, मूंगे, लाल रत्न—मानिक आदि बहुमूल्य सम्पत्ति का परित्याग कर, वितरण द्वारा सुप्रकाशित कर, दान योग्य व्यक्तियों को प्रदान कर, मुंडित होकर अगार—गृह जीवन से, अनगार—श्रमण जीवन में दीक्षित हुए। कइयों को दीक्षित हुए आधा महीना, कइयों को एक महीना, दो महीने (तीन महीने, चार महीने, पाँच महीने, छह महीने, सात महीने, आठ महीने, नौ महीने, दश महीने) और ग्यारह महीने हुए थे, कइयों को एक वर्ष, कइयों को दो वर्ष, कइयों को तीन वर्ष तथा कइयों को अनेक वर्ष हुए थे।

ज्ञानी, शक्तिधर, तपस्वी

२४—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे निग्गंथा भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव (सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी,) केवलणाणी। अप्पेगइया मणबलिया, वयबलिया कायबलिया। अप्पेगइया मणेणं सावाणुग्गहसमत्था एवं—वएणं काएणं। अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, एवं जल्लोसहिपत्ता, विप्पोसहिपत्ता, आमोसहिपत्ता, सव्वोसहिपत्ता। अप्पेगइया कोट्ठबुद्धी एवं बीयबुद्धी, पडबुद्धी। अप्पेगइया पयाणुसारी, अप्पेगइया संभिन्नसोया अप्पेगइया खीरासवा, महुआसवा अप्पेगइया सप्पिआसवा अप्पेगइया अक्खीणमहाणसिया एवं उज्जुमई अप्पेगइया विउलमई, विउव्वणिड्ढिपत्ता, चारणा, विज्जाहरा, आगासाइवाईणो। अप्पेगइया कणगावलितवोकम्मं पडिवण्णा, एवं एगावलिं खुड्डागसीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा, अप्पेगइया महालयं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा, भद्दपडिमं, महाभद्दपडिमं सव्वओभद्दपडिमं, आयंबिलवद्धमाणं तवोकम्मं पडिवण्णा, मासियं भिक्खुपडिमं एवं दोमासियं पडिमं, तिमासियं पडिमं जाव (चउमासियं पडिमं, पंचमासियं पडिमं, छमासियं पडिमं,) सत्तमासियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, पढमं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा जाव (बीयं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा,) तच्चं

सत्तराइंदियभिक्खुपडिमं पडिवण्णा, अहोराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, एक्कराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं, अट्ठअट्ठमियं भिक्खुपडिमं, णवणवमियं भिक्खुपडिमं, दसदसमिय भिक्खुपडिमं, खुड्डियं मोयपडिमं पडिवण्णा, महल्लियं मोयपडिमं पडिवण्णा, जवमज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा, वइरमज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा संजमेण, तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

२४—उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से निर्ग्रन्थ संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

उनमें कई मतिज्ञानी (श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी) तथा केवलज्ञानी थे। अर्थात् कई मति तथा श्रुत, कई मति, श्रुत तथा अवधि, या मति, श्रुत एवं मनःपर्यव, कई मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यव—यों दो, तीन, चार ज्ञानों के धारक एवं कई केवलज्ञान के धारक थे।

कई मनोबली—मनोबल या मनः-स्थिरता के धारक, वचनबली—प्रतिज्ञात आशय के निर्वाहक या परपक्ष को क्षुभित करने में सक्षम वचन-शक्ति के धारक तथा कायबली—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि प्रतिकूल शारीरिक स्थितियों को अग्लान भाव से सहने में समर्थ थे। अर्थात् कइयों में मनोबल, वचनबल तथा कायबल—तीनों का वैशिष्ट्य था, कइयों में वचनबल तथा कायबल—दो का वैशिष्ट्य था और कइयों में कायबल का वैशिष्ट्य था)।

कई मन से शाप—अपकार तथा अनुग्रह—उपकार करने का सामर्थ्य रखते थे, कई वचन द्वारा अपकार एवं उपकार करने में सक्षम थे तथा कई शरीर द्वारा अपकार व उपकार करने में समर्थ थे।

कई खेलौषधिप्राप्त—खंखार से रोग मिटाने की शक्ति से युक्त थे। कई शरीर के मैल, मूत्रबिन्दु, विष्ठा तथा हाथ आदि के स्पर्श से रोग मिटा देने की विशेष शक्ति प्राप्त किये हुए थे। कई ऐसे थे, जिनके बाल, नाखून, रोम, मल आदि सभी औषधिरूप थे—वे इन से रोग मिटा देने की क्षमता लिये हुए थे। (ये लब्धिजन्य विशेषताएँ थीं)।

कई कोष्ठबुद्धि—कुशूल या कोठार में भरे हुए सुरक्षित अन्न की तरह प्राप्त सूत्रार्थ को अपने में ज्यों का त्यों धारण किये रहने की बुद्धिवाले थे। कई बीजबुद्धि—विशाल वृक्ष को उत्पन्न करने वाले बीज की तरह विस्तीर्ण, विविध अर्थ प्रस्तुत करनेवाली बुद्धि से युक्त थे। कई पटबुद्धि—विशिष्ट वक्तृत्व रूपी वनस्पति से प्रस्फुटित विविध, प्रचुर सूत्रार्थ रूपी पुष्पों और फलों को संगृहीत करने में समर्थ बुद्धि लिये हुए थे। कई पदानुसारी—सूत्र के एक अवयव या पद के ज्ञात होने पर उसके अनुरूप सैकड़ों पदों का अनुसरण करने की बुद्धि—लिये हुए थे।

कई संभिन्नश्रोता—बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न शब्दों को, जो अलग-अलग बोले जा रहे हों, एक साथ सुनकर स्वायत्त करने की क्षमता लिये हुए थे। अथवा जिनकी सभी इन्द्रियाँ शब्द ग्रहण में समक्ष थीं—कानों के अतिरिक्त जिनकी दूसरी इन्द्रियों में भी शब्दग्राहिता की विशेषता थी।

कई क्षीरास्रव—दूध के समान मधुर, श्रोताओं के श्रवणेन्द्रिय और मन को सुहावने लगने वाले वचन बोलते थे। कई मध्वास्रव ऐसे थे, जिनके वचन मधु—शहद के समान सर्वदोषोपशामक तथा आह्लादजनक थे। कई सर्पि-आस्रव—थे, जो अपने वचनों द्वारा घृत की तरह स्निग्धता उत्पन्न करने वाले थे।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कई अक्षीणमहानसिक—ऐसे थे, जो जिस घर से भिक्षा ले आएं, उस घर की बची हुई भोज्य सामग्री जब तक भिक्षा देनेवाला स्वयं भोजन न कर ले, तब तक लाख मनुष्यों को भोजन करा देने पर भी समाप्त नहीं होती।

कई ऋजुमति[1] तथा कई विपुलमति[2] मनःपर्यवज्ञान के धारक थे।

कई विकुर्वणा—भिन्न-भिन्न रूप बना-लेने की शक्ति से युक्त थे। कई चारण—गति-सम्बन्धी विशिष्ट क्षमता लिये हुए थे। कई विद्याधरप्रज्ञप्ति आदि विद्याओं के धारक थे। कई आकाशातिपाती—आकाशगामिनी शक्ति-सम्पन्न थे अथवा आकाश से हिरण्य आदि इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थों की वर्षा कराने का जिनमें सामर्थ्य था अथवा आकाशातिवादी—आकाश आदि अमूर्त पदार्थों को सिद्ध करने में जो समर्थ थे।

कई कनकावली तप करते थे। कई एकावली तप करने वाले थे। कई लघुसिंहनिष्क्रीडित तप करने वाले थे तथा कई महासिंहनिष्क्रीडित तप करने में संलग्न थे। कई भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा तथा आयंबिल वर्द्धमान तप करते थे।

कई एकमासिक भिक्षुप्रतिमा, इसी प्रकार (द्वैमासिक भिक्षुप्रतिमा, त्रैमासिक भिक्षुप्रतिमा, चातुर्मासिक भिक्षुप्रतिमा, पाञ्चमासिक भिक्षुप्रतिमा, षाण्मासिक भिक्षुप्रतिमा, तथा) साप्तमासिक भिक्षुप्रतिमा ग्रहण किये हुए थे। कई प्रथम सप्तरात्रिन्दिवा—सात रात दिन की भिक्षुप्रतिमा, (कई द्वितीय सप्तरात्रिन्दिवा भिक्षुप्रतिमा) तथा कई तृतीय सप्तरात्रिन्दिवा भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई एक रातदिन की भिक्षुप्रतिमा ग्रहण किये हुए थे। कई सप्तसप्तमिका—सात-सात दिनों की सात इकाइयों या सप्ताहों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई अष्टअष्टमिका—आठ-आठ दिनों की आठ इकाइयों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई नवनवमिका—नौ-नौ दिनों की नौ इकाइयों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई दशदशमिका—दश-दश दिनों की दश इकाइयों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे। कई लघुमोकप्रतिमा, कई यवमध्यचन्द्रप्रतिमा तथा कई वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा के धारक थे।

विवेचन—तपश्चर्या के बारह भेदों[3] में पहला अनशन है। अनशन का अर्थ तीन[4] या चार[5] आहारों का त्याग करना है। चारों आहारों का त्याग कर देने पर कुछ नहीं लिया जा सकता। तीन आहारों के त्याग में केवल प्रासुक पानी लिया जा सकता है। इसकी अवधि कम से कम एक दिन (दिन-रात) है, अधिक से अधिक छह मास है। समाधिमरणकालीन अनशन जीवनपर्यन्त होता है।

तपश्चर्या से संचित कर्म निर्जीर्ण होते हैं—कटते हैं। ज्यों-ज्यों कर्मों का निर्जरण होता जाता

---

१. समनस्क जीवों के मन को अर्थात् मन की चिन्तन के अनुरूप होने वाली पर्यायों को सामान्य रूप से जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान कहा जाता है।

२. समनस्क जीवों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि अपेक्षाओं से सविशेष रूप में मन अर्थात् मानसिक चिन्तन के अनुरूप होने वाली पर्यायों को जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे विपुलमति मनःपर्यवज्ञान कहा जाता है।

३. अनशन, अवमौदर्य—ऊनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान। —तत्त्वार्थसूत्र ९.१९-२०

४. अशन, खाद्य, स्वाद्य।

५. अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य।

है, ज्यों-ज्यों आत्मा उज्जवल होती जाती है। अनशनमूलक तपस्या करने वाला साधक, आहार के अभाव में जो शारीरिक कष्ट होता है, उसे आत्मबल तथा दृढ़तापूर्वक सहन करता है। वह पादार्थिक जीवन से हटता हुआ आध्यात्मिक जीवन का सक्षात्कार करने को प्रयत्नशील रहता है।

अनशन के लिए उपवास शब्द का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। 'उप' उपसर्ग 'समीप' के अर्थ में है तथा वास का अर्थ निवास है। यों उपवास का अर्थ आत्मा के समीप निवास करना होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साधक अशन—भोजन से, जो जीवन की दैनन्दिन आवश्यकताओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, विरत होने का अभ्यास इसलिए करता है कि वह दैहिकता से आत्मिकता या बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की ओर गतिशील हो सके, आत्मा का शुद्ध स्वरूप, जिसे अधिगत करना, जीवन का परम साध्य है, साधने में स्फूर्ति अर्जित कर सके। अतएव उपवास का जहाँ निषेध-मूलक अर्थ भोजन का त्याग है, वहाँ विधिमूलक तात्पर्य आत्मा के—अपने आपके समीप अवस्थित होने या आत्मानुभूति करने से जुड़ा है।

जैनधर्म में अनशनमूलक तपश्चरण का बड़ा क्रमबद्ध विकास हुआ। तितिक्षु एवं मुमुक्षु साधकों का उस ओर सदा से झुकाव रहा। प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर के अन्तेवासी उन श्रमणों की चर्चा है, जो विविध प्रकार से इस तपःकर्म में अभिरत थे। यहाँ संकेतित कनकावली, एकावली, लघुसिंहनिष्क्रीडित, महासिंहनिष्क्रीडित आदि तपोभेदों का विश्लेषण पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा।

रत्नावली

अन्तकृद्दशांग सूत्र के अष्टम वर्ग में विभिन्न तपों का वर्णन है। अष्टम वर्ग के प्रथम अध्ययन में राजा कूणिक की छोटी माता, महाराज श्रेणिक की पत्नी काली की चर्चा है। काली ने भगवान् महावीर से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। उसने आर्याप्रमुखा श्रीचन्दनबाला की आज्ञा से रत्नावली तप करना स्वीकार किया। रत्नावली का अर्थ रत्नों का हार है। एक हार की तरह तपश्चरण की यह एक विशेष परिकल्पना है, जो बड़ी मनोज्ञ है। वहाँ रत्नावली तप के अन्तर्गत सम्पन्न किये जाने वाले उपवास-क्रम आदि का विशद वर्णन है।[1]

---

१. तए णं सा काली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जचंदणा अज्जा, तेणेव उवागया, उवागच्छित्ता एवं वयासी इच्छामि णं अज्जाओ ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी रयणावलिं तवं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिए ! मा पडिबंधं करेहि।

तए णं सा काली अज्जा अज्जचंदणाए अब्भणुण्णाया समाणी रयणावलिं तवं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा—

चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेई, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठछट्ठाइं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेई, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।

अष्टम वर्ग के द्वितीय अध्ययन में महाराज श्रेणिक की एक दूसरी रानी सुकाली का वर्णन है। उसने भी श्रमण भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की। उसने आर्याप्रमुखा चन्दनबाला की आज्ञा से कनकावली तप करना स्वीकार किया। रत्नावली और कनकावली तप में थोड़ा सा अन्तर है। अतः वहाँ रत्नावली तप से कनकावली तप में जो विशेषता है, उसकी चर्चा कर दी गई है।[1]

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कनकावली का अर्थ सोने का हार है। रत्नों के हार से सोने का हार कुछ अधिक भारी होता है। इसी आधार पर रत्नावली की अपेक्षा कनकावली कुछ भारी तप है।

कनकावली

बीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
बावीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउवीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	बारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छव्वीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठावीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
तीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
बत्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोत्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठछट्ठाइं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोत्तीसं छट्ठाइं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोत्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
बत्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
तीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठावीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छव्वीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउवीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठछट्ठाइं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
बावीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
बीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।

एवं खलु एसा रयणावलीए तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी एगेणं संवच्छरेणं तिहि मासेहि बावीसाए य अहोरत्तेहि अहासुत्तं जाव (अहाअत्थं, अहातच्चं, अहामग्गं, अहाकप्पं, सम्मं काएणं फासिया, पालिया, सोहिया, तीरिया, किट्टिया) आराहिया भवइ।

—अन्तकृद्दशासूत्र १४७, १४८

१. तए णं सुकाली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जचंदणा अज्जा जाव (तेणेव उवागया, उवागच्छित्ता एवं वयासी) इच्छामि णं अज्जाओ! तुब्भेहि अब्भणुण्णाया समाणी कणगावली-तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। एवं जहा रयणावली तहा कणगावली वि, नवरं—तिसु ठाणेसु अट्ठमाइं करेइ, जहिं रयणावलीए छट्ठाइं।

एक्काए परिवाडीए संवच्छरो पंच मासा बारस य अहोरत्ता। चउण्हं पंच वरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा। सेसं तहेव।

—अन्तकृद्दशा सूत्र, पृष्ठ १५४

अन्तकृद्दशांग सूत्र के अनुसार कनकावली तप का स्वरूप इस प्रकार है—

साधक सबसे पहले एक (दिन का) उपवास, तत्पश्चात् क्रमशः दो दिन का उपवास—एक बेला, तीन दिन का उपवास—एक तेला, फिर एक साथ आठ तेले, फिर उपवास, बेला, तेला, चार दिन, पांच दिन, छह दिन, सात दिन, आठ दिन, नौ दिन, दश दिन, ग्यारह दिन, बारह दिन, तेरह दिन, चवदह दिन, पन्द्रह दिन, तथा सोलह दिन का उपवास करे। तदनन्तर एक साथ चौंतीस तेले करे। फिर सोलह दिन, पन्द्रह दिन, चवदह दिन, तेरह दिन, बारह दिन, ग्यारह दिन, दश दिन, नौ दिन, आठ दिन, सात दिन, छह दिन, पांच दिन, चार दिन का उपवास, तेला, बेला तथा उपवास करे। चौंतीस तेलों से पहले किये गये तपश्चरण के समक्ष तपःक्रम यह है। तत्पश्चात् आठ तेले करे। ये भी इनसे पूर्व किये गये आठ तेलों के समकक्ष हो जाते हैं। उसके बाद एक तेला, एक बेला और एक उपवास करे। आठ-आठ तेलों का युगल हार के दो फूलों जैसा तथा मध्यवर्ती चौंतीस तेलों का क्रम बीच के पान जैसा है।

इस प्रकार कनकावली तप के एक क्रम या परिपाटी में—

मार्गदर्शक

१+२+३+४+३+३+३+३+३+३+३+१+२+३+४+५+६+७+८+९
+१०+११+१२+१३+१४+१५+१६+३+३+३+३+३+३+३+३+३+३+३+३
+३
+३+१६+१५+१४+१३+१२+११+१०+९+८+७+६+५+४+३+२+१+३+३
+३+३+३+३+३+३+३+२+१=४३४ दिन अनशन या उपवास तथा ८८ दिन पारणा=
यों कुल ५२२ दिन=एक वर्ष पांच महीने तथा बारह दिन लगते हैं।

पूरे तप में चार परिपाटियाँ सम्पन्न की जाती हैं। पहली परिपाटी के अन्तर्गत पारणे में विगय—दूध, दही, घृत आदि लिये जा सकते हैं। दूसरी परिपाटी के अन्तर्गत पारणों में दूध, दही, घृत आदि विगय नहीं लिये जा सकते। तीसरी परिपाटी के अन्तर्गत, जिनका लेप न लगे, वैसे निर्लेप पदार्थ—स्निग्धता आदि से सर्वथा वर्जित खाद्य वस्तुएँ पारणों में ली जा सकती हैं। चौथी परिपाटी के अन्तर्गत पारणे में आयंबिल—किसी एक प्रकार का अन्न—भूंजा हुआ या रोटी आदि के रूप में पकाया हुआ पानी में भिगोकर लिया जाता है।

कनकावली तप की चारों परिपाटियों में ५२२+५२२+५२२+५२२=२०८८ दिन—पांच वर्ष नौ महीने व अठारह दिन लगते हैं।

एकावली

मोतियों या दूसरे मनकों की लड़ एकावली कही जाती है। इसे प्रतीक रूप में मानकर एकावली तप की परिकल्पना है। वह इस प्रकार है—

साधक एकावली तप के अन्तर्गत क्रमशः उपवास, बेला, तेला, तदनन्तर आठ उपवास, फिर उपवास, बेला, तेला, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दश, ग्यारह, बारह, तेरह, चवदह, पन्द्रह तथा सोलह दिन के उपवास करे। वैसा कर निरन्तर चौंतीस उपवास करे। फिर सोलह, पन्द्रह, चवदह, तेरह, बारह, ग्यारह, दश, नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार दिन के उपवास, तेला, बेला, उपवास, आठ उपवास, तेला, बेला तथा उपवास करे।

कनकावली की ज्यों इसमें दो फूलों के स्थान पर आठ-आठ तेलों के बदले आठ-आठ उपवास हैं तथा मध्यवर्ती पान के स्थान पर चौंतीस तेलों के बदले चौंतीस उपवास हैं। यों एक लड़े हार के रूप में यह तप है।

एकावली तप के एक क्रम या परिपाटी में १+२+३+१+१+१+१+१+१+१+१ +१+२+३ +४+५+६+७ +८+९+१०+११+१२+१३+१४+१५+१६+१+१+ १+१+१+१ +१+१+१+ १+१+१+१+१+ १+१+१+१+१+१+१+१+ १+१+१+१+१+१+१+१+१+१+१+१६+१५+१४+१३+१२+११+१०+९+ ८+७+६+५+४+३+२+१+१+१+१+१+१+१+१+१+३+२+१=३३४ दिन उपवास तथा ८८ दिन पारणा=यों कुल ४२२ दिन=एक वर्ष दो महिने तथा दो दिन लगते हैं।

पूरा तप चार परिपाटियों में निष्पन्न होता है। चारों परिपाटियों में पारणे का रूप कनकावली जैसा ही है।

एकावली तप की चारों परिपाटियों में ४२२+४२२+४२२+४२२=१६८८ दिन=चार वर्ष आठ महीने तथा आठ दिन लगते हैं।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लघुसिंहनिष्क्रीडित

सिंह की गति या क्रीडा के आधार पर इस तप की परिकल्पना है। सिंह जब चलता है तो एक कदम पीछे देखता जाता है। उसका यह स्वभाव है, अपनी जागरूकता है। इसे प्रतीक मानकर इस तप के अन्तर्गत साधक जब उपवासक्रम में आगे बढ़ता है तो एक-एक बढ़ाव में वह पीछे भी मुड़ता जाता है अर्थात् अपने बढ़ाव के पिछले एक क्रम की आवृत्ति कर जाता है।

यह तप दो प्रकार का है—लघुसिंहनिष्क्रीडित तप तथा महासिंहनिष्क्रीडित तप। छोटे सिंह की गति कुछ कम होती है, बड़े सिंह की अधिक। इसी आधार पर लघुसिंहनिष्क्रीडित तप में उपवास-सीमा नौ दिन तक की है तथा महासिंहनिष्क्रीडित तप में सोलह दिन तक की।

अन्तकृद्दशांग सूत्र के अष्टम वर्ग के तृतीय अध्ययन में (महाराज श्रेणिक की पत्नी, राजा कूणिक की छोटी माता) आर्या महाकाली द्वारा लघुसिंहनिष्क्रीडित तप किये जाने का वर्णन है।[1]

---

१. एवं—महाकाली वि, नवरं—खुड्डाग सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा—

चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	वीसइयं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	वीसइमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।

इसमें साधक क्रमशः उपवास, बेला, उपवास, तेला, बेला, चार दिन का उपवास, तेला, पाँच दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास तथा आठ दिन का उपवास करे। तदनन्तर वापिस नौ दिन के उपवास से एक दिन के उपवास तक का क्रम अपनाए।

नौ दिन से उपवास तक का क्रम इस प्रकार रहेगा—

नौ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, दो दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास—तेला, एक दिन का उपवास, बेला तथा उपवास करे।

यों उतार, चढ़ाव के दो क्रम बनते हैं—

लघुसिंहनिष्क्रीडित की एक परिपाटी में १+२+१+३+२+४+३+५+४+६+५+७+६+८+७+९+८+९+७+८+६+७+५+६+४+५+३+४+२+३+१+२+१=१५४ दिन अनशन या उपवास तथा ३३ दिन पारणा—यों कुल १८७ दिन=छह महीने तथा सात दिन होते हैं।

चार परिपाटियों में १८७+१८७+१८७+१८७=कुल दिन ७४८=दो वर्ष अट्ठाईस दिन लगते हैं।

महासिंहनिष्क्रीडित

अन्तकृद्दशांग सूत्र अष्टमवर्ग के चतुर्थ अध्ययन में (महाराज श्रेणिक की पत्नी) आर्या कृष्णा द्वारा महासिंहनिष्क्रीडित तप करने का वर्णन है, जहाँ लघुसिंहनिष्क्रीडित तथा महासिंहनिष्क्रीडित के भेद का उल्लेख[1] है।

सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
बारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
बारसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।		

तहेव चत्तारि परिवाडीओ। एक्काए परिवाडीए छम्मासा सत्त य दिवसा। चउण्हं दो वरिसा अट्ठावीसा य दिवसा जाव सिद्धा।

—अन्तकृद्दशासूत्र पृष्ठ १५६

१. एवं—कण्हा वि, नवरं—महालयं सीहणिक्कीलियं तवोकम्मं जहेव खुड्डागं, नवरं—चोत्तीसइमं जाव नेयव्वं। तहेव ओसारेयव्वं। एक्काए वरिसं, छम्मासा अट्ठारस य दिवसा। चउण्हं छव्वरिसा दो मासा बारस य अहोरत्ता। सेसं जहा कालीए जाव सिद्धा।

—अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १५९

मार्गदर्शक :- आचार्य

महासिंहनिष्क्रीडित तप का क्रम इस प्रकार है—

साधक क्रमशः उपवास, बेला, उपवास, तेला, बेला, चार दिन का उपवास, तेला, पाँच दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, चवदह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास, चवदह दिन का उपवास, सोलह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास करे।

तत्पश्चात् इसी क्रम को उलटा करे अर्थात् सोलह दिन के उपवास से प्रारम्भ कर एक दिन के उपवास पर समाप्त करे। यह क्रम इस प्रकार होगा—

सोलह दिन का उपवास, चवदह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, चवदह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, तेला, चार दिन का उपवास, बेला, उपवास, बेला तथा उपवास करे।

इस तप की एक परिपाटी में १+२+१+३+२+४+३+५+४+६+५+७+६+८+७+९+८+१०+९+११+१० +१२+११+१३ +१२+१४+१३ +१५+१४+१६+१५+१६ +१४+१५ +१३+१४ +१२+१३ +११+१२+१०+११+९+१०+८+९+७+८+६+७+५+६+४+५+३+४+२+३+१+२+१=४९७ दिन उपवास+६१ दिन पारणा=कुल ५५८ दिन=एक वर्ष छह महीने तथा अठारह दिन लगते हैं।

महासिंहनिष्क्रीडित तप की चारों परिपाटियों में ५५८+५५८+५५८+५५८=२२३२ दिन=छह वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं।

भद्र प्रतिमा

यह प्रतिमा कायोत्सर्ग से सम्बद्ध है। कायोत्सर्ग निर्जरा के बारह भेदों में अंतिम है। यह काय तथा उत्सर्ग—इन दो शब्दों से बना है। काय का अर्थ शरीर तथा उत्सर्ग का अर्थ त्याग है। शरीर को सर्वथा छोड़ा जा सके, यह तो संभव नहीं है पर भावात्मक दृष्टि से शरीर से अपने को पृथक् मानना, शरीर की प्रवृत्ति, हलन-चलन आदि क्रियाएं छोड़ देना, यों निःस्पन्द, असंसक्त, आत्मोन्मुख स्थिति पाने हेतु यत्नशील होना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में साधक अपने आपको देह से एक प्रकार से पृथक् कर लेता है, देह को शिथिल कर देता है, तनावमुक्त होता है, आत्मरमण में संस्थित होने का प्रयत्न करता है।

इस प्रतिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर दिशा में मुख कर क्रमशः प्रत्येक दिशा में चार पहर तक कायोत्सर्ग करने का विधान है। यों इस प्रतिमा का सोलह पहर या दो दिन-रात का कालमान है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

महाभद्र प्रतिमा

इस प्रतिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में मुख कर क्रमशः प्रत्येक दिशा में एक एक अहोरात्र—दिन-रात तक कायोत्सर्ग करने का विधान है। यों इस प्रतिमा का चार दिन-रात का कालमान है।

सर्वतोभद्र प्रतिमा

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व एवं अधः —क्रमशः इन दश दिशाओं की ओर मुख कर प्रत्येक दिशा में एक एक दिन-रात कायोत्सर्ग करने का इस प्रतिमा में विधान है। यों इसे साधने में दश दिन-रात का समय लगता है।

इस प्रतिमा के अन्तर्गत एक दूसरी विधि भी बतलाई गई है। तदनुसार इसके लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा तथा महासर्वतोभद्र प्रतिमा—ये दो भेद किये गये हैं।

लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा

अन्तकृद्दशांग सूत्र अष्टम वर्ग के छठे अध्ययन में महाराज श्रेणिक की पत्नी, राजा कूणिक की छोटी माता महाकृष्णा द्वारा, जो भगवान् महावीर के श्रमण-संघ में दीक्षित थीं, लघुसर्वतोभद्र तप किये जाने का उल्लेख[1] है।

---

१. एवं महाकण्हा वि नवरं—खुड्डागं सव्वओभद्दं पडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ—

चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेई, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।		

एवं खलु एयं खुड्डागसव्वओभद्दस्स तवोकम्मस्स पढमं परिवाडिं तिहिं मासेहिं दसहि य दिवसेहिं अहासुत्तं जाव आराहेत्ता दोच्चाए परिवाडीए चउत्थं करेइ, करेत्ता विगइवज्जं पारेइ, पारेत्ता जहा रयणावलीए तहा एत्थ वि चत्तारि परिवाडीओ। पारणा तहेव। चउण्हं कालो संवच्छरो मासो दस य दिवसा। सेसं तहेव जाव सिद्धा।

—अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १६५

इस प्रतिमा में पहले उपवास फिर क्रमशः बेला, तेला, चार दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, तेला, चार दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, बेला, पांच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, बेला, तेला, चार दिन का उपवास, बेला, तेला, चार दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास बेला तथा तेला—यह इस प्रतिमा का तपःक्रम है।

इस तपस्या की प्रक्रिया समझने हेतु पच्चीस कोष्ठकों का एक यन्त्र बनाया जाता है।

पहली पंक्ति के कोष्ठक के आदि में १ तथा अन्त में पाँच को स्थापित किया जाता है। शेष कोष्ठकों को २, ३, ४ से भर दिया जाता है। दूसरी पंक्ति में प्रथम पंक्ति के मध्य के अंक ३ को लेकर कोष्ठक भरे जाते हैं। ५ अंतिम अंक है। उसके बाद आदिम अंक १ से कोष्ठक भरे जाने प्रारम्भ किये जाते हैं अर्थात् १ व २ से भर दिये जाते हैं। तीसरी पंक्ति के कोष्ठक दूसरी पंक्ति के बीच के अंक ५ से भरने शुरू किये जाते हैं। बाकी के कोष्ठक आदिम अंक १, २, ३ तथा ४ से भरे जाते हैं। चौथी पंक्ति का प्रथम कोष्ठक तीसरी पंक्ति के बीच के अंक २ से भरा जाना शुरू किया जाता है। ५ तक पहुँचने के बाद फिर १ से भरती होती है। पाँचवीं पंक्ति का प्रथम कोष्ठक चौथी पंक्ति के बीच के अंक ४ से भरा जाना प्रारम्भ किया जाता है। पाँच तक पहुंचने के बाद फिर बाकी अंक १ से शुरू कर भरे जाते हैं।

इस यन्त्र के भरने में विशेषतः यह बात ध्यान में रखने की है—प्रत्येक पंक्ति के प्रथम कोष्ठक का भराव पिछली पंक्ति के मध्य के कोष्ठक के अंक से शुरू किया जाना चाहिए।

इस यन्त्र की प्रत्येक पंक्ति का योग एक समान—पन्द्रह होता है।

—यन्त्र—

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

यह यन्त्र ऊपर उल्लिखित लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा के तपःक्रम का सूचक है।

इस तपस्या में १+२+३+४+५+३+४+५+१+२+५+१+२+३+४+२+३+४+५+१+४+५+१+२+३=तप ७५ दिन+पारणा २५ दिन=१०० दिन=तीन महीने और दश दिन लगते हैं।

विगयसहित, विगयवर्जित, लेपवर्जित तथा आयम्बिल पूर्वक पारणे के आधार पर कनकावली की तरह इस तप की चार परिपाटियाँ हैं। चारों परिपाटियों में १००+१००+१००+१००=४०० दिन=एक वर्ष एक महीना और दश दिन लगते हैं।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा

अन्तकृद्दशांग सूत्र अष्टम वर्ग के सातवें अध्ययन में आर्या वीरकृष्णा द्वारा महासर्वतोभद्र प्रतिमा तप किये जाने का उल्लेख[1] है।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री देवेन्द्रसागर जी महाराज

१. एवं वीरकण्हा वि, नवरं—महालयं सव्वओभद्दं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा—

चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोद्दसम	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
सोलसमं	करेई, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
छट्ठं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	सोलसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	अट्ठमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
दुवालसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।
चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सव्वकामगुणियं पारेइ।		

एक्काए कालो अट्ठ मासा पंच य दिवसा। चउण्हं दो वासा अट्ठ मासा वीस य दिवसा। सेस तहेव जाव सिद्धा।

—अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १६७

जहाँ लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा में एक उपवास से लेकर पाँच दिन तक उपवास किये जाते हैं, वहाँ महासर्वतोभद्र प्रतिमा में एक उपवास से लेकर सात दिन तक के उपवास किये जाते हैं।

इस तपस्या की विधि या प्रक्रिया सूचक यन्त्र निम्नांकित है, जो लघुसर्वतोभद्रप्रतिमा तप से सम्बद्ध यन्त्र की सरणि पर स्थापित है—

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

इस यन्त्र की प्रत्येक पंक्ति का योग अट्ठाईस है।

इस तपस्या में १+२+३+४+५+६+७+४+५+६+७+१+२+३+७+१+२+३+४+५+६+३+४+५+६+७+१+२+६+७+१+२+३+४+५+२+३+४+५+६+७+१+५+६+७+१+२+३+४=तप दिन १९६+पारणा दिन ४९=कुल दिन २४५=आठ महीने तथा पाँच दिन लगते हैं।

इसकी चारों परिपाटियों में २४५+२४५+२४५+२४५=९८० दिन=दो वर्ष आठ महीने तथा बीस दिन लगते हैं।

आयम्बिल वर्द्धमान

अन्तकृद्दशांग सूत्र के अष्टम वर्ग के दशवें अध्ययन में आर्या महासेनकृष्णा द्वारा आयम्बिल

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वर्द्धमान तप किये जाने का वर्णन है।[1]

इस तप में आयम्बिल (जिसमें एक दिन में एक बार भुना हुआ या पकाया हुआ एक अन्न पानी के साथ—पानी में भिगोकर खाया जाए) के साथ उपवास का एक विशेष क्रम रहता है। आयम्बिलों की क्रमशः बढ़ती-हुई संख्या के साथ उपवास चलता रहता है। एक आयम्बिल, एक उपवास, दो आयम्बिल, एक उपवास, तीन आयम्बिल, एक उपवास, चार आयम्बिल एक उपवास—यों उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते सौ आयम्बिलों तक यह क्रम चलता है।

इस तप में १+२+३+४+५+६+७+८+९+१०+११+१२+१३+१४+१५+१६+१७+१८+१९+२०+२१+२२+२३+२४+२५+२६+२७+२८+२९+३०+३१+३२+३३+३४+३५+३६+३७+३८+३९+४०+४१+४२+४३+४४+४५+४६+४७+४८+४९+५०+५१+५२+५३+५४+५५+५६+५७+५८+५९+६०+६१+६२+६३+६४+६५+६६+६७+६८+६९+७०+७१+७२+७३+७४+७५+७६+७७+७८+७९+८०+८१+८२+८३+८४+८५+८६+८७+८८+८९+९०+९१+९२+९३+९४+९५+९६+९७+९८+९९+१००+=५०५०आयम्बिल+१००उपवास=५१५० दिन=चवदह वर्ष तीन महीने बीस दिन लगते हैं।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने प्रस्तुत आगम की वृत्ति में इस तप का जो क्रम दिया है, उसके अनुसार पहले एक उपवास, फिर एक आयम्बिल, फिर उपवास, दो आयम्बिल, उपवास, तीन आयम्बिल, उपवास, चार आयम्बिल—यों सौ तक क्रम चलता[2] है। अर्थात् उन्होंने इस तप का प्रारंभ उपवास से माना है पर जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, अन्तकृद्दशांग सूत्र में आयम्बिल पूर्वक उपवास का क्रम है। वही प्रचलित है तथा आगमोक्त होने से मान्य भी।

---

१. एवं महासेणकण्हा वि, नवरं—आयंबिल-वड्ढमाणं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा—
आयंबिलं करेइ, करेत्ता चउत्थं करेइ।
बे आयंबिलाइं करेइ, करेत्ता चउत्थं करेइ।
तिण्णि आयंबिलाइं करेइ, करेत्ता चउत्थं करेइ।
चत्तारि आयंबिलाइं करेइ, करेत्ता चउत्थं करेइ।
पंच आयंबिलाइं करेइ, करेत्ता चउत्थं करेइ।
छ आयंबिलाइं करेइ, करेत्ता चउत्थं करेइ।
एवं एक्कुत्तरियाए वड्ढीए आयंबिलाइं वड्ढंति चउत्थंतरियाइं जाव आयंबिलसयं करेइ, करेत्ता चउत्थं करेइ।

तए णं सा महासेणकण्हा अज्जा आयंबिलवड्ढमाणं तवोकम्मं चोद्दसहिं वासेहिं तिहि य मासेहिं वीसहि य अहोरत्तेहिं 'अहासुत्तं जाव आराहेत्ता' जेणेव अज्जचंदणा अज्जा, तेणेव उवागया, उवागच्छित्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता बहूहिं चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मास-द्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाजी विहरइ। —अन्तकृद्दशासूत्र, पृष्ठ १७५

२. 'आयंबिल वद्धमाणं' ति यत्र चतुर्थं कृत्वा आयामाम्लं क्रियते, पुनश्चतुर्थं, पुनर्द्वे आयामाम्ले, पुनश्चतुर्थं, पुनस्त्रीणि आयामाम्लानि, एवं यावच्चतुर्थं शतं चायामाम्लानां क्रियत इति।

—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ३१

भिक्षु प्रतिमा

भिक्षुओं की तितिक्षा, त्याग तथा उत्कृष्ट साधना का एक विशेष क्रम प्रतिमाओं के रूप में व्याख्यात हुआ है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने स्थानांग[1] सूत्र की वृत्ति में प्रतिमा का अर्थ प्रतिपत्ति, प्रतिज्ञा तथा अभिग्रह किया है। भिक्षु एक विशेष प्रतिज्ञा, संकल्प या निश्चय लेकर साधना की एक विशेष पद्धति स्वीकार करता है।

प्रतिमा शब्द प्रतीक या प्रतिबिंब का भी वाचक है। वह क्रम एक विशेष साधन का प्रतीक होता है या उसमें एक विशेष साधना प्रतिबिम्बित होती है, इसी अभिप्राय से वहाँ अर्थ-संगति है।

प्रतिमा का अर्थ मापदण्ड भी है। साधक जहाँ किसी एक अनुष्ठान के उत्कृष्ट परिपालन में लग जाता है, वहाँ वह अनुष्ठान या आचार उसका मुख्य ध्येय हो जाता है। उसका परिपालन एक आदर्श, उदाहरण या मापदण्ड का रूप ले लेता है अर्थात् वह अपनी साधना द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिसे अन्य लोग उस आचार का प्रतिमान स्वीकार करते हैं।

समवायांग[2] सूत्र में साधु के लिए १२ प्रतिमाओं का निर्देश है। भगवती[3] सूत्र में १२ प्रतिमाओं की चर्चा है। स्कन्दक अनगार ने भगवान् की अनुज्ञा से उनकी आराधना की।

दशाश्रुतस्कन्ध की सातवीं दशा में १२ भिक्षु-प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है। तितिक्षा, वैराग्य, आत्मनिष्ठा, अनासक्ति आदि की दृष्टि से वह वर्णन बड़ा उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण है, उसका सारांश इस प्रकार है—

पहली प्रतिमा (एकमासिक प्रतिमा) में प्रतिपन्न साधु शरीर की शुश्रूषा तथा ममता का त्यागकर विचरण करता है। व्यन्तर-देव, अनार्य-जन, सिंह, सर्प आदि के उपसर्ग—कष्ट उत्पन्न होने पर वह शरीर के ममत्व का त्याग किए स्थिरतापूर्वक उन्हें सहन करता है। कोई दुर्वचन कहे तो उन्हें क्षमा-भाव से वह सहता है। वह एक दत्ति आहार ग्रहण करता है। दत्ति का तात्पर्य यह है कि दाता द्वारा भिक्षा देते समय एक बार में साधु के पात्र में जितना आहार पड़ जाय, वह एक दत्ति कहा जाता है। पानी आदि तरल पदार्थों के लिये ऐसा है, देते समय जितने तक उनकी धार खण्डित न हो, वह एक दत्ति है। कइयों ने दत्ति का अर्थ कवल भी किया है।

प्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु, भगवान् ने जिन जिन कुलों में से आहार-पानी लेने की आज्ञा दी है, उनसे बयालीस दोषवर्जित आहार लेता है। वह आहार लेते समय ध्यान रखता है कि कुटुम्ब के सभी व्यक्ति भोजन कर चुके हों, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण—भूखे, प्यासे को दे दिया गया हो, गृहस्थ अकेला भोजन करने बैठा हो। ऐसी स्थितियों में वह भोजन स्वीकार करता है। दो, तीन, चार, पांच आदमी भोजन करने बैठे हों, तो वहाँ वह भिक्षा नहीं ले सकता। गर्भवती स्त्री के खाने के लिए जो भोजन बना हो, उसके खाये बिना वह आहार नहीं ले सकता। बालक के लिए जो भोजन हो,

---

१. स्थानांगसूत्र वृत्ति, ६१/१८४
२. समवायांगसूत्र, स्थान १२/१
३. भगवतीसूत्र, २/१/५८-६१

उसके खाये बिना उसमें से भिक्षा लेना उसके लिए कल्पनीय—स्वीकरणीय नहीं है। शिशु को स्तन-पान कराती माता शिशु को छोड़कर यदि भिक्षा दे तो वह नहीं लेता। वह दोनों पाँव घर के अन्दर रख कर दे या घर के बाहर रख कर दे तो वह आहार ग्रहण नहीं करता। देने वाले का एक पाँव घर की देहली के अन्दर तथा एक पाँव घर की देहली के बाहर हो, तो प्रतिमाधारी साधु के लिए वह आहार कल्पनीय है। प्रतिमाधारी साधु के भिक्षा ग्रहण करने के तीन काल हैं—आदिकाल, मध्यकाल तथा अन्तिमकाल। इनमें से मध्यम काल में भिक्षार्थ जाने वाला प्रथम तथा अन्तिम काल में नहीं जाता है।

एकमासिक प्रतिमा-प्रतिपन्न साधु छह प्रकार से भिक्षा ग्रहण करता है, यथा—परिपूर्ण पेटी या सन्दूक के आकार के चार कोनों के चार घरों से, आधी पेटी या सन्दूक के आकार के दो कोनों के घरों से, गोमूत्रिका के आकार के घरों से—एक घर एक तरफ का, एक घर सामने का, फिर एक घर दूसरी तरफ का—यों स्थित घरों से, पतंग-वीथिका—पतिंगे के आकार के फुटकर घरों से, शंखावर्त—शंख के आकार के घरों से—एक घर ऊपर का, एक घर नीचे का, फिर एक घर ऊपर का, फिर एक घर नीचे का—ऐसे घरों से गत-प्रत्यागत—सीधे पंक्तिबद्ध घरों से भिक्षा ग्रहण करता है।

प्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु उस स्थान के एक ही रात्रि प्रवास कर विहार कर जाए, जहाँ उसे कोई पहचानने वाला हो। जहाँ कोई पहचानता नहीं हो, वहाँ वह एक रात, दो रात प्रवास कर विहार कर जाए। एक, दो रात से वह अधिक रहता है तो उसे दीक्षा-क्षेप या परिहार का प्रायश्चित्त लेना होता है।

प्रतिमाप्रतिपन्न साधु के लिए चार प्रयोजनों से भाषा बोलना काल्पनीय है—१—आहार आदि लेने के लिए, २—शास्त्र तथा मार्ग पूछने के लिए, ३—स्थान आदि की आज्ञा लेने के लिए, ४—प्रश्नों का उत्तर देने के लिए।

प्रतिमाधारी साधु जिस स्थान में रहता हो, वहाँ कोई आग लगा दे तो उसे अपना शरीर बचाने हेतु उस स्थान से निकलना, अन्य स्थान में प्रवेश करना नहीं कल्पता। यदि कोई मनुष्य उस मुनि को आग से निकालने आए, बांह पकड़ कर खींचे तो उस प्रतिमाधारी मुनि को उस गृहस्थ को पकड़कर रखना, उसको रोके रखना नहीं कल्पता किन्तु ईर्यासमिति पूर्वक बाहर जाना कल्पता है। प्रतिमाधारी साधु की पगथली में कीला, काँटा, तृण, कंकड़ आदि धंस जाय तो उसे उनको अपने पैर से निकालना नहीं कल्पता, ईर्यासमिति—जागरूकता पूर्वक विहार करना कल्पता है। उसकी आँख में मच्छर आदि पड़ जाएं, बीज, रज, धूल आदि के कण पड़ जाएं तो उन्हें निकालना, आँखों को साफ करना उसे नहीं कल्पता।

प्रतिमाधारी साधु बाहर जाकर आया हो या विहार करके आया हो, उसके पैर सचित्त धूल से भरे हों तो उसे उन पैरों से गृहस्थ से घर में आहार-पानी ग्रहण करने प्रवेश करना नहीं कल्पता।

प्रतिमाधारी साधु को घोड़ा, हाथी, बैल, भैंस, सूअर, कुत्ता, बाघ आदि क्रूर प्राणी अथवा दुष्ट स्वभाव के मनुष्य, जो सामने आ रहे हों, देखकर वापिस लौटना या पाँव भी इधर उधर करना नहीं कल्पता।

यदि सामने आता जीव अदुष्ट हो, कदाचित् वह साधु को देख कर भयभीत होता हो, भागता हो तो साधु को अपने स्थान से मात्र चार हाथ जमीन पीछे सरक जाना कल्पनीय है।

प्रतिमाधारी साधु को छाया से धूप में, धूप से छाया में जाना नहीं कल्पता किन्तु जिस स्थान में जहाँ वह स्थित है, शीत, ताप आदि जो भी परिषह उत्पन्न हों, उन्हें वह समभाव से सहन करे।

एकमासिक भिक्षु प्रतिमा का यह विधिक्रम है। जैसा सूचित किया गया है, एक महीने तक प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दिन में एक दत्ति आहार तथा एक दत्ति पानी पर रहना होता है।

दूसरी प्रतिमा में प्रथम प्रतिमा के सब नियमों का पालन किया जाता है। जहाँ पहली प्रतिमा में एक दत्ति अन्न तथा एक दत्ति पानी का विधान है, दूसरी प्रतिमा में दो दत्ति अन्न तथा दो दत्ति पानी का नियम है। पहली प्रतिमा को सम्पूर्ण कर साधक दूसरी प्रतिमा में आता है। एक मास पहली प्रतिमा का तथा एक मास दूसरी प्रतिमा का यों—दूसरी प्रतिमा के सम्पन्न होने तक दो मास हो जाते हैं। आगे सातवीं प्रतिमा तक यही क्रम रहता है। पहली प्रतिमा में बताये सब नियमों का पालन करना होता है। केवल अन्न तथा पानी की दत्तियों को सात तक वृद्धि होती जाती है।

आठवीं प्रतिमा का समय सात दिन-रात का है। इसमें प्रतिमाधारी एकान्तर चौविहार उपवास करता है। गाँव नगर या राजधानी से बाहर निवास करता है। उत्तानक—चित लेटता है। पार्श्वशायी—एक पार्श्व या एक पासू से लेटता है या निषद्योपगत—पालथी लगाकर कायोत्सर्ग में बैठा रहता है।

इसे प्रथम सप्त-रात्रिदिवा-भिक्षु-प्रतिमा भी कहा जाता है।

नौवीं प्रतिमा या द्वितीय सप्त-रात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा में भी सात दिन-रात तक पूर्ववत् तप करना होता है। साधक उत्कटुक—घुटने खड़े किए हुए हों, मस्तक दोनों घुटनों के बीच में हो, ऐसी स्थिति लिए हुए पंजों के बल बैठे।

लगंडशायी—बांकी लकड़ी को लगंड कहा जाता है। लगंड की तरह कुब्ज होकर या झुककर मस्तक व पैरों की एड़ी को जमीन से लगाकर पीठ से जमीन को स्पर्श न करते हुए अथवा मस्तक एवं पैरों को ऊपर रख कर तथा पीठ को जमीन पर टेक कर सोए।

दण्डायतिका—डण्डे की तरह लंबा होकर अर्थात् पैर फैलाकर बैठे या लेटे, गाँव आदि से बाहर रहे।

दशवीं भिक्षु-प्रतिमा या तृतीय सप्त-रात्रिदिवा भिक्षु-प्रतिमा का समय भी पहले की तरह सात दिन-रात का है। साधक पूर्ववत् गाँव, नगर आदि से बाहर रहे। गोदुहासन—गाय दुहने की स्थिति में बैठे या वीरासन—कुर्सी के ऊपर बैठे हुए मनुष्य के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जैसी स्थिति होती है, साधक उस आसन से बैठे या आम्रकुब्जासन—आम के फल की तरह किसी खूंटी आदि का सहारा लेकर सारे शरीर को अधर रख कर रहे।

अहोरात्रि भिक्षु-प्रतिमा

इस प्रतिमा में चौविहार बेला करे, गाँव से बाहर रहे। प्रलम्बभुज हो—दोनों हाथों को लटकाते हुए स्थिर रखे।

एकरात्रिक भिक्षु-प्रतिमा

इस प्रतिमा में चौविहार तेला करे। साधक जिन मुद्रा में—दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तर रखते हुए, सम-अवस्था में खड़ा रहे। प्रलम्बभुज हो—हाथ लटकते हुए स्थिर हों। नेत्र निर्निमेष हों—झपकें नहीं। किसी एक पुद्गल पर दृष्टि लगाये, कुछ झुके हुए शरीर से अवस्थित हो आराधना करे।

सप्तसप्तमिका भिक्षु-प्रतिमा

इसका कालमान ४९ दिन का है, जो सात-सात दिन के सात सप्तकों या वर्गों में बँटा हुआ है। पहले सप्तक में पहले दिन एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी, दूसरे दिन दो दत्ति अन्न, दो दत्ति पानी, यों बढ़ाते हुए सातवें दिन सात दत्ति अन्न, सात दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है। शेष छह सप्तकों में इसी की पुनरावृत्ति करनी होती है।

इसका एक दूसरे प्रकार का भी विधान है। पहले सप्तक में प्रतिदिन एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी, दूसरे सप्तक में प्रतिदिन दो दत्ति अन्न, दो दत्ति पानी। यों क्रमशः बढ़ाते हुए सातवें सप्तक में सात दत्ति अन्न तथा सात दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है।

अष्टमअष्टमिका, नवमनवमिका, दशमदशमिका प्रतिमाएँ भी इसी प्रकार हैं। अष्टम-अष्टमिका में आठ-आठ दिन के आठ अष्टक या वर्ग करने होते हैं, नवमनवमिका में नौ-नौ दिन के नौ नवक या वर्ग करने होते हैं, दशमदशमिका में दश-दश दिन के दश दशक या वर्ग करने होते हैं, अन्न तथा पानी की दत्तियों में पूर्वोक्त रीति से आठ तक, नौ तक तथा दश तक वृद्धि की जाती है। इनका क्रमशः ६४ दिन, ८१ दिन तथा १०० दिन का कालमान है।

लघुमोक-प्रतिमा

यह प्रस्रवण सम्बन्धी अभिग्रह है। द्रव्यतः नियमानुकूल हो तो प्रस्रवण की दिन में अप्रतिष्ठापना, क्षेत्रतः गाँव आदि से बाहर, कालतः दिन में या रात में, शीतकाल में या ग्रीष्मकाल में। यदि भोजन करके यह प्रतिमा साधी जाती है तो छह दिन के उपवास से समाप्त होती है। बिना खाये साधी जाती है तो सात दिन से पूर्ण होती है।

महामोक-प्रतिमा की भी यही विधि है। केवल इतना सा अन्तर है, यदि वह भोजन करके स्वीकार की जाती है तो सात दिन के उपवास से सम्पन्न होती है। यदि बिना भोजन किए स्वीकार की जाती है तो आठ दिन के उपवास से पूर्ण होती है।

यवमध्यचन्द्र-प्रतिमा

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से शुरू होकर चन्द्रमा की कला की वृद्धि-हानि के आधार पर दत्तियों की वृद्धि-हानि करते हुए इसकी आराधना की जाती है। दोनों पक्षों के पन्द्रह पन्द्रह दिन मिलाकर इसकी आराधना में एक महीना लगता है। शुक्लपक्ष में बढ़ती हुई दत्तियों की संख्या तथा कृष्णपक्ष में घटती हुई दत्तियों की संख्या, मध्य में दोनों ओर से भारी व मोटी होती है। इसलिए इसके मध्य भाग को जौ से उपमित किया गया। जौ का दाना बीच में मोटा होता है।

इसका विश्लेषण यों है—

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी, द्वितीया को दो दत्ति अन्न तथा दो दत्ति पानी, इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ति अन्न, पन्द्रह दत्ति पानी, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चवदह दत्ति अन्न तथा चवदह दत्ति पानी, फिर क्रमशः एक एक घटाते हुए कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी तथा अमावस्या को उपवास—यह साधनाक्रम है।

वज्रमध्यचन्द्र-प्रतिमा

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन इसे प्रारम्भ किया जाता है। चन्द्रमा की कला की हानि-वृद्धि के आधार पर दत्तियों की हानि-वृद्धि से यह प्रतिमा सम्पन्न होती है। प्रारम्भ में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति अन्न और १५ दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है, जो आगे उत्तरोत्तर घटता जाता है, अमावस्या को एक दत्ति रह जाता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को दो दत्ति अन्न, दो दत्ति पानी लिया जाता है। उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को पन्द्रह पन्द्रह दत्ति हो जाता है और पूर्णमासी को पूर्ण उपवास रहता है। यों इसका बीच का भाग दत्तियों की संख्या की अपेक्षा से पतला या हलका रहता है। वज्र का भाग भी पतला होता है इसलिए इसे वज्र के मध्यभाग से उपमित किया गया है।

स्थविरों के गुण

२५—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे थेरा भगवंतो जाइसंपण्णा कुलसंपण्णा बलसंपण्णा रूवसंपण्णा विणयसंपण्णा णाणसंपण्णा दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जासंपण्णा लाघवसंपण्णा ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी, जियकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जिइंदिया जियणिद्दा जियपरीसहा जीवियास-मरणभयविप्पमुक्का, वयप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा निच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा विज्जाप्पहाणा मंतप्पहाणा वेयप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोयप्पहाणा चारुवण्णा लज्जातवस्सीजिइंदिया सोही अणियाणा अप्पोसुया अबहिल्लेसा अप्पडिलेस्सा सुसामण्णरया दंता इणमेव निग्गंथं पावयणं पुरओकाउं विहरंति।

२५—तब श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से स्थविर—ज्ञान तथा चारित्र में वृद्ध—वृद्धि-प्राप्त, भगवान्, जाति-सम्पन्न—उत्तम, निर्मल मातृपक्षयुक्त, कुलसम्पन्न—उत्तम, निर्मल पितृपक्षयुक्त, बल-सम्पन्न—उत्तम दैहिक शक्तियुक्त, रूप-सम्पन्न—रूपवान्—सर्वांगसुन्दर, विनय-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न, लाघव-सम्पन्न—हलके—भौतिक पदार्थों तथा कषाय आदि के भार से रहित, ओजस्वी तेजस्वी, वचस्वी—प्रशस्तभाषी अथवा वर्चस्वी—वर्चस् या प्रभावयुक्त, यशस्वी, क्रोधजयी, मानजयी, मायाजयी, लोभजयी, इन्द्रियजयी, निद्राजयी, परिषहजयी—कष्टविजेता, जीवन की इच्छा और मृत्यु के भय से रहित, व्रतप्रधान, गुणप्रधान—संयम आदि गुणों की विशेषता से युक्त, करणप्रधान—आहार-विशुद्धि आदि की विशेषता सहित, चारित्रप्रधान—उत्तमचारित्र सम्पन्न—दशविध यतिधर्म से युक्त, निग्रहप्रधान—राग आदि शत्रुओं के निरोधक, निश्चयप्रधान—सत्य तत्त्व के निश्चित विश्वासी या

कर्म-फल की निश्चितता में आश्वस्त, आर्जवप्रधान—सरलतायुक्त, मार्दवप्रधान—मृदुतायुक्त, लाघव-प्रधान—आत्मलीनता के कारण किसी भी प्रकार के भार से रहित या स्फूर्तिशील, क्रियादक्ष, क्षान्ति-प्रधान—क्षमाशील, गुप्तिप्रधान—मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तियों के गोपक—विवेकपूर्वक उनका उपयोग करने वाले, मुक्तिप्रधान—कामनाओं से छूटे हुए या मुक्तता की ओर अग्रसर, विद्या-प्रधान—ज्ञान की विविध शाखाओं के पारगामी, मन्त्रप्रधान—सत् मन्त्र, चिन्तना या विचारणायुक्त, वेदप्रधान—वेद आदि लौकिक, लोकोत्तर शास्त्रों के ज्ञाता, ब्रह्मचर्यप्रधान, नयप्रधान—नैगम आदि नयों के ज्ञाता, नियमप्रधान—नियमों के पालक, सत्यप्रधान, शौचप्रधान—आत्मिक शुचिता या पवित्रतायुक्त, चारुवर्ण—सुन्दर वर्णयुक्त अथवा उत्तम कीर्तियुक्त, लज्जा—संयम की विराधना में हृदय-संकोच वाले तथा तपश्री—तप की आभा या तप के तेज द्वारा जितेन्द्रिय, शोधि-शुद्ध या अकलुषित-हृदय, अनिदान—निदानरहित—स्वर्ग तथा अन्यान्य वैभव, समृद्धि, सुख आदि की कामना बिना धर्माराधना में संलग्न, अल्पौत्सुक्य—भौगिक उत्सुकता रहित थे। अपनी मनोवृत्तियों को संयम से बाहर नहीं जाने देते थे। अनुपम (उच्च) मनोवृत्तियुक्त थे, श्रमण-जीवन के सम्यक् निर्वाह में संलग्न थे, दान्त—इन्द्रिय, मन आदि का दमन करने वाले थे, वीतराग प्रभु द्वारा प्रतिपादित प्रवचन—धर्मानुशासन, तत्त्वानुशासन को आगे रखकर—प्रमाणभूत मानकर विचरण करते थे।

२६—तेसि णं भगवंताणं आयावाया वि विदिता भवंति, परवाया वि विदिता भवंति, आयावायं जमइत्ता नलवणमिव मत्तमातंगा, अच्छिद्दपसिणवागरणा, रयणकरंडगसमाणा, कुत्तियावणभूया, परवाइपमद्दणा, दुवालसंगिणो, समत्तगणिपिडगधरा, सव्वक्खरसण्णिवाइणो, सव्वभासाणुगामिणो, अजिणा जिणसंकासा, जिणा इव अवितहं वागरमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

२६—वे स्थविर भगवान् आत्मवाद—अपने सिद्धांतों के विविध वादों—पक्षों के वेत्ता—जानकार थे। वे दूसरों के सिद्धान्तों के भी वेत्ता थे।

कमलवन में क्रीड़ा आदि हेतु पुनः पुनः विचरण करते हाथी की ज्यों वे अपने सिद्धान्तों के पुनः पुनः अभ्यास या आवृत्ति के कारण उनसे सुपरिचित थे। वे अछिद्र—अव्याहत—अखण्डित—निरन्तर प्रश्नोत्तर करते रहने में सक्षम थे। वे रत्नों की पिटारी के सदृश ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि दिव्य रत्नों से आपूर्ण थे।

कुत्रिक—स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, पाताललोक में प्राप्त होनेवाली वस्तुओं की हाट के सदृश वे अपने लब्धि-वैशिष्ट्य के कारण सभी अभीप्सित—इच्छित अर्थ या प्रयोजन संपादित करने में समर्थ थे। परवादिप्रमर्दन—दूसरों के वादों या सिद्धांतों का युक्तिपूर्वक प्रमर्दन—सर्वथा खण्डन करने में सक्षम थे। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंगों के ज्ञाता थे। समस्त गणि-पिटक—आचार्य का पिटक—पेटी—प्रकीर्णक, श्रुतादेश, श्रुतनिर्युक्ति आदि समस्त जिन-प्रवचन के धारक, अक्षरों के सभी प्रकार के संयोग के जानकार, सब भाषाओं के अनुगामी—ज्ञाता थे। वे जिन—सर्वज्ञ न होते हुए भी सर्वज्ञ सदृश थे। वे सर्वज्ञों की तरह अवितथ—यथार्थ, वास्तविक या सत्य प्ररूपणा करते हुए, संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

गुणसम्पन्न अनगार

२७—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे अणगारा भगवंतो इरियासमिया, भासासमिया, एसणासमिया, आयाणभंड-मत्तनिक्खेवणासमिया, उच्चार-पासवण-खेल-

सिंघाण-जल्ल-पारिट्ठावणियासमिया, मणगुत्ता, वयगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिदिया, गुत्तबंभयारी, अममा, अकिंचणा, छिण्णग्गंथा,[1] छिण्णसोया, निरुवलेवा, कंसपाईव मुक्कतोया, संख इव निरंगणा, जीवो विव अप्पडिहयगई, जच्चकणगं पिव जायरूवा, आदरिसफलगा इव पागडभावा, कुम्मो इव गुत्तिदिया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, गगणमिव निरालंबणा, अणिलो इव निरालया, चंदो एव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, सागरो इव गंभीरा, विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का, मंदरो इव अप्पकंपा, सारयसलिलं इव सुद्धहियया, खग्गिविसाणं इव एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जायत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंता।

२७—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से अनगार भगवान्—साधु थे। वे ईर्या—गमन, हलन-चलन आदि क्रिया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने आदि तथा मल, मूत्र, खंखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील थे। वे मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त,—मन, वचन तथा शरीर की क्रियाओं का गोपायन—संयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयों में रागरहित—अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को उनके विषय-व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त ब्रह्मचारी—नियमोपनियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का संरक्षण—परिपालन करनेवाले, अमम—ममत्वरहित, अकिञ्चन—परिग्रहरहित, छिन्नग्रन्थ—संसार से जोड़ने वाले पदार्थों से विमुक्त, छिन्नस्रोत—लोकप्रवाह में नहीं बहने वाले, निरुपलेप—कर्मबन्ध के लेप से रहित, कांसे के पात्र में जैसे पानी नहीं लगता, उसी प्रकार स्नेह, आसक्ति आदि के लगाव से रहित, शंख के समान निरंगण—राग आदि की रञ्जनात्मकता से शून्य—शंख जैसे सम्मुखीन रंग से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार सम्मुखीन क्रोध, द्वेष, राग, प्रेम, प्रशंसा, निन्दा आदि से अप्रभावित, जीव के समान अप्रतिहत—प्रतिघात या निरोधरहित गतियुक्त, जात्य—उत्तम जाति के, विशोधित—अन्य कुधातुओं से अमिश्रित शुद्ध स्वर्ण के समान जातरूप—प्राप्त निर्मल चारित्र्य में उत्कृष्ट भाव से स्थित—निर्दोष चारित्र्य के प्रतिपालक, दर्पणपट्ट के सदृश—प्रकटभाव—प्रवंचना, छलना व कपटरहित शुद्धभावयुक्त, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय-इन्द्रियों को विषयों से खींच कर निवृत्ति-भाव में संस्थित रखने वाले, कमलपत्र के समान निर्लेप, आकाश के सदृश निरालम्ब—निरपेक्ष, वायु की तरह निरालय—गृहरहित, चन्द्रमा के समान सौम्य लेश्यायुक्त—सौम्य, सुकोमल-भाव-संवलित, सूर्य के समान दीप्ततेज—दैहिक तथा आत्मिक तेजयुक्त, समुद्र के समान गम्भीर, पक्षी की तरह सर्वथा विप्रमुक्त—मुक्तपरिकर, अनियतवास—परिवार, परिजन आदि से मुक्त तथा निश्चित निवासरहित, मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प—अनुकूल, प्रतिकूल स्थितियों में, परिषहों में अविचल, शरद् ऋतु के जल के समान शुद्ध हृदययुक्त, गेंडे के सींग के समान एकजात—राग आदि विभावों से रहित, एकमात्र आत्मनिष्ठ, भारण्ड[2] पक्षी के समान अप्रमत्त—प्रमादरहित, जागरूक, हाथी के सदृश शौण्डीर—कषाय आदि को जीतने में शक्तिशाली, बलोन्नत,

---

१. टीका के अनुसार 'अगंथा' पाठ है, जिसका अर्थ है—अपरिग्रह।

२. ऐसी मान्यता है, भारण्ड पक्षी के एक शरीर, दो सिर तथा तीन पैर होते हैं। उसकी दोनों ग्रीवाएं अलग-अलग होती हैं। यों वह दो पक्षियों का समन्वित रूप लिये होता है। उसे अपनी जीवन-निर्वाह हेतु खानपान आदि क्रियाओं में अत्यन्त प्रमादरहित या जागरूक रहना होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वृषभ के समान धैर्यशील—सुस्थिर, सिंह के समान दुर्धर्ष— परिषहों, कष्टों से अपराजेय, पृथ्वी के समान सभी शीत, उष्ण, अनुकूल, प्रतिकूल स्पर्शों को समभाव से सहने में सक्षम तथा घृत द्वारा भली भाँति हुत—हवन की हुई अग्नि के समान तेज से जाज्वल्यमान—ज्ञान तथा तप के तेज से दीप्तिमान् थे।

२८—नत्थि णं तेसि णं भगवंताणं कत्थइ पडिबंधे भवइ। से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते; तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ णं सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु। खेत्तओ—गामे वा णयरे वा रण्णे वा खेत्ते वा खले वा घरे वा अंगणे वा। कालओ—समए वा, आवलियाए वा, जाव (आणापाणुए वा थोवे वा लवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्खे वा मासे वा) अयणे वा, अण्णयरे वा दीहकालसंजोगे। भावओ—कोहे वा माणे वा मायाए वा लोहे वा भए वा हासे वा। एवं तेसिं ण भवइ।

२८—उन पूजनीय साधुओं के किसी प्रकार का प्रतिबन्ध—रुकावट या आसक्ति का हेतु नहीं था।

प्रतिबन्ध चार प्रकार का कहा गया है—द्रव्य की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से तथा भाव की अपेक्षा से।

द्रव्य की अपेक्षा से सचित्त अचित तथा मिश्रत द्रव्यों में; क्षेत्र की अपेक्षा से गाँव, नगर, खेत, खलिहान, घर तथा आँगन में; काल की अपेक्षा से समय[1] आवलि का,[2] (आनप्राण[3], थोव[4]—स्तोक, लव,[5] मुहूर्त,[6] दिन-रात, पक्ष, मास,) अयन—छह मास एवं अन्य दीर्घकालिक संयोग में तथा भाव की अपेक्षा से क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, भय या हास्य में उनका कोई प्रतिबन्ध—आसक्ति भाव नहीं था।

२९—ते णं भगवंतो वासावासवज्जं अट्ठ गिम्हहेमंतियाणि मासाणि गामे एगराइया, णयरे पंचराइया, वासीचंदणसमाणकप्पा, समलेट्ठु-कंचणा, समसुह-दुक्खा, इहलोग-परलोगअप्पडिबद्धा, संसारपारगामी, कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिया विहरंति।

२९—वे साधु भगवान् वर्षावास—चातुर्मास्य के चार महीने छोड़कर ग्रीष्म तथा हेमन्त—शीतकाल—दोनों के आठ महीनों तक किसी गाँव में एक रात (दिवसक्रम से एक सप्ताह) तथा नगर में पाँच रात (पञ्चम सप्ताह में विहार अर्थात् उनतीस दिन) निवास करते थे।

चन्दन जैसे अपने को काटनेवाले वसूले को भी सुगंधित बना देता है, उसी प्रकार वे (साधु) अपना अपकार करनेवाले का भी उपकार करने की वृत्ति रखते थे। अथवा अपने प्रति वसूले

---

१. समय—काल का अविभाज्य भाग।

२. आवलिका—असंख्यात समय।

३. आनपान—प्रानप्राण—उच्छ्वास-निःश्वास का काल।

४. थोव—स्तोक—सात उच्छ्वास-निःश्वास जितना काल।

५. लव—सात थोव जितना काल।

६. मुहूर्त—सतहत्तर लव जितना काल।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

के समान क्रूर व्यवहार करनेवाले—अपकारी तथा चन्दन के समान सौम्य व्यवहार करनेवाले—उपकारी—दोनों के प्रति राग-द्वेष-रहित समान भाव लिये रहते थे। वे मिट्टी के ढेले और स्वर्ण को एक समान समझते थे। सुख और दुःख में समान भाव रखते थे। वे ऐहिक तथा पारलौकिक आसक्ति से बंधे हुए नहीं थे—अनासक्त थे। वे संसारपारगामी—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव—चतुर्गतिरूप संसार के पार पहुँचने वाले—मोक्षाभिगामी तथा कर्मों का निर्घातन—नाश करने हेतु अभ्युत्थित—उठे हुए—प्रयत्नशील होते हुए विचरण करते थे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में साधुओं के लिए ग्राम में एकरात्रिक तथा नगर में पञ्चरात्रिक प्रवास का उल्लेख हुआ है। जैसा कि वृत्तिकार ने संकेत किया है, वह प्रतिमाकल्पिकों को उद्दिष्ट करके[1] है। साधारणतः साधुओं के लिए मासकल्प विहार विहित है। यहाँ अनुवाद में एकरात्रिक तथा पञ्चरात्रिक का जो अर्थ किया गया है, वह परम्परानुसृत है, सर्व-सामान्य विधान है।

तप का विवेचन

३०—तेसिं णं भगवंताणं एएणं विहारेणं विहरमाणाणं इमे एयारूवे अब्भंतरबाहिरए तवोवहाणे होत्था। तंजहा—अब्भितरए छव्विहे, बाहिरए वि छव्विहे।

से किं तं बाहिरए? छव्विहे, पण्णत्ते। तं जहा—१ अणसणे २ ओमोयरिया ३ भिक्खायरिया ४ रसपरिच्चाए ५ कायकिलेसे ६ पडिसंलीणया।

से किं तं अणसणे? अणसणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ इत्तरिए य २ आवकहिए य।

से किं तं इत्तरिए? अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ चउत्थभत्ते २ छट्ठभत्ते ३ अट्ठमभत्ते ४ दसमभत्ते ५ बारसभत्ते ६ चउद्दसभत्ते ७ सोलसभत्ते ८ अद्धमासिए भत्ते ९ मासिए भत्ते १० दोमासिए भत्ते ११ तेमासिए भत्ते १२ चउमासिए भत्ते १३ पंचमासिए भत्ते १४ छम्मासिए भत्ते, से तं इत्तरिए।

से किं तं आवकहिए? आवकहिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ पाओवगमणे य २ भत्तपच्चक्खाणे य।

से किं तं पाओवगमणे। पाओवगमणे। दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ वाघाइमे य २ निव्वाघाइमे य नियमा अप्पडिकम्मे। से तं पाओवगमणे।

से किं तं भत्तपच्चक्खाणे? भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ वाघाइमे य २ निव्वाघाइमे य णियमा सपडिकम्मे। से तं भत्तपच्चक्खाणे, से तं अणसणे।

से किं तं ओमोयरियाओ? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—१ दव्वोमोयरिया य २ भावोमोयरिया य।

से किं तं दव्वोमोयरिया? दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—१ उवगरणदव्वोमोयरिया य २ भत्तपाणदव्वोमोयरिया य।

---

१. 'गामे एगराइय' त्ति एकरात्रो वासमानतया अस्ति येषां ते एकरात्रिकाः, एवं नगरे पञ्चरात्रिका इति, एतच्च प्रतिमाकल्पिकानाश्रित्योक्तम्, अन्येषां मासकल्पविहारित्वादिति। —औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र ३६

से किं तं उवगरणदव्वोमोयरिया ? उवगरणदव्वोमोयरिया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-१ एगे वत्थे २ एगे पाए ३ चियत्तोवकरणसाइज्जणया, से तं उवगरणदव्वोमोयरिया ।

से किं तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया ? भत्तपाणदव्वोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—१ अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे अप्पाहारे, २ दुवालस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे अवड्ढोमोयरिया, ३ सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे दुभागपत्तोमोयरिया, ४ चउवीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे पत्तोमोयरिया, ५ एक्कतीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे किंचूणोमोयरिया, ६ बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे पमाणपत्ता, ७ एत्तो एगेण वि घासेणं ऊणयं आहारमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे णो पकामरसभोइत्ति वत्तव्वं सिया । से तं भत्तपाणदव्वोमोयरिया, से तं दव्वोमोयरिया ।

से किं तं भावोमोयरिया ? भावोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—अप्पकोहे, अप्पमाणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसद्दे, अप्पझंझे । से तं भावोमोयरिया, से तं ओमोयरिया ।

से किं तं भिक्खायरिया ? भिक्खायरिया अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—१ दव्वाभिग्गहचरए, २ खेत्ताभिग्गहचरए, ३ कालाभिग्गहचरए, ४ भावाभिग्गहचरए, ५ उक्खित्तचरए, ६ णिक्खित्तचरए, ७ उक्खित्तणिक्खित्तचरए, ८ णिक्खित्तउक्खित्तचरए, ९ वट्टिज्जमाणचरए, १० साहरिज्जमाणचरए, ११ उवणीयचरए, १२ अवणीयचरए, १३ उवणीयअवणीयचरए, १४ अवणीयउवणीयचरए १५ संसट्ठचरए, १६ असंसट्ठचरए, १७ तज्जायसंसट्ठचरए, १८ अण्णायचरए, १९ मोणचरए, २० दिट्ठलाभिए, २१ अदिट्ठलाभिए, २२ पुट्ठलाभिए, २३ अपुट्ठलाभिए, २४ भिक्खालाभिए, २५ अभिक्खलाभिए, २६ अण्णगिलायए, २७ ओवणिहिए, २८ परिमियपिंडवाइए, २९ सुद्धेसणिए, ३० संखादत्तिए । से तं भिक्खायरिया ।

से किं तं रसपरिच्चाए ? रसपरिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ निव्वीइए, २ पणीयरसपरिच्चाए, ३ आयंबिलिए, ४ आयामसित्थभोई, ५ अरसाहारे, ६ विरसाहारे, ७ अंताहारे, ८ पंताहारे, ९ लूहाहारे, से तं रसपरिच्चाए ।

से किं तं कायकिलेसे ? कायकिलेसे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ ठाणट्ठिइए, २ उक्कुडुयासणिए, ३ पडिमट्ठाई, ४ वीरासणिए, ५ नेसज्जिए, ६ आयावए, ७ अवाउडए, ८ अकंडुयए, ९ अणिट्ठूहए, १० सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के, से तं कायकिलेसे ।

से किं तं पडिसंलीणया ? पडिसंलिणया चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—१ इंदियपडिसंलीणया, २ कसायपडिसंलिणया, ३ जोगपडिसंलीणया, ४ विवित्तसयणासणसेवणया । से किं तं इंदियपडिसंलीणया ? इंदियपडिसंलीणया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—१ सोइंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, सोइंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, २ चक्खिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, चक्खिदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ३ घाणिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, घाणिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ४ जिब्भिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, जिब्भिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ५ फासिंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, फासिंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, से तं इंदियपडिसंलीणया ।

से किं तं कसायपडिसंलीणया ? कसायपडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—१ कोहस्सुदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं, २ माणस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा माणस्स विफलीकरणं, ३ मायाउदयणिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा मायाए विफलीकरणं, ४ लोहस्सुदयणिरोहो वा उदयपत्तस्स वा लोहस्स विफलीकरणं, से तं कसायपडिसंलीणया ।

से किं तं जोगपडिसंलीणया ? जोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—१ मणजोगपडिसंलीणया, २ वयजोगपडिसंलीणया, ३ कायजोगपडिसंलीणया ।

से किं तं मणजोगपडिसंलीणया ? १ अकुसलमणणिरोहो वा २ कुसलमणउदीरणं वा, से तं मणजोगपडिसंलीणया । से किं तं वयजोगपडिसंलीणया ? १ अकुसलवयणिरोहो वा २ कुसलवयउदीरणं वा, से तं वयजोगपडिसंलीणया । से किं तं कायजोगपडिसंलीणया ? कायजोगपडिसंलीणया जं णं सुसमाहियपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिंदिए सव्वगायपडिसंलीणे चिट्ठइ, से तं कायजोगपडिसंलीणया ।

से किं तं विवित्तसयणासणसेवणया ? विवित्तसयणासणसेवणया जं णं आरामेसु, उज्जाणेसु, देवकुलेसु, सहासु, पवासु, पणियगिहेसु, पणियसालासु, इत्थीपसुपंडगसंसत्तविरहियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । से तं पडिसंलीणया, से तं बाहिरए तवे ।

से किं तं अब्भितरए तवे ? अब्भितरए छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—१ पायच्छित्तं, २ विणए, ३ वेयावच्चं, ४ सज्झाओ, ५ झाणं, ६ विउस्सग्गो ।

से किं तं पायच्छित्ते ? २ दसविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ आलोयणारिहे २ पडिक्कमणारिहे ३ तदुभयारिहे ४ विवेगारिहे ५ विउस्सग्गारिहे ६ तवारिहे ७ छेदारिहे ८ मूलारिहे ९ अणवट्ठप्पारिहे १० पारंचियारिहे, से तं पायच्छित्ते ।

से किं तं विणए ? विणए सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ णाणविणए २ दंसणविणए ३ चरित्तविणए ४ मणविणए ५ वइविणए ६ कायविणए ७ लोगोवयारविणए ।

से किं तं णाणविणए ? पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—१ आभिणिबोहियणाणविणए २ सुयणाणविणए ३ ओहिणाणविणए ४ मणपज्जवणाणविणए ५ केवलणाणविणए ।

से किं तं दंसणविणए ? दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ सुस्सूसणाविणए २ अणच्चासायणाविणए ।

से किं तं सुस्सूसणाविणए ? सुस्सूसणाविणए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ अब्भुट्ठाणे इ वा, २ आसणाभिग्गहे इ वा, ३ आसणप्पदाणे इ वा, ४ सक्कारे इ वा, ५ सम्माणे इ वा, ६ किइकम्मे इ वा, ७ अंजलिप्पग्गहे इ वा, ८ एंतस्स अणुगच्छणया, ९ ठियस्स पज्जुवासणया, १० गच्छंतस्स पडिसंसाहणया, से तं सुस्सूसणाविणए ।

से किं तं अणच्चासायणाविणए ? अणच्चासायणाविणए पणयालीसविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ अरहंताणं अणच्चासायणया २ अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अणच्चासायणया ३ आयरियाणं अणच्चासायणया एवं ४ उवज्झायाणं ५ थेराणं ६ कुलस्स ७ गणस्स ८ संघस्स ९ किरियाणं १० संभोगस्स

११ आभिणिबोहियणाणस्स १२ सुयणाणस्स १३ ओहिणाणस्स १४ मणपज्जवणाणस्स १५ केवलणाणस्स १६-३० एएसिं चेव भत्तिबहुमाणे, ३१-४५ एएसिं चेव वण्णसंजलणया, से तं अणच्चासायणाविणए।

से किं तं चरित्तविणए ? चरित्तविणए पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ सामाइयचरित्तविणए, २ छेदोवट्ठावणियचरित्तविणए, ३ परिहारविसुद्धिचरित्तविणए, ४ सुहुमसंपरायचरित्तविणए, ५ अहक्खायचरित्तविणए, से तं चरित्तविणए।

से किं तं मणविणए ? मणविणए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ पसत्थमणविणए, २ अपसत्थमणविणए।

से किं तं अपसत्थमणविणए ? अपसत्थमणविणए जे य मणे १ सावज्जे, २ सकिरिए, ३ सकक्कसे, ४ कडुए, ५ णिट्ठुरे, ६ फरुसे, ७ अण्हयकरे, ८ छेयकरे, ९ भेयकरे, १० परितावणकरे, ११ उद्दवणकरे, १२ भूओवघाइए, तहप्पगारं मणो णो पहारेज्जा, से तं अपसत्थमणोविणए।

से किं तं पसत्थमणोविणए ? पसत्थमणोविणए तं चेव पसत्थं णेयव्वं। एवं चेव वइविणओवि एएहिं पएहिं चेव णेयव्वो, से तं वइविणए।

मार्गदर्शक :— आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

से किं तं कायविणए ? कायविणए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ पसत्थकायविणए २ अपसत्थकायविणए।

से किं तं अपसत्थकायविणए ? अपसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अणाउत्तं गमणे, २ अणाउत्तं ठाणे, ३ अणाउत्तं निसीदणे, ४ अणाउत्तं तुयट्टणे, ५ अणाउत्तं उल्लंघणे, ६ अणाउत्तं पलंघणे, ७ अणाउत्तं सव्विंदियकायजोगजुंजणया, से तं अपसत्थकायविणए।

से किं तं पसत्थकायविणए ? पसत्थकायविणए एवं चेव पसत्थं भाणियव्वं। से तं पसत्थकायविणए, से तं कायविणए।

से किं तं लोगोवयारविणए ? लोगोवयारविणए सत्तविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अब्भासवत्तियं, २ परच्छंदाणुवत्तियं, ३ कज्जहेउं, ४ कयपडिकिरिया, ५ अत्तगवेसणया, ६ देसकालण्णुया, ७ सव्वट्ठेसु अप्पडिलोमया, से तं लोगोवयारविणए, से तं विणए।

से किं तं वेयावच्चे ? वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ आयरियवेयावच्चे, २ उवज्झायवेयावच्चे, ३ सेहवेयावच्चे, ४ गिलाणवेयावच्चे, ५ तवस्सिवेयावच्चे, ६ थेरवेयावच्चे, ७ साहम्मियवेयावच्चे, ८ कुलवेयावच्चे, ९ गणवेयावच्चे, १० संघवेयावच्चे, से तं वेयावच्चे।

से किं तं सज्झाए ? सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ वायणा २ पडिपुच्छणा ३ परियट्टणा ४ अणुप्पेहा ५ धम्मकहा, से तं सज्झाए।

से किं तं झाणे ? झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अट्टज्झाणे २ रुद्दज्झाणे ३ धम्मज्झाणे ४ सुक्कज्झाणे।

अट्टज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ अमणुण्णसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, २ मणुण्णसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, ३ आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ, ४ परिजूसियकामभोगसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ कंदणया, २ सोयणया, ३ तिप्पणया, ४ विलवणया।

रुद्दज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ हिंसाणुबंधी, २ मोसाणुबंधी, ३ तेणाणुबंधी, ४ सारक्खणाणुबंधी।

रुद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ उसण्णदोसे, २ बहुदोसे, ३ अण्णाणदोसे, ४ आमरणंतदोसे।

धम्मज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा—१ आणाविजए, २ अवायविजए, ३ विवागविजए, ४ संठाणविजए।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ आणारुई, २ णिसग्गरुई, ३ उवएसरुई, ४ सुत्तरुई।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा—१ वायणा, २ पुच्छणा, ३ परियट्टणा, ४ धम्मकहा।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—अणिच्चाणुप्पेहा, २ असरणाणुप्पेहा, ३ एगत्ताणुप्पेहा, ४ संसाराणुप्पेहा।

सुक्कज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा—१ पुहुत्तवियक्के सवियारी, २ एगत्तवियक्के अवियारी, ३ सुहुमकिरिए अप्पडिवाई, ४ समुच्छिन्नकिरिए अणियट्टी।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्ताणि लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ विवेगे, २ विउस्सग्गे, ३ अव्वहे, ४ असम्मोहे।

सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता। तं जहा—१ खंती, २ मुत्ती, ३ अज्जवे, ४ मद्दवे।

सुक्कस्स झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—१ अवायाणुप्पेहा, २ असुभाणुप्पेहा, ३ अणंतवत्तियाणुप्पेहा, ४ विपरिणामाणुप्पेहा, से तं झाणे।

से किं तं विउस्सग्गे? विउस्सग्गे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ दव्वविउस्सग्गे, २ भावविउस्सग्गे य।

से किं तं दव्वविउस्सग्गे? दव्वविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ सरीरविउस्सग्गे, २ गणविउस्सग्गे, ३ उवहिविउस्सग्गे, ४ भत्तपाणविउस्सग्गे, से तं दव्वविउस्सग्गे।

से किं तं भावविउस्सग्गे? भावविउस्सग्गे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—१ कसायविउस्सग्गे, २ संसारविउस्सग्गे, ३ कम्मविउस्सग्गे।

से किं तं कसायविउस्सग्गे? कसायविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—१ कोहकसायविउस्सग्गे, २ माणकसायविउस्सग्गे, ३ मायाकसायविउस्सग्गे, ४ लोहकसायविउस्सग्गे, से तं कसायविउस्सग्गे।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

से किं तं संसारविउस्सग्गे ? संसारविउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—१ णेरइयसंसार-विउस्सग्गे, २ तिरियसंसारविउस्सग्गे, ३ मणुयसंसारविउस्सग्गे, ४ देवसंसारविउस्सग्गे, से तं संसार-विउस्सग्गे ।

से किं तं कम्मविउस्सग्गे ? कम्मविउस्सग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते । तं जहा—१ णाणावरणिज्ज-कम्मविउस्सग्गे २ दरिसणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे १ वेयणिज्जकम्मविउस्सग्गे २ मोहणिज्ज-कम्मविउस्सग्गे ३ आउयकम्मविउस्सग्गे ४ णामकम्मविउस्सग्गे ५ गोयकम्मविउस्सग्गे ६ अंतरायकम्म-विउस्सग्गे । से तं कम्मविउस्सग्गे, से तं भावविउस्सग्गे ।

३०—इस प्रकार विहरणशील वे श्रमण भगवान् आभ्यन्तर तथा बाह्य तपमूलक आचार का अनुसरण करते थे । आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है तथा बाह्य तप भी छह प्रकार का है ।

बाह्य तप क्या है ? —वे कौन-कौन से हैं ? बाह्य तप छह प्रकार के हैं—

१. अनशन—आहार नहीं करना, २. अवमोदरिका—भूख से कम खाना या द्रव्यात्मक, भावात्मक साधनों को कम उपयोग में लेना, ३. भिक्षाचर्या—भिक्षा से प्राप्त संयत जीवनोपयोगी आहार, वस्त्र, पात्र, औषध आदि वस्तुएं ग्रहण करना अथवा वृत्तिसंक्षेप—आजीविका के साधनों का संक्षेप करना, उन्हें घटाना, ४. रस-परित्याग—सरस पदार्थों को छोड़ना या रसास्वाद से विमुख होना, ५. काय-क्लेश—इन्द्रिय-दमन या सुकुमारता, सुविधाप्रियता, आरामतलबी छोड़ने हेतु तदनुरूप कष्टमय अनुष्ठान स्वीकार करना, ६. प्रतिसंलीनता—आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाएं संवृत करने हेतु तदुपयोगी बाह्य उपाय अपनाना ।

अनशन क्या है—वह कितने प्रकार का है ? अनशन दो प्रकार का है — १. इत्वरिक—मर्यादित समय के लिए आहार का त्याग । २. यावत्कथिक—जीवनभर के लिए आहार-त्याग ।

इत्वरिक क्या है—वह कितने प्रकार का है ? इत्वरिक अनेक प्रकार का बतलाया गया है, जैसे—चतुर्थ भक्त—एक दिन-रात के लिए आहार का त्याग—उपवास, षष्ठ भक्त—दो दिन-रात के लिए आहार-त्याग, निरन्तर दो उपवास—बेला, अष्टम भक्त—तीन उपवास—तेला, दशम भक्त—चार दिन के उपवास, द्वादश भक्त—पाँच दिन के उपवास, चतुर्दश भक्त—छह दिन के उपवास षोडश भक्त—सात दिन के उपवास, अर्द्धमासिक भक्त—आधे महीने या पन्द्रह दिन के उपवास, मासिक भक्त—एक महीने के उपवास, द्वैमासिक भक्त—दो महीनों के उपवास, त्रैमासिक भक्त—तीन महीनों के उपवास, चातुर्मासिक भक्त—चार महीनों के उपवास, पाञ्चमासिक भक्त—पाँच महीनों के उपवास, षाण्मासिक भक्त—छह महीनों के उपवास ।

यह इत्वरिक तप का विस्तार है ।

यावत्कथिक क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ? यावत्कथिक के दो प्रकार हैं— १. पादपोप-गमन—कटे हुए वृक्ष की तरह स्थिर-शरीर रहते हुए आजीवन आहार-त्याग २. भक्तपानप्रत्याख्यान—जीवनपर्यन्त आहार-त्याग ।

पादपोपगमन क्या है—उसके कितने भेद हैं ? पादपोपगमन के दो भेद हैं—१. व्याघातिम—व्याघातवत् या विघ्नयुक्त—सिंह आदि प्राणघातक प्राणी या दावानल आदि उपद्रव उपस्थित हो जाने पर जीवन भर के लिए आहार-त्याग, २. निर्व्याघातिम—निर्व्याघातवत्—विघ्नरहित—सिंह, दावानल

आदि से सम्बद्ध उपद्रव न होने पर भी मृत्युकाल समीप जानकर अपनी इच्छा से जीवन भर के लिए आहार त्याग ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुकालसागर महाराज

इस (अनुशन) में प्रतिकर्म—शरीर संस्कार, हलन-चलन आदि क्रिया-प्रक्रिया का त्याग रहता है ।

इस प्रकार पादोपगमन यावत्कथिक अनशन होता है ।

भक्तप्रत्याख्यान क्या है—उसके कितने भेद हैं ? भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद बतलाये गये हैं—१. व्याघातिम, २. निर्व्याघातिम ।

भक्तप्रत्याख्यान अनशन में प्रतिकर्म नियमतः होता है ।

यह भक्तप्रत्याख्यान अनशन का विवेचन है ।

अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ? अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं-१. द्रव्य-अवमोदरिका—खान-पान आदि से सम्बद्ध पदार्थों का पेट भरकर उपयोग नहीं करना, भूख से कम खाना । २. भाव-अवमोदरिका—आत्मप्रतिकूल या आवेशमय भावों का चिन्तन-विचार में उपयोग न करना ।

द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ? द्रव्य-अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं—१. उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका—वस्त्र आदि देहोपयोगी सामग्री का कम उपयोग करना । २. भक्तपान-अवमोदरिका—खाद्य, पेय पदार्थों का कम मात्रा में उपयोग करना, भूख से कम सेवन करना ।

उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ? उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका के तीन भेद बतलाये गये हैं—१. एक पात्र रखना, २. एक वस्त्र रखना, ३. एक मनोनुकूल निर्दोष उपकरण रखना । यह उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका है ।

भक्तपान-द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ? भक्तपान-द्रव्य-अवमोदरिका के अनेक भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

मुर्गी के अंडे के परिमाण के केवल आठ ग्रास भोजन करना अल्पाहार-अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के १२ ग्रास भोजन करना अपार्ध—अर्ध से अधिक अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के सोलह ग्रास भोजन करना द्विभागप्राप्त या अर्ध अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के चौबीस ग्रास भोजन करना—चौथाई अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के इकतीस ग्रास भोजन करना किञ्चित् न्यून—कुछ कम अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के बत्तीस ग्रास भोजन करने वाला प्रमाणप्राप्त—पूर्ण आहार करने वाला है । अर्थात् बत्तीस ग्रास भोजन परिपूर्ण आहार है । इससे एक ग्रास भी कम आहार करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ अधिक आहार करने वाला कहे जाने योग्य नहीं है ।

भाव-अवमोदरिका क्या है—कितने प्रकार की है ? भाव-अवमोदरिका अनेक प्रकार की बतलाई गई है, जैसे—क्रोध, मान (अहंकार), माया (प्रवञ्चना, छलना) और लोभ का त्याग (अभाव) अल्पशब्द—क्रोध आदि के आवेश में होनेवाली शब्द-प्रवृत्ति का त्याग, अल्पझंझ—कलहोत्पादक वचन आदि का त्याग।

यहां 'अल्प' शब्द का प्रयोग निषेध या अभाव के अर्थ में है, जिसका तात्पर्य यह है कि क्रोध आदि का उदय तो होता है पर साधक आत्मबल द्वारा उसे टाल देता है, उभार में नहीं आने देता अथवा तदुत्पादक निमित्तों से स्वयं हट जाता है।

भिक्षाचर्या क्या है—उसके कितने भेद हैं ? भिक्षाचर्या अनेक प्रकार की बतलाई गई है, जैसे—१. द्रव्याभिग्रहचर्या—खाने-पीने आदि से सम्बद्ध वस्तुओं के विषय में विशेष प्रतिज्ञा—अमुक वस्तु अमुक स्थिति में मिले तो ग्रहण करना—इस प्रकार भिक्षा के सन्दर्भ में विशेष अभिग्रह स्वीकार करना, २. क्षेत्राभिग्रह-चर्या—ग्राम, नगर, स्थान आदि से सम्बद्ध प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ३. कालाभिग्रहचर्या—प्रथम पहर, दूसरा पहर आदि समय से सम्बद्ध प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ४. भावाभिग्रहचर्या—हास, गान, विनोद, वार्ता आदि में संलग्न स्त्री-पुरुष आदि से सम्बद्ध अभिग्रह—प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ५. उत्क्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन से गृहस्थ द्वारा अपने प्रयोजन हेतु निकाला हुआ आहार लेने का अभिग्रह—प्रतिज्ञा लिये रहना, ६. निक्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन से नहीं निकाला हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, ७. उक्षिप्त-निक्षिप्त-चर्या—भोजन पकाने के बर्तन से निकाल कर उसी जगह या दूसरी जगह रखा हुआ आहार अथवा अपने प्रयोजन से निकाला हुआ या नहीं निकाला हुआ—दोनों प्रकार का आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना ८. निक्षिप्त-उक्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन में से निकाल कर अन्यत्र रखा हुआ, फिर उसी में से उठाया हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ९. वर्तिष्यमाण-चर्या—खाने हेतु परोसे हुए भोजन में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लिए रहना, १०. संह्रियमाणचर्या—जो भोजन ठंडा करने के लिए पात्र आदि में फैलाया गया हो, फिर समेट कर पात्र आदि में डाला जा रहा हो, ऐसे (भोजन) में से आहार लेने की प्रतिज्ञा करना, ११. उपनीतचर्या—किसी के द्वारा किसी के लिए उपहार रूप में भेजी गई भोजनसामग्री में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, १२. अपनीतचर्या—किसी को दी जाने वाली भोज्य-सामग्री में से निकालकर अन्यत्र रखी सामग्री में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार किये रहना, १३. उपनीतापनीतचर्या—स्थानान्तरित की हुई भोजनोपहार-सामग्री में से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से गुण तथा बाद में किसी अपेक्षा से अवगुण-कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना, १४. अपनीतोपनीत-चर्या—किसी के लिए उपहार रूप में भेजने हेतु पृथक् रखी हुई भोजन-सामग्री में से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से अवगुण तथा बाद में किसी अपेक्षा से गुण कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना, १५. संसृष्ट-चर्या—लिप्त हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा रखना, १६. असंसृष्ट-चर्या—अलिप्त या स्वच्छ हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा रखना, १७. तज्जातसंसृष्ट-चर्या—दिये जाने वाले पदार्थ से संभृत—लिप्त हाथ आदि से दिया जाता आहार स्वीकार करने की प्रतिज्ञा रखना, १८. अज्ञात-चर्या—अपने को अज्ञात-अपरिचित रखकर निरवद्य भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, १९. मौन-चर्या—स्वयं मौन रहते हुए

भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २०. दृष्ट-लाभ—दिखाई देता या देखा हुआ आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा पूर्व काल में देखे हुए दाता के हाथ से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २१. अदृष्ट-लाभ—पहले नहीं देखा हुआ आहार अथवा पूर्व काल में नहीं देखे हुए दाता द्वारा दिया जाता आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २२. पृष्ट-लाभ—पूछकर—भिक्षो ! आपको क्या दें, यों पूछकर दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २३. अपृष्ट-लाभ—यों पूछे बिना दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २४. भिक्षा-लाभ—भिक्षा के संदर्श—भिक्षा मांगकर लाये हुए जैसा तुच्छ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, अथवा दाता जो भिक्षा में या मांगकर लाया हो, उसमें से या उस द्वारा तैयार किये हुए भोजन में से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २५. अभिक्षा-लाभ—भिक्षा-लाभ से विपरीत आहार लेने की प्रतिज्ञा लिए रहना, २६. अन्न-ग्लायक—रात का ठंडा, बासी आहार लेने की प्रतिज्ञा रखना, २७. उपनिहित—भोजन करते हुए गृहस्थ के निकट रखे हुए आहार में से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना, २८. परिमितपिण्डपातिक—परिमित या सीमित—अल्प आहार लेने की प्रतिज्ञा करना, २९. शुद्धैषणिक—शंका आदि दोष वर्जित अथवा व्यञ्जन आदि रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना तथा ३०. संख्यादत्तिक—पात्र में आहार-क्षेपण की सांख्यिक मर्यादा के अनुकूल भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना अथवा कड़छी, कटोरी आदि पात्र में डाली जाती भिक्षा की अविच्छिन्न धारा की मर्यादा के अनुसार भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना।

यह भिक्षाचर्या का विस्तार है।

भगवान् महावीर के श्रमण यों विविध रूप में बाह्य तप के अनुष्ठान में संलग्न थे।

रसपरित्याग क्या है—वह कितने प्रकार का है? रस-परित्याग अनेक प्रकार का बतलाया गया है, जैसे—१. निर्विकृतिक—घृत, तैल, दूध, दही तथा गुड़-शक्कर (चीनी) से रहित आहार करना, २. प्रणीतरसपरित्याग—जिससे घृत, दूध, चासनी आदि की बूंदें टपकती हों, ऐसे आहार का त्याग करना, ३. आयंबिल (आचामाम्ल) रोटी आदि एक ही रूखा-सूखा पदार्थ या भुना हुआ अन्न अचित्त पानी में भिगोकर दिन में एक ही बार खाना, ४. आयामसिक्थभोजी—ओसामन तथा उसमें स्थित अन्न-कण, सीथ मात्र का आहार करना, ५. अरसाहार—रसरहित अथवा हींग, जीरा आदि से बिना छौंका हुआ आहार करना, ६. विरसाहार—बहुत पुराने अन्न से, जो स्वभावतः रस या स्वाद रहित हो गया हो, बना हुआ आहार करना, ७. अन्ताहार—अत्यन्त हलकी किस्म (जाति) के अन्न से बना हुआ आहार करना, ८. प्रान्ताहार—बहुत हलकी किस्म के अन्न से बना हुआ तथा भोजन कर लेने के बाद बचा-खुचा आहार लेना, ९. रूक्षाहार—रूखा-सूखा आहार करना।

यह रस-परित्याग का विश्लेषण है।

भगवान् महावीर के श्रमण यों विविध रूप में रस-परित्याग के अभ्यासी थे।

काय-क्लेश क्या है—उसके कितने प्रकार हैं? काय-क्लेश अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—१. स्थानस्थितिक—एक ही तरह से खड़े या एक ही आसन से बैठे रहना, २. उत्कुटुकासनिक—उकड़ू आसन से बैठना—पुट्ठों को भूमि पर न टिकाते हुए केवल पांवों के बल पर बैठने की स्थिति में स्थिर रहना, साथ ही दोनों हाथों की अंजलि बांधे रखना, ३. प्रतिमास्थायी—मासिक आदि

द्वादश प्रतिमाएँ स्वीकार करना, ४. वीरासनिक—वीरासन में स्थित रहना—पृथ्वी पर पैर टिकाकर सिंहासन के सदृश बैठने की स्थिति में रहना, उदाहरणार्थ जैसे कोई पुरुष सिंहासन पर बैठा हुआ हो, उसके नीचे से सिंहासन निकाल लेने पर भी वह वैसी ही स्थिति में स्थिर रहे, उस में स्थित रहना, ५. नैषद्यिक—घुटने टिकाकर या पलथी लगाकर बैठना, ६. आतापक—सूर्य (धूप) आदि की आतापना लेना, ७. अप्रावृतक—देह को कपड़े आदि से नहीं ढँकना, ८. अकण्डूयक—खुजली चलने पर भी देह को नहीं खुजलाना, ९. अनिष्ठीवक—थूक आने पर भी नहीं थूकना तथा १०. सर्व-गात्र—परिकर्म विभूषा-विप्रमुक्त—देह के सभी संस्कार, सज्जा, विभूषा आदि से मुक्त रहना।

यह काय-क्लेश का विस्तार है। भगवान् महावीर के श्रमण उक्त रूप में काय-क्लेश तप का अनुष्ठान करते थे।

विवेचन—काय-क्लेश के अन्तर्गत कहीं कहीं नैषद्यिक (नेसज्जिए) के पश्चात् दण्डायतिक (दंडायइए) तथा लकुटशायी (लउडसाई) पद और प्राप्त होते हैं। दण्डायतिक का अर्थ दण्ड की तरह सीधा लम्बा होकर स्थित रहना है। लकुटशायी का अर्थ लकुट—वक्र काष्ठ या टेढ़े लक्कड़ की तरह सोना, स्थित रहना है, अर्थात् मस्तक को तथा दोनों पैरों की एड़ियों को जमीन पर टिकाकर, देह के मध्य भाग को ऊपर उठाकर सोना, स्थित होना लकुटशयन है। ऐसा करने से देह वक्र काष्ठ की तरह टेढ़ी हो जाती है।

इस तप को सम्भवतः काय-क्लेश नाम इसलिए दिया गया कि बाह्य दृष्टि से देखने पर यह क्लेशकर प्रतीत होता है, जन-साधारण के लिए ऐसा है भी पर आत्मरत साधक, जो शरीर को अपना नहीं मानता, जो प्रतिक्षण आत्माभिरुचि, आत्मपरिष्कार एवं आत्ममार्जन में तत्पर रहता है, ऐसा करने में देह-परिताप के बावजूद कष्ट नहीं मानता, उसके परिणामों में इतनी तीव्र आत्मोन्मुखता तथा दृढता होती है। यदि उसे क्लेशात्मक अनुभूति हो तो फिर वह उपक्रम तप नहीं रहता, देह के साथ हठ हो जाता है। आत्मानुभूति-शून्य हठयोग से विशेष लाभ नहीं होता।

प्रतिसंलीनता

प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है? प्रतिसंलीनता चार प्रकार की बतलाई गई है—१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—इन्द्रियों की चेष्टाओं का निरोध, गोपन, २. कषाय-प्रतिसंलीनता—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों या आवेगों का निरोध, गोपन, ३. योग प्रति-संलीनता—कायिक, वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों को रोकना, ४. विविक्त-शयनासन-सेवनता—एकान्त स्थान में निवास करना।

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है? इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता पांच प्रकार की बतलाई गई है, जो इस प्रकार है—१. श्रोत्रेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—कानों के विषय—शब्द में प्रवृत्ति का निरोध—शब्दों को न सुनना अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को शब्दरूप में प्राप्त प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष के संचार को रोकना, उस ओर से उदासीन रहना, २. चक्षुरिन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—नेत्रों के विषय-रूप में प्रवृत्ति को रोकना—रूप नहीं देखना अथवा अनायास दृष्ट प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-असुन्दर रूपात्मक विषयों में राग द्वेष के संचार को रोकना, उस ओर से उदासीन रहना, ३. घ्राणेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—नासिका के विषय—गन्ध

में प्रवृत्ति को रोकना अथवा घ्राणेन्द्रिय को प्राप्त सुगन्ध-दुर्गन्धात्मक विषयों में राग-द्वेष के संचार को रोकना, इस ओर से उदासीन रहना, ४. जिह्वेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—जीभ के विषयों में प्रवृत्ति को रोकना अथवा जिह्वा को प्राप्त स्वादु-अस्वादु रसात्मक विषयों, पदार्थों में राग-द्वेष के संचार को रोना, ४. स्पर्शेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—त्वचा के विषयों में प्रवृत्ति को रोकना अथवा स्पर्शेन्द्रिय को प्राप्त सुख-दुःखात्मक, अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष के संचार को रोकना।

यह इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता का विवेचन है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कषाय-प्रतिसंलीनता—कषाय-प्रतिसंलीनता क्या है—उसके कितने प्रकार हैं? कषायप्रतिसंलीनता चार प्रकार की बतलाई गई है। वह इस प्रकार है—१. क्रोध के उदय का निरोध को नहीं उठने देना अथवा उदयप्राप्त—उठे हुए क्रोध को विफल—प्रभावशून्य बनाना, २. मान के उदय का निरोध—अहंकार को नहीं उठने देना अथवा उदयप्राप्त अहंकार को विफल—निष्प्रभाव बनाना, ३. माया के उदय का निरोध—माया को उभार में नहीं आने देना अथवा उदयप्राप्त माया को विफल—प्रभावरहित बना देना, ४. लोभ के उदय का निरोध—लोभ को नहीं उभरने देना अथवा उदयप्राप्त लोभ को प्रभावशून्य बना देना।

यह कषाय-प्रतिसंलीनता का विवेचन है।

विवेचन—कषायों से छूट पाना बहुत कठिन है। कषायों से मुक्त होना मानव के लिए वास्तव में बहुत बड़ी उपलब्धि है। कषाय के कारण ही आत्मा स्वभावावस्था से च्युत होकर विभावावस्था में पतित होती है। अतएव ज्ञानी जनों ने "कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव"—कषाय-मुक्ति को ही वस्तुतः मुक्ति कहा है। कषायात्मक वृत्ति से छूटने के लिए साधक को अपना आत्मबल जगाये सतत अध्यवसाययुक्त तथा अभ्यासरत रहना होता है।

कषाय-विजय के लिए तत्तद्विपरीत भावनाओं का पुनः पुनः अनुचिन्तन भी अध्यवसाय को विशेष शक्ति प्रदान करता है। जैसे क्रोध का विपरीत भाव क्षमा है। क्रोध आने पर मन में क्षमा तथा मैत्री भाव का पुनः पुनः चिन्तन करना, अहंकार उठने पर मृदुता, नम्रता, विनय की पवित्र भावना बारबार मन में जागरित करना, इसी प्रकार माया का भाव उत्पन्न होने पर ऋजुता, सौम्यता की भावना को विपुल प्रश्रय देना तथा लोभ जगने पर अन्तरतम को सन्तोष से अनुप्राणित करना कषायों से बचे रहने में बहुत सहायक सिद्ध होता है।

योग-प्रतिसंलीनता

योग-प्रतिसंलीनता क्या है—कितने प्रकार की है? योग-प्रतिसंलीयनता तीन प्रकार की बतलाई गई है—

१. मनोयोग-प्रतिसंलीनता, २. वाग्योग-प्रतिसंलीनता तथा ३. काययोग-प्रतिसलीनता।

मनोयोग-प्रतिसंलीनता क्या है?

अकुशल—अशुभ—दुर्विचारपूर्ण मन का निरोध, मन में बुरे विचारों को आने से रोकना अथवा कुशल—शुभ—सद्विचार पूर्ण मन का प्रवर्तन करना, मन में सद्विचार लाते रहने का अभ्यास करना मनोयोग-प्रतिसंलीनता है।

वाग्योग-प्रतिसंलीनता क्या है ?

अकुशल—अशुभ वचन का निरोध—दुर्वचन नहीं बोलना अथवा कुशल वचन—सद्वचन बोलने का अभ्यास करना वाग्योग-प्रतिसंलीनता है।

काययोग-प्रतिसंलीनता क्या है ? हाथ, पर आदि सुसमाहित—सुस्थिर कर, कछुए के सदृश अपनी इन्द्रियों को गुप्त कर, सारे शरीर को संवृत कर—प्रवृत्तियों से खींचकर—हटाकर सुस्थिर होना काययोग-प्रतिसंलीनता है।

यह योग-प्रतिसंलीनता का विवेचन है।

विविक्त-शय्यासन-सेवनता क्या है ? आराम—पुष्पप्रधान बगीचा, पुष्पवाटिका, उद्यान—पुष्प-फल-समवेत बड़े-बड़े वृक्षों से युक्त बगीचा, देवकुल—देवमन्दिर, छतरियाँ, सभा—लोगों के बैठने या विचार-विमर्श हेतु एकत्र होने का स्थान, प्रपा—जल पिलाने का स्थान, प्याऊ; पणित-गृह—बर्तन-भांड आदि क्रयविक्रयोचित वस्तुएं रखने के घर—गोदाम, पणितशाला—क्रय-विक्रय करने वाले लोगों के ठहरने योग्य गृहविशेष, ऐसे स्थानों में, जो स्त्री, पशु तथा नपुंसक के संसर्ग से रहित हो, प्रासुक—निर्जीव, अचित्त, एषणीय—संयमी पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य, निर्दोष पीठ, फलक—काष्ठपट्ट, शय्या—पैर फैलाकर सोया जा सके, ऐसा बिछौना, तृण, घास आदि का आस्तरण—कुछ छोटा बिछौना प्राप्त कर विहरण करना—साधनामय जीवन-यापन करना विविक्त-शय्यासन-सेवनता है।

यह प्रतिसंलीनता का विवेचन है, जिसके साथ बाह्य तप का वर्णन सम्पन्न होता है।

श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी अनगार उपर्युक्त विविध प्रकार के बाह्य तप के अनुष्ठाता थे।

आभ्यन्तर तप क्या है—कितने प्रकार का है ?

आभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा गया है—

प्रायश्चित्त

१. प्रायश्चित्त—व्रत-पालन में हुए अतिचार या दोष की विशुद्धि, २. विनय—विनम्र व्यवहार (जो कर्मों के विनयन—अपनयन का हेतु है) ३. वैयावृत्य—संयमी पुरुषों की आहार आदि द्वारा सेवा, ४. स्वाध्याय—आत्मोपयोगी ज्ञान प्राप्त करने हेतु मर्यादापूर्वक सत्-शास्त्रों का पठन-पाठन, ५. ध्यान—एकाग्रतापूर्ण सत्-चिन्तन, चित्तवृत्तियों का निरोध तथा ६. व्युत्सर्ग—हेय या त्यागने योग्य पदार्थों का त्याग।

प्रायश्चित्त क्या है—कितने प्रकार का है ?

प्रायश्चित्त दश प्रकार का कहा गया है, जो इस प्रकार है—

१. आलोचनार्ह—आलोचन—प्रकटीकरण से होने वाला प्रायश्चित। गमन, आगमन, भिक्षा, प्रतिलेखन आदि दैनिक कार्यों में लगने वाले दोषों को गुरु या ज्येष्ठ साधु के समक्ष प्रकट करने, उनकी आलोचना करने से दोष-शुद्धि हो जाती है।

२. प्रतिक्रमणार्ह—पाप या अशुभ योग से पीछे हटने से सधने वाला प्रायश्चित्त। साधु द्वारा पालनीय पांच समिति तथा तीन गुप्ति के सन्दर्भ में सहसाकारित्व आदि के कारण लगने वाले दोषों को लेकर "मिच्छा मि दुक्कडं—मिथ्या मे दुष्कृतम्"—मेरा दुष्कृत या पाप मिथ्या हो—निष्फल हो, यों चिन्तन पूर्वक प्रायश्चित्त करने से दोष-शुद्धि हो जाती है।

३. तदुभयार्ह—आलोचना तथा प्रतिक्रमण—दोनों से होने वाला प्रायश्चित्त।

४. विवेकार्ह—ज्ञानपूर्वक त्याग से होने वाला प्रायश्चित्त। यदि अज्ञानवश साधु सदोष आहार आदि ले ले तथा फिर उसे यह ज्ञात हो जाए, तब उसे अपने उपयोग में न लेकर त्याग देने से यह प्रायश्चित्त होता है।

५. व्युत्सर्गार्ह—कायोत्सर्ग[1] द्वारा निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त। नदी पार करने में, उच्चार—मल, मूत्र आदि परठने में अनिवार्यतः आसेवित दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है। भिन्न-भिन्न दोषों के लिए भिन्न-भिन्न परिमाण में श्वासोच्छ्वासयुक्त कायोत्सर्ग का विधान है।

६. तपोऽर्ह—तप द्वारा होने वाला प्रायश्चित्त। सचित्त वस्तु को छूने, आवश्यक आदि समाचारी, प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि नहीं करने से लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है।

७. छेदार्ह—दीक्षा-पर्याय कम कर देने से निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त। सचित्त-विराधना, प्रतिक्रमण-अकरणता आदि के कारण लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है। इसमें पांच दिन से लेकर छह मास तक के दीक्षा-पर्याय की न्यूनता करने का विधान है।

८. मूलार्ह—व्रतों की पुनः प्रतिष्ठापना करने—पुनः दीक्षा देने से होने वाला प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त योग्य दूषित स्थान, कार्य आदि के तीन बार सेवन, अनाचार-सेवन—चरित्रभंग तथा जानबूझ कर महाव्रत-खण्डन से लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है।

९. अनवस्थाप्यार्ह—प्रायश्चित्त के रूप में सुझाया गया विशिष्ट तप जब तक न कर लिया जाए, तब तक उस साधु का संघ से सम्बन्ध-विच्छेद रखना तथा उसे पुनः दीक्षा नहीं देना। यह अनवस्थाप्यार्ह प्रायश्चित्त है।

साधर्मिक साधु-साध्वियों की चोरी करना, अन्य तीर्थिक की चोरी करना, गृहस्थ की चोरी करना, परस्पर मारपीट करना आदि से साधु को यह प्रायश्चित्त आता है।

१०. पाराञ्चिकार्ह—सम्बन्ध विच्छिन्न कर, तप-विशेष का अनुष्ठान कराकर गृहस्थभूत बनाना, पुनः व्रतों में स्थापित करना पाराञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त है।

कषाय-दुष्ट, विषय-दुष्ट, महाप्रमादी—मद्यपायी, स्त्यानर्द्धि निद्रा में प्रमादपूर्ण कर्मकारी, समलैंगिक विषयसेवी को यह प्रायश्चित्त आता है।[2]

---

१. कायोत्सर्ग का आशय शरीर को निश्चल रखना है।

२. (क) स्थानांग सूत्र ३-३२३ वृत्ति
(ख) बृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ४

विनय

विनय क्या है—वह कितने प्रकार का है ? विनय सात प्रकार का बतलाया गया है—१. ज्ञान-विनय, २. दर्शन-विनय, ३. चारित्र-विनय, ४. मनोविनय, ५. वचन-विनय, ६. काय-विनय, ७. लोकोपचार-विनय ।

ज्ञान-विनय

ज्ञान-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं ? ज्ञान-विनय के पाँच भेद बतलाये गये हैं—१. आभिनिबोधिक ज्ञान—मतिज्ञान-विनय, २. श्रुतज्ञान-विनय, ३. अवधिज्ञान-विनय, ४. मनः-पर्यव-ज्ञान-विनय, ५. केवलज्ञान-विनय—इन ज्ञानों की यथार्थता स्वीकार करते हुए इनके लिए विनीत भाव से यथाशक्ति पुरुषार्थ या प्रयत्न करना ।

दर्शन-विनय

दर्शन-विनय क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ? दर्शन-विनय दो प्रकार का बतलाया गया है—१. शुश्रूषा-विनय, २. अनत्याशातना-विनय ।

शुश्रूषा-विनय क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ? शुश्रूषा-विनय अनेक प्रकार का बतलाया गया है, जो इस प्रकार है—

अभ्युत्थान—गुरुजनों या गुणीजनों के आने पर उन्हें आदर देने हेतु खड़े होना ।

आसनाभिग्रह—गुरुजन जहाँ बैठना चाहें वहाँ आसन रखना ।

आसन-प्रदान—गुरुजनों को आसन देना ।

गुरुजनों का सत्कार करना, सम्मान करना, यथाविधि वन्दन-प्रणमन करना, कोई बात स्वीकार या अस्वीकार करते समय हाथ जोड़ना, आते हुए गुरुजनों के सामने जाना, बैठे हुए गुरुजनों के समीप बैठना, उनकी सेवा करना, जाते हुए गुरुजनों को पहुँचाने जाना । यह शुश्रूषा-विनय है ।

अनत्याशातना-विनय

अनत्याशातना-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं ? अनत्याशातना-विनय के पैंतालीस भेद है । वे इस प्रकार हैं—

१. अर्हतों की आशातना नहीं करना—आत्मगुणों का आशातन—नाश करने वाले अवहेलना पूर्ण कार्य नहीं करना ।

२. अर्हत्-प्रज्ञप्त—अर्हतों द्वारा बतलाये गये धर्म की आशातना नहीं करना ।

३. आचार्यों की आशातना नहीं करना ।

४. उपाध्यायों की आशातना नहीं करना ।

५. स्थविरों—ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध, वयोवृद्ध श्रमणों की आशातना नहीं करना ।

६. कुल की आशातना नहीं करना ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

७. गण की आशातना नहीं करना।

८. संघ की आशातना नहीं करना।

९. क्रियावान् की आशातना नहीं करना।

१०. सांभोगिक—जिसके साथ वन्दन, नमन, भोजन आदि पारस्परिक व्यवहार हों, उस गच्छ के श्रमण या समान आचारवाले श्रमण की आशातना नहीं करना।

११. मति-ज्ञान की आशातना नहीं करना।

१२. श्रुत-ज्ञान की आशातना नहीं करना।

१३. अवधि-ज्ञान की आशातना नहीं करना।

१४. मनःपर्यव-ज्ञान की आशातना नहीं करना।

१५. केवल-ज्ञान की आशातना नहीं करना।

इन पन्द्रह की भक्ति, उपासना, बहुमान, गुणों के प्रति तीव्र भावानुरागरूप पन्द्रह भेद तथा इन (पन्द्रह) की यशस्विता, प्रशस्ति एवं गुणकीर्तन रूप और पन्द्रह भेद—यों अनत्याशातना-विनय के कुल पैंतालीस भेद होते हैं।

विवेचन—यहाँ प्रयुक्त आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गण, तथा कुल का कुछ विश्लेषण अपेक्षित है, जो इस प्रकार है—

आचार्य

वैयक्तिक, सामष्टिक श्रमण-जीवन का सम्यक् निर्वाह, धर्म की प्रभावना, ज्ञान की आराधना, साधना का विकास तथा संगठन व अनुशासन की दृढ़ता आदि के निमित्त जैन श्रमण-संघ में निम्नांकित पदों के होने का उल्लेख प्राप्त होता है—

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर, ५. गणी, ६. गणधर, ७. गणावच्छेदक।

इनमें आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। संघ का सर्वतोमुखी विकास, संरक्षण, संवर्धन, अनुशासन आदि का सामूहिक उत्तरदायित्व आचार्य पर होता है।

जैन वाङ्मय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जैन संघ में आचार्य पद का आधार मनोनयन रहा, निर्वाचन नहीं। भगवान् महावीर का अपनी प्राक्तन परंपरा के अनुरूप इसी ओर झुकाव था। आगे भी यही परंपरा गतिशील रही। आचार्य ही भावी आचार्य का मनोनयन करते थे तथा अन्य पदाधिकारियों का भी। अब तक ऐसा ही चला आ रहा है।

संघ की सब प्रकार की देख-भाल का मुख्य दायित्व आचार्य पर रहता है। संघ में उनका आदेश अन्तिम और सर्वमान्य होता है।

आचार्य की विशेषताओं के संदर्भ में कहा गया है—

"आचार्य सूत्रार्थ के वेत्ता होते हैं। वे उच्च लक्षण युक्त होते हैं। वे गण के लिए मेढिभूत—

स्तम्भरूपी होते हैं। वे गण के तप से मुक्त होते हैं—उनके निर्देशन में चलता गण सन्ताप-रहित हता है । वे अन्तेवासियों को आगमों की अर्थ-वाचना देते हैं—उन्हें आगमों का रहस्य समझाते हैं।

आचार्य ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार का स्वयं परिपालन करते हैं, उनका प्रकाश—प्रसार करते हैं, उपदेश करते हैं, दूसरे शब्दों में वे स्वयं आचार का पालन करते हैं तथा अन्तेवासियों से करवाते हैं, अतएव आचार्य कहे जाते हैं।"[१]

और भी कहा गया है—

"जो शास्त्रों के अर्थ का आचयन—संचयन—संग्रहण करते हैं, स्वयं आचार का पालन करते हैं, दूसरों को आचार में स्थापित करते हैं, उन कारणों से वे आचार्य कहे जाते हैं।"[२]

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में आचार्य की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ आचार्य की निम्नांकित आठ सम्पदाएं बतलाई गई हैं—

१. आचार-सम्पदा, २. श्रुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा, ४. वचन-सम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६. मति-सम्पदा, ७. प्रयोग-सम्पदा, ८. संग्रह-सम्पदा।

उपाध्याय

जैनदर्शन ज्ञान तथा क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधृत है। संयममूलक आचार का परिपालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अंग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपेक्षित है कि वह ज्ञान की आराधना में भी अपने को तन्मयता के साथ जोड़े। सद्ज्ञानपूर्वक आचरित क्रिया में शुद्धि की अनुपम सुषमा प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-प्रसूत क्रिया की गरिमा है, उसी प्रकार क्रियान्वित या क्रियापरिणत ज्ञान की ही वास्तविक सार्थकता है। ज्ञान और क्रिया जहाँ पूर्व तथा पश्चिम की तरह भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते हैं, वहाँ जीवन का ध्येय सधता नहीं। अध्यवसाय एवं उद्यम द्वारा इन दोनों पक्षों में सामंजस्य उत्पन्न कर जिस गति से साधक साधना-पथ पर अग्रसर होगा, साध्य को आत्मसात् करने में वह उतना ही अधिक सफल होगा। साधनामय जीवन के अनन्य अंग ज्ञानानुशीलन से उपाध्याय पद का विशेषतः सम्बन्ध है। उपाध्याय श्रमणों को सूत्रवाचना देते हैं। कहा गया है—

"जिन-प्रतिपादित द्वादशांगरूप स्वाध्याय—सूत्र-वाङ्मय ज्ञानियों द्वारा कथित—वर्णित या संग्रथित किया गया है। जो उसका उपदेश करते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।"[३]

---

१. सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ॥
पंचविहं आयरं, आयरमाणा तहा पयासंता।
आयारं देसंता, आयरिया तेण वुच्चंति॥ —भगवती सूत्र १.१.१, मंगलाचरण वृत्ति

२. आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥

३. बारसंगो जिणक्खाओ, सज्झओ कहिओ बुहेहि।
तं उवइसंति जम्हा, उवज्झया तेण वुच्चंति॥ —भगवती सूत्र १.१.१, मंगलाचरण वृत्ति

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहाँ सूत्र-वाङ्मय का उपदेश करने का आशय आगमों की सूत्र-वाचना देना है। स्थानांग-वृत्ति में भी उपाध्याय का सूत्रदाता (सूत्रवाचनादाता) के रूप में उल्लेख हुआ है।

आचार्य की सम्पदाओं के वर्णन-प्रसंग में यह बतलाया गया है कि आगमों की अर्थ-वाचना आचार्य देते हैं। यहाँ जो उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोपदेश या सूत्र-वाचना देने का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने हेतु उपाध्याय पारंपरिक एवं आज की भाषा में भाषावैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अन्तेवासी श्रमणों को मूल पाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में 'आगमतः द्रव्यावश्यक' के संदर्भ में पठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परंपरा जैन श्रमणों में रही है। आदम-पाठ को यथावत् बनाये रखने में इससे बड़ी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचना नहीं है। अनुयोगद्वार सूत्र में शिक्षित, जित, स्थित, मित, परिजित, नामसम, घोषसम, अहीनाक्षर, अनत्यक्षर, अव्याविद्धाक्षर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्याम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्णघोष तथा कण्ठौष्ठविप्रमुक्त विशेषण दिये गये हैं।[1] संक्षेप में इनका तात्पर्य यों है—

१. शिक्षित—साधारणतया सीख लेना।

२. स्थित—सीखे हुए को मस्तिष्क में टिकाना।

३. जित—अनुक्रमपूर्वक पठन करना।

४. मित—अक्षर आदि की मर्यादा, संयोजन आदि जानना।

५. परिजित—पूर्णरूपेण काबू पा लेना।

६. नामसम—जिस प्रकार हर व्यक्ति को अपना नाम स्मरण रहता है, उसी प्रकार सूत्र का पाठ याद रहना अर्थात् सूत्र-पाठ को इस प्रकार आत्मसात् कर लेना कि जब भी पूछा जाय, तत्काल यथावत् रूप में बतला सके।

७. घोषसम—स्वर के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत[2] तथा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित[3] के रूप में जो उच्चारण सम्बन्धी भेद वैयाकरणों ने किये हैं, उनके अनुरूप उच्चारण करना।

८. अहीनाक्षर—पाठक्रम में किसी भी अक्षर को हीन—लुप्त या अस्पष्ट न कर देना।

९. अनत्यक्षर—अधिक अक्षर न जोड़ना।

१०. अव्याविद्धाक्षर—अक्षर, पद आदि का विपरीत—उलटा पठन न करना।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र १९.

२. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। —पाणिनीय अष्टाध्यायी १.२.२७

३. उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः। —पाणिनीय अष्टाध्यायी १.२.२९-३१.

११. अस्खलित—पाठ में स्खलन न करना, पाठ का यथाप्रवाह उच्चारण करना।

१२. अमिलित—अक्षरों को परस्पर न मिलाते हुए—उच्चारणीय पाठ के साथ किन्हीं दूसरे अक्षरों को न मिलाते हुए उच्चारण करना।

१३. अव्यत्याम्रेडित—अन्य सूत्रों, शास्त्रों के पाठ को समानार्थक जानकर उच्चार्य्य पाठ के साथ मिला देना व्यत्याम्रेडित है। ऐसा न करना अव्यत्याम्रेडित है।

१४. प्रतिपूर्ण—पाठ का पूर्ण रूप से उच्चारण करना, उसके किसी अंग को अनुच्चारित न रखना।

१५. प्रतिपूर्णघोष—उच्चारणीय पाठ का मन्द स्वर द्वारा, जो कठिनाई से सुनाई दे उच्चारण न करना, पूरे स्वर से स्पष्टतया उच्चारण करना।

१६. कण्ठोष्ठविप्रमुक्त—उच्चारणीय पाठ या पाठांश को गले और होठों में अटका कर अस्पष्ट नहीं बोलना।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सूत्र-पाठ को अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य बनाये रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र-वाचना देने में कितना जागरूक तथा प्रयत्नशील रहना होता था, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है।

लेखनक्रम के अस्तित्व में आने से पूर्व वैदिक, जैन और बौद्ध—सभी परम्पराओं में अपने आगमों, आर्ष ग्रन्थों को कण्ठस्थ रखने की प्रणाली थी। मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण बना रहे, परिवर्तित समय का उस पर प्रभाव न आए, इस निमित्त उन द्वारा ऐसे पाठक्रम या उच्चारण-पद्धति का परिस्थापन स्वाभाविक था, जिससे एक से सुनकर या पढ़कर दूसरा व्यक्ति सर्वथा उसी रूप में शास्त्र को आत्मसात् बनाये रख सके। उदाहरणार्थ संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ के रूप में वेदों के पठन का भी बड़ा वैज्ञानिक प्रकार था, जिसने तब तक उनको मूल रूप में बनाये रखा है।[1]

एक से दूसरे द्वारा श्रुति-परम्परा से आगम-प्राप्तिक्रम के बावजूद जैन आगम-वाङ्मय में कोई विशेष मौलिक परिवर्तन आया हो, ऐसा संभव नहीं लगता। सामान्यतः लोग कह देते हैं, किसी से एक वाक्य भी सुनकर दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति को बताए तो यत्किञ्चित् परिवर्तन आ सकता है, फिर यह कब संभव है कि इतने विशाल आगम-वाङ्मय में काल की इस लम्बी अवधि के बीच भी कोई परिवर्तन नहीं आ सका। साधारणतया ऐसी शंका उठना अस्वाभाविक नहीं है किन्तु आगम-पाठ की उपर्युक्त परम्परा से स्वतः समाधान हो जाता है कि जहाँ मूल पाठ की सुरक्षा के लिए इतने उपाय प्रचलित थे, वहाँ आगमों का मूल स्वरूप क्यों नहीं अव्याहत और अपरिवर्तित रहता।

अर्थ या अभिप्राय का आश्रय सूत्र का मूल पाठ है। उसी की पृष्ठभूमि पर उसका पल्लवन और विकास संभव है। अतएव उसके शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने के लिए सूत्र-वाचना या पठन का इतना बड़ा महत्त्व समझा गया कि श्रमण-संघ में उसके लिए 'उपाध्याय' का पृथक् पद प्रतिष्ठित किया गया।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वैदिक परम्परा में वेद, उसके अंग आदि के अध्यापन के सन्दर्भ में आचार्य एवं उपाध्याय पदों का उल्लेख हुआ है।

आचार्य के सम्बन्ध में लिखा है—

"जो द्विज शिष्य का उपनयन-संस्कार कर उसे संकल्प—कल्प या यज्ञविद्या सहित, सरहस्य—उपनिषद् सहित वेद पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं।[1]

उपाध्याय के सम्बन्ध में उल्लेख है—

"जो वेद का एक भाग—मन्त्रभाग तथा वेद के अंग—शिक्षा—ध्वनि-विज्ञान, कल्प—कर्म-काण्ड-विधि, व्याकरण—शब्दशास्त्र, निरुक्त—शब्द-व्याख्या या व्युत्पत्तिशास्त्र तथा ज्योतिष—नक्षत्र-विज्ञान पढ़ाता है, उसे उपाध्याय कहा जाता है।"[2]

आचार्य तथा उपाध्याय—दोनों के अध्यापनक्रम पर सूक्ष्मता से विचार करने पर प्रतीत होता है कि आचार्य वेदों के रहस्य एवं गहन अर्थ का ज्ञान कराते थे और उपाध्याय वेद-मन्त्रों का विशुद्ध उच्चारण, विशुद्ध पाठ सिखाते थे।

जैन परम्परा में स्वीकृत आचार्य तथा उपाध्याय के पाठनक्रम के साथ प्रस्तुत प्रसंग तुलनीय है।

स्थविर

जैन श्रमण-संघ में स्थविर का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्थानांग सूत्र में दश प्रकार[3] के स्थविर बतलाये गये हैं, जिनमें से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेषतः श्रमण-जीवन से है।

स्थविर का सामान्य अर्थ प्रौढ या वृद्ध है।[4] जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते हैं, वे जाति-स्थविर कहे जाते हैं। स्थानांग वृत्ति में उनके लिए साठ वर्ष की आयु का उल्लेख किया गया है।[5]

सर मोनियर विलियम्स ने अपने कोश में स्थविर शब्द की व्याख्या में उल्लेख किया है कि

---

१. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥
—मनुस्मृति २.१४०

२. शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः॥
—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४४

३. १. ग्राम-स्थविर, २. नगर-स्थविर, ३. राष्ट्र-स्थविर, ४. प्रशास्तृ-स्थविर, ५. कुल-स्थविर, ६. गण-स्थविर, ७. संघ-स्थविर, ८. जाति-स्थविर, ९. श्रुत-स्थविर, १०. पर्याय-स्थविर।
—स्थानांग सूत्र १०.७६१

४. (क) पाइअसद्दमहण्णवो—पृष्ठ ४५०
(ख) संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे—पृष्ठ ११.३९

५. जातिस्थविराः—षष्टिवर्षप्रमाणजन्मपर्यायाः।
—स्थानांग सूत्र १०.७६१ वृत्ति

सत्तर से नब्बे वर्ष तक की आयु का पुरुष स्थविर कहा जाता है। तदनन्तर उसकी संज्ञा वर्षीयस् (वर्षीयान्) होती है। स्त्री के लिए उन्होंने सत्तर के स्थान पर पचास वर्ष का उल्लेख किया है।[1]

जो श्रुत—समवाय आदि अंग एवं शास्त्र के पारगामी होते हैं। वे श्रुत-स्थविर कहे जाते हैं।[2] उनके लिए आयु की इयत्ता का निर्बन्ध नहीं है। वे छोटी आयु के भी हो सकते हैं।

इस सन्दर्भ में मनुस्मृति में कहा है—

"कोई पुरुष इसलिए वृद्ध नहीं होता कि उसके बाल सफेद हो गये हों। जो युवा होते हुए भी अध्ययनशील—ज्ञानसम्पन्न है, मनुष्यों की तो बात ही क्या, उसे देव भी वृद्ध कहते हैं।"[3]

पर्याय-स्थविर वे होते हैं, जिनका दीक्षाकाल लम्बा होता है। वृत्तिकार ने इनके लिए बीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का उल्लेख किया है।[4]

ऊपर तीन प्रकार के स्थविरों का जो विवेचन हुआ है, उसका सार यह है—

जिनकी आयु परिपक्व होती है, उन्हें जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। वे जीवन में बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं अतः वे विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते, स्थिर बने रहते हैं। स्थविर शब्द स्थिरता का भी द्योतक है।

जिनका श्रुतानुशीलन, शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्त्व के परिज्ञाता होते हैं। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन में स्थिरता एवं दृढता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय संयम-जीवितव्य लम्बा होता है, उनके जीवन में धार्मिक परिपक्वता, चारित्रिक बल, आत्मिक ओज, एतत्प्रसूत स्थिरता सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है।

इस प्रकार के स्थिरतामय जीवन के धनी श्रमणों की अपनी गरिमा है। वे दृढधर्मा होते हैं। संघ के श्रमणों को धर्म में, साधना में, संयम में स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

कहा गया है—

"जो साधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होने लगते हैं, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन में कष्ट का अनुभव करते हैं; उन्हें जो श्रमण ऐहिक तथा पारलौकिक हानि

---

१. Old age (described as commencing at seventy in men and lifty in women, and ending at ninety, after which period a man is called Varshiyas).

—Sanskrit-English Dictionary, Page 1265.

२. श्रुतस्थविराः—समवायाङ्गधारिणः। —स्थानांग सूत्र १०.७६१

३. न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ —मनुस्मृति २.१५६

४. पर्यायस्थविराः—विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्या-पर्यायवन्तः। —स्थानांग सूत्र १०.७६१ वृत्ति

या दुःख बतलाकर संयम-जीवन में स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहे जाते हैं।[1]

स्थविर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बतलाया गया है—

"स्थविर संविग्न—मोक्ष के अभिलाषी, अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी तथा धर्मप्रिय होते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में उपादेय अनुष्ठानों को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन में अस्थिर बनता है, वे (स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की याद दिलाते हैं। पतनोन्मुख श्रमणों को वे ऐहिक एवं पारलौकिक हानि दिखलाकर, बतलाकर मोक्ष के मार्ग में स्थिर करते हैं।"[2]

धर्मसंग्रह में इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"संघाधिपति द्वारा श्रमणों के लिए नियोजित तप, संयम, श्रुताराधना तथा आत्मसाधना मूलक कार्यों में जो श्रमण अस्थिर हो जाते हैं, इनका अनुसरण करने में कष्ट मानते हैं या इनका पालन जिनको अप्रिय लगता है, उन्हें जो आत्मशक्तिसम्पन्न दृढचेता श्रमण उक्त अनुष्ठेय कार्यों में सुस्थिर बनाता है, वह स्थविर कहा जाता है।"[3]

इससे स्पष्ट है कि संयम-जीवन, श्रामण्य का अपरिहार्य अंग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते हैं। संघ में उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा तथा साख होती है। अवसर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बातें सुझा-सकते हैं, जिन पर उन्हें (आचार्य को) भी गौर करना होता है।

सार यह है कि स्थविर संयम में स्वयं अविचल, स्थितिशील होते हैं और संघ के सदस्यों को वैसे बने रहने में उत्प्रेरित करते रहते हैं।

चारित्रविनय क्या है—वह कितने प्रकार का है? चारित्र-विनय पाँच प्रकार का है—
१. सामायिकचारित्र-विनय, २. छेदोपस्थापनीयचारित्र-विनय, ३. परिहारविशुद्धिचारित्र-विनय, ४. सूक्ष्मसंपरायचारित्र-विनय, ५. यथाख्यातचारित्र-विनय।

यह चारित्र-विनय है।

मनोविनय क्या है—कितने भेद हैं? मनोविनय दो प्रकार का कहा गया है—
१. प्रशस्त मनोविनय, २. अप्रशस्त मनोविनय।

---

१. प्रवर्तितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानादिषु
ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः। —प्रवचनसारोद्धार, द्वार २

२. संविग्गो मद्दविओ, पियधम्मो नाणदंसणचरित्ते।
जे अट्ठे परिहायइ, सातो ते हवई थेरो॥
यः संविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दवितः संजातमार्दविकः। प्रियधर्मा एकान्तवल्लभः संयमानुष्ठाने, यो ज्ञानदर्शन-चारित्रेषु मध्ये यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानिं नयति, तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः, सीदमानान्साधून् ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायप्रदर्शनतो मोक्षमार्गे स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः।
—अभिधानराजेन्द्र भाग ४, पृष्ठ २३८६-८७

३. तेन व्यापारितेष्वर्थेष्वनगारांश्च सीदतः।
स्थिरीकरोति सच्छक्तिः स्थविरो भवतीह सः॥
—धर्मसंग्रह-अधिकार ३, गाथा ७३

अप्रशस्त मनोविनय क्या है ?

जो मन सावद्य—पाप या गर्हित कर्म युक्त, सक्रिय—प्राणातिपात आदि आरम्भ-क्रिया सहित, कर्कश, कटुक—अपने लिए तथा औरों के लिए अनिष्ट, निष्ठुर—कठोर—मृदुतारहित, परुष—स्नेह-रहित—रूक्ष, आस्रवकारी—अशुभ कर्म ग्रहण करने वाला, छेदकर—किसी के हाथ, पैर आदि अंग तोड़ डालने का दुर्भाव रखनेवाला, भेदकर—नासिका आदि अंग काट डालने का बुरा भाव रखने वाला, परितापन-कर—प्राणियों को सन्तप्त, परितप्त करने के भाव रखने वाला, उपद्रवणकर—मारणान्तिक कष्ट देने अथवा धन-सम्पत्ति हर लेने का बुरा विचार रखनेवाला, भूतोपघातिक—जीवों का घात करने का दुर्भाव रखने वाला होता है, वह अप्रशस्त मन है। वैसी मनःस्थिति लिए रहना अप्रशस्त मनो-विनय है। वैसा मन धारण नहीं करना चाहिए।

प्रशस्त मनोविनय किसे कहते हैं ?

जैसे अप्रशस्त मनोविनय का विवेचन किया गया है, उसी के आधार पर प्रशस्त मनोविनय को समझना चाहिए। अर्थात् प्रशस्त मन, अप्रशस्त मन से विपरीत होता है। वह असावद्य, निष्क्रिय, अकर्कश, अकटुक-इष्ट—मधुर, अनिष्ठुर—मृदुल—कोमल, अपरुष—स्निग्ध—स्नेहमय, अनास्रवकारी, अछेदकर, अभेदकर, अपरितापनकर, अनुपद्रवणकर—दयार्द्र, अभूतोपघातिक—जीवों के प्रति करुणा, शील—सुखकर होता है।

वचन-विनय को भी इन्हीं पदों से समझना चाहिए। अर्थात् वचन-विनय अप्रशस्त-वचन-विनय तथा प्रशस्त-वचन-विनय के रूप में दो प्रकार का है। अप्रशस्त मन तथा प्रशस्त मन के विशेषण क्रमशः अप्रशस्त वचन तथा प्रशस्त वचन के साथ जोड़ देने चाहिए।

यह वचन-विनय का विश्लेषण है।

काय-विनय क्या है—कितने प्रकार का है ? काय-विनय दो प्रकार का बतलाया गया है—

१. प्रशस्त काय-विनय, २. अप्रशस्त काय-विनय।

अप्रशस्त काय-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

अप्रशस्त काय-विनय के सात भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. अनायुक्त गमन—उपयोग—जागरूकता या सावधानी बिना चलना।
२. अनायुक्त स्थान—बिना उपयोग स्थित होना—ठहरना, खड़ा होना।
३. अनायुक्त निषीदन—बिना उपयोग बैठना।
४. अनायुक्त त्वग्वर्तन—बिना उपयोग बिछौने पर करवट बदलना, सोना।
५. अनायुक्त उल्लंघन—बिना उपयोग कर्दम आदि का अतिक्रमण करना—कीचड़ आदि लांघना।
६. अनायुक्त प्रलंघन—बिना उपयोग बारबार लांघना।
७. अनायुक्त सर्वेन्द्रियकाययोग-योजनता—बिना उपयोग सभी इन्द्रियों तथा शरीर को योगयुक्त करना—विविध प्रवृत्तियों में लगाना।

यह अप्रशस्त काय-विनय है।

प्रशस्त काय-विनय क्या है ?

प्रशस्त काय-विनय को अप्रशस्त काय-विनय की तरह समझ लेना चाहिये। अर्थात् अप्रशस्त काय-विनय में जहाँ क्रिया के साथ अनुपयोग—अजागरूकता या असावधानी जुड़ी रहती है, वहाँ प्रशस्त काय-विनय में पूर्वोक्त प्रत्येक क्रिया के साथ उपयोग—सावधानी जुड़ी रहती है।

यह प्रशस्त काय-विनय है।

इस प्रकार यह काय-विनय का विवेचन है।

लोकोपचार-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं ?
लोकोपचार-विनय के सात भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. अभ्यासवर्तिता—गुरुजनों, बड़ों, सत्पुरुषों के समीप बैठना।

२. परच्छन्दानुवर्तिता—गुरुजनों, पूज्य जनों के इच्छानुरूप प्रवृत्ति करना।

३. कार्यहेतु—विद्या आदि प्राप्त करने हेतु, अथवा जिनसे विद्या प्राप्त की, उनकी सेवा-परिचर्या करना।

४. कृत-प्रतिक्रिया—अपने प्रति किये गये उपकारों के लिए कृतज्ञता अनुभव करते हुए सेवा-परिचर्या करना।

५. आर्त-गवेषणता—रुग्णता, वृद्धावस्था से पीड़ित संयत जनों, गुरुजनों की सार-सम्हाल तथा औषधि, पथ्य आदि द्वारा सेवा-परिचर्या करना।

६. देशकालज्ञता—देश तथा समय को ध्यान में रखते हुए ऐसा आचरण करना, जिससे अपना मूल लक्ष्य व्याहत न हो।

७. सर्वार्थाप्रतिलोमता—सभी अनुष्ठेय विषयों, कार्यों में विपरीत आचरण न करना, अनुकूल आचरण करना।

यह लोकोपचार-विनय है।

इस प्रकार यह विनय का विवेचन है।

वैयावृत्य क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

वैयावृत्य—आहार, पानी, औषध आदि द्वारा सेवा-परिचर्या के दश भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. आचार्य का वैयावृत्य, २. उपाध्याय का वैयावृत्य, ३. शैक्ष—नवदीक्षित श्रमण का वैयावृत्य, ४. ग्लान—रुग्णता आदि से पीड़ित का वैयावृत्य, ५. तपस्वी—तेला आदि तप-निरत का वैयावृत्य, ६. स्थविर—वय, श्रुत और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ का वैयावृत्य, ७. साधर्मिक का वैयावृत्य, ८. कुल का वैयावृत्य, ९. गण का वैयावृत्य, १०. संघ का वैयावृत्य।

यह वैयावृत्य का विवेचन है।

स्वाध्याय क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—

१. वाचना—यथाविधि, यथासमय श्रुत-वाङ्मय का अध्ययन, अध्यापन।

२. प्रतिपृच्छना—अधीत विषय में विशेष स्पष्टीकरण हेतु पूछना, शंका-समाधान करना।

३. परिवर्तना—अधीत ज्ञान की पुनरावृत्ति, सीखे हुए को बार-बार दुहराना।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सौभाग्यसागर जी महाराज

४. अनुप्रेक्षा—आगमानुसारी चिन्तन-मनन करना।

५. धर्मकथा—श्रुत-धर्म की व्याख्या-विवेचना करना।

यह स्वाध्याय का स्वरूप है।

ध्यान क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

ध्यान—एकाग्र चिन्तन के चार भेद हैं—१. आर्तध्यान—रागादि भावना से अनुप्रेरित ध्यान, २. रौद्रध्यान—हिंसादि भावना से अनुरंजित ध्यान, ३. धर्मध्यान—धर्मभावना से अनुप्राणित ध्यान, ४. शुक्लध्यान[1]—निर्मल, शुभ-अशुभ से अतीत आत्मोन्मुख शुद्ध ध्यान।

आर्त्तध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है—

१. मन को प्रिय नहीं लगनेवाले विषय, स्थितियाँ आने पर उनके वियोग—दूर होने, दूर करने के सम्बन्ध में निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

२. मन को प्रिय लगनेवाले विषयों के प्राप्त होने पर उनके अवियोग—वे अपने से कभी दूर न हों, सदा अपने साथ रहें, यों निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

३. रोग हो जाने पर उनके मिटने के सम्बन्ध में निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

४. पूर्व-सेवित काम-भोग प्राप्त होने पर, फिर कभी उनका वियोग न हो, यों निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना।

आर्तध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. क्रन्दनता—जोर से क्रन्दन करना—रोना-चीखना।

२. शोचनता—मानसिक ग्लानि तथा दैन्य अनुभव करना।

३. तेपनता—आँसू ढलकाना।

४. विलपनता—विलाप करना—"हाय ! मैंने पूर्व जन्म में कितना बड़ा पाप किया, जिसका यह फल मिल रहा है।" इत्यादि रूप में बिलखना।

---

१. शुचं—शोकं क्लमयति—अपनयतीति शुक्लम्—जो जन्म-मरण रूप शोक का अपनयन—क्षय करे।

रौद्रध्यान चार प्रकार का बतलाया है, जो इस प्रकार है—

१. हिंसानुबन्धी—हिंसा का अनुबन्ध या सम्बन्ध लिये एकाग्र चिन्तन—हिंसा को उद्दिष्ट कर ध्यान की एकाग्रता।

२. मृषानुबन्धी—असत्य-सम्बद्ध—असत्य को उद्दिष्ट कर एकाग्र चिन्तन।

३. स्तैन्यानुबन्धी—चोरी से सम्बद्ध एकाग्र चिन्तन।

४. संरक्षणानुबन्धी—धन आदि भोग-साधनों के संरक्षण हेतु औरों के प्रति हिंसापूर्ण एकाग्र चिन्तन।

रौद्रध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं—

१. उत्सन्नदोष—हिंसा प्रभृति दोषों में से किसी एक दोष में अत्यधिक लीन रहना—उधर प्रवृत्त रहना।

२. बहुदोष—हिंसा आदि अनेक दोषों में संलग्न रहना।

३. अज्ञानदोष—मिथ्याशास्त्र के संस्कारवश हिंसा आदि धर्मप्रतिकूल कार्यों में धर्माराधना की दृष्टि से प्रवृत्त रहना।

४. आमरणान्तदोष—सेवित दोषों के लिए मृत्युपर्यन्त पश्चात्ताप न करते हुए उनमें अनवरत प्रवृत्तिशील रहना।

धर्मध्यान स्वरूप, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा भेद से चार प्रकार का कहा गया है। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

स्वरूप की दृष्टि से धर्मध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—

१. आज्ञा-विचय—आप्त पुरुष का वचन आज्ञा कहा जाता है। आप्त पुरुष वह है, जो राग, द्वेष आदि से असंपृक्त है, जो सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ वीतराग देव की आज्ञा, जहाँ विचय—मनन, निदिध्यासन आदि का विषय है, वह एकाग्र चिन्तन आज्ञा-विचय ध्यान है। इसका अभिप्राय यह हुआ—वीतराग प्रभु की आज्ञा, प्ररूपणा या वचन के अनुरूप वस्तु-तत्त्व के चिन्तन में मन की एकाग्रता।

२. अपाय-विचय—अपाय का अर्थ दुःख है, उसके हेतु राग, द्वेष, विषय, कषाय हैं, जिनसे कर्म उपचित होते हैं। राग, द्वेष, विषय, कषाय का अपचय, कर्म-सम्बन्ध का विच्छेद, आत्मसमाधि की उपलब्धि, सर्व अपाय-नाश—ये इस ध्यान में चिन्तन के विषय हैं।

३. विपाक-विचय—विपाक का अर्थ फल है। कर्मों के विपाक या फल पर इस ध्यान की चिन्तन-धारा आधृत है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों से जनित फल को प्राणी किस प्रकार भोगता है, किन स्थितियों में से वह गुजरता है, इत्यादि विषय इसकी चिन्तन-धारा के अन्तर्गत आते हैं।

४. संस्थान-विचय—लोक, द्वीप, समुद्र आदि के आकार का एकाग्रतया चिन्तन।

धर्म-ध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. आज्ञा-रुचि—वीतराग प्रभु की आज्ञा में, प्ररूपणा में अभिरुचि होना, श्रद्धा होना।

२. निसर्ग-रुचि—नैसर्गिक रूप में—स्वभावतः धर्म में रुचि होना।

३. उपदेश-रुचि—साधु या ज्ञानी के उपदेश से धर्म में रुचि होना अथवा धर्म का उपदेश सुनने में रुचि होना।

४. सूत्र-रुचि—सूत्रों—आगमों में रुचि या श्रद्धा होना।

धर्मध्यान के चार आलम्बन—ध्यान रूपी प्रासाद के शिखर पर चढ़ने के लिए सहायक—आश्रय कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. वाचना—सत्य सिद्धान्तों का निरूपण करने वाले आगम, शास्त्र, ग्रन्थ आदि पढ़ना।

२. पृच्छना—अधीत, ज्ञात विषय में स्पष्टता हेतु जिज्ञासु भाव से अपने मन में ऊहापोह करना, ज्ञानी जनों से पूछना, समाधान पाने का यत्न करना।

३. परिवर्तना—जाने हुए, सीखे हुए ज्ञान की पुनः आवृत्ति करना, ज्ञात विषय में मानसिक, वाचिक वृत्ति लगाना।

४. धर्मकथा—धर्मकथा करना, धार्मिक उपदेशप्रद कथाओं, जीवन-वृत्तों, प्रसंगों द्वारा आत्मानुशासन में गतिशील होना।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—भावनाएँ या विचारोत्कर्ष की अभ्यास-प्रणालिकाएँ बतलाई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. अनित्यानुप्रेक्षा—सुख, सम्पत्ति, वैभव, भोग, देह, यौवन, आरोग्य, जीवन, परिवार आदि सभी ऐहिक वस्तुएँ अनित्य हैं—अशाश्वत हैं, यों चिन्तन करना, ऐसे विचारों का अभ्यास करना।

२. अशरणानुप्रेक्षा—जन्म, जरा, रोग, कष्ट, वेदना, मृत्यु आदि की दुर्धर विभीषिका में जिनेश्वर देव के वचन के अतिरिक्त जगत् में और कोई शरण नहीं है, यों बार-बार चिन्तन करना।

३. एकत्वानुप्रेक्षा—मृत्यु, वेदना, पीड़ा, शोक, शुभ-अशुभ कर्म-फल इत्यादि सब जीव अकेला ही पाता है, भोगता है, सुख, दुःख, उत्थान, पतन आदि का सारा दायित्व एकमात्र अपना अकेले का है। अतः क्यों न प्राणी आत्मकल्याण साधने में जुटे, इस प्रकार की वैचारिक प्रवृत्ति जगाना, उसे बल देना, गतिशील करना।

४. संसारानुप्रेक्षा—संसार में यह जीव कभी पिता, कभी पुत्र, कभी माता, कभी पुत्री, कभी भाई, कभी बहिन, कभी पति, कभी पत्नी होता है—इत्यादि कितने-कितने रूपों में संसरण करता है, यों वैविध्यपूर्ण सांसारिक सम्बन्धों का, सांसारिक स्वरूप का पुनः-पुनः चिन्तन करना, आत्मोन्मुखता पाने हेतु विचाराभ्यास करना।

शुक्लध्यान स्वरूप, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा के भेद से चार प्रकार का कहा गया है। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार

वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था-विशेष) पर स्थिर नहीं रहता, उसके विविध परिणामों पर संचरण करता है—शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एवं देह में एक दूसरे की प्रवृति पर संक्रमण करता है, अनेक अपेक्षाओं से चिन्तन करता है। ऐसा करना पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान है। शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है।

विवेचन—महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सवितर्क-समापत्ति का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण—सम्मिलित समापत्ति—समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा गया है।[1]

जैन एवं पातञ्जल योग से सम्बद्ध इन दोनों विधाओं की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्यों का प्राकट्य संभाव्य है।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार

पूर्वधर-पूर्वसूत्र का ज्ञाता-पूर्वश्रुत-विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार की संज्ञा से अभिहित है। पहले में पृथक्त्व है अतः वह सविचार है, दूसरे में एकत्व है, इस अपेक्षा से उसकी अविचार संज्ञा है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रम है, दूसरे में असंक्रम। आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें नानात्व-श्रुत-विचार तथा ऐक्य-श्रुत-अविचार संज्ञा से अभिहित किया है।[2]

विवेचन—महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क-समापत्ति एकत्व-वितर्क-अविचार से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं—

"जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का—ध्येयमात्र का निर्भास करने वाली—ध्येयमात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाली हो, स्वयं स्वरूपशून्य की तरह बन जाती हो, तब वैसी स्थिति निर्वितर्क-समापत्ति से संज्ञित होती है।[3]

---

१. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। —पातञ्जल योगदर्शन १.४२

२. ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्यश्रुताविचारं च।
सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्चतुर्धा तत्॥ —योगशास्त्र ११.५

३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। —पातञ्जल योगदर्शन १.४३

यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों, वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।[1]

निर्विचार-समाधि में अत्यन्त वैशद्य—नैर्मल्य रहता है। अतः योगी उसमें अध्यात्म-प्रसाद—आत्म-उल्लास प्राप्त करता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतंभरा होती है, 'ऋतम्' का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या विशिष्ट बुद्धि सत्य का ग्रहण करने वाली होती है। उसमें संशय और भ्रम का लेश भी नहीं रहता। उस ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों का अभाव हो जाता है। अन्ततः ऋतंभरा प्रज्ञा से जनित संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यों समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाता है, निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण इस प्रकार है—

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं, उन्हीं के कारण उसका शुद्ध स्वरूप आवृत है। ज्यों-ज्यों उन आवरणों का विलय होता जाता है, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जाती है और वह स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जाती है। आवरण के अपचय या नाश के जैनदर्शन में तीन क्रम हैं—क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा नष्ट या निर्मूल हो जाना क्षय, अवधिविशेष के लिए शान्त हो जाना उपशम तथा कर्मों की कतिपय प्रकृतियों का सर्वथा क्षीण हो जाना तथा कतिपय प्रकृतियों का अवधिविशेष के लिए उपशान्त हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है वह सबीज है; क्योंकि वहाँ कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद नहीं होता, केवल उपशम होता है। कार्मिक आवरणों के सम्पूर्ण क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है, क्योंकि वहाँ कर्म-बीज परिपूर्ण रूप में दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अवनत दशा में परिवर्तित हो जाती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा में ऐसा नहीं होता।

एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान में, पृथक्त्व-वितर्क-सविचार ध्यान की अपेक्षा अधिक एकाग्रता होती है। यह ध्यान भी पूर्व-धारक मुनि ही कर सकते हैं। इसके प्रभाव से चार घाति-कर्मों का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है और केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त कर ध्याता—आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है।

सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति—जब केवली (जिन्होंने केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लिया हो) आयु के अन्त समय में योग-निरोध का क्रम प्रारंभ करते हैं, तब वे मात्र सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन किये होते हैं, उनके और सब योग निरुद्ध हो जाते हैं। उनमें श्वास-प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही अवशेष रह जाती है। वहाँ ध्यान से च्युत होने की कोई संभावना नहीं रहती। तदवस्थागत एकाग्र चिन्तन सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यान है।

यह तेरहवें गुणस्थान में होता है।

---

१. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। —पातञ्जल योगदर्शन १.४४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समुच्छिन्नक्रिय अनिवृत्ति

यह ध्यान अयोगकेवली नामक चतुर्दश गुणस्थान में होता है। अयोगकेवली अन्तिम गुणस्थान है। वहाँ सभी योगों—क्रियाओं का निरोध हो जाता है, आत्मप्रदेशों में सब प्रकार का कम्पन-परिस्पन्दन बन्द हो जाता है। उसे समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा जाता है। इसका काल अत्यल्प-पांच ह्रस्व स्वरों को मध्यम गति से उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतना ही है। यह ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है।

विवेचन—समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति वह स्थिति है, जब सब प्रकार के स्थूल तथा सूक्ष्म मानसिक, वाचिक तथा दैहिक व्यापारों से आत्मा सर्वथा पृथक् हो जाती है। इस ध्यान के द्वारा अवशेष चार अघाति कर्म—वेदनीय, नाम, गोत्र तथा आयु भी नष्ट हो जाते हैं। फलतः आत्मा सर्वथा निर्मल, शान्त, निरामय, निष्क्रिय, निर्विकल्प होकर सम्पूर्ण आनन्दमय मोक्ष-पद को स्वायत्त कर लेता है।

वस्तुतः आत्मा की यह वह दशा है, जिसे चरम लक्ष्य के रूप में उद्दिष्ट कर साधक साधना में संलग्न रहता है। यह आत्मप्रकर्ष की वह अन्तिम मंजिल है, जिसे अधिगत करने का साधक सदैव प्रयत्न करता है। यह मुक्तावस्था है, सिद्धावस्था है, जब साधक के समस्त योग—प्रवृत्तिक्रम सम्पूर्णतः निरुद्ध हो जाते हैं, कर्मक्षीण हो जाते हैं, वह शैलेशीदशा—मेरुवत् सर्वथा अप्रकम्प, अविचल स्थिति प्राप्त कर लेता है। फलतः वह सिद्ध के रूप में सर्वोच्च लोकाग्र भाग में संस्थित हो जाता है।[1]

शुक्लध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. विवेक—देह से आत्मा की भिन्नता—भेद-विज्ञान, सभी सांयोगिक पदार्थों की आत्मा से पार्थक्य की प्रतीति।

२. व्युत्सर्ग—निःसंग भाव से—अनासक्तिपूर्वक शरीर तथा उपकरणों का विशेष रूप से उत्सर्ग—त्याग अर्थात् देह तथा अपने अधिकारवर्ती भौतिक पदार्थों से ममता हटा लेना।

३. अव्यथा—देव, पिशाच आदि द्वारा कृत उपसर्ग से व्यथित, विचलित नहीं होना, पीड़ा तथा कष्ट आने पर आत्मस्थता नहीं खोना।

४. असंमोह—देव आदि द्वारा रचित मायाजाल में तथा सूक्ष्म भौतिक विषयों में संमूढ या विभ्रान्त नहीं होना।

विवेचन—ध्यानरत पुरुष स्थूल रूप में तो भौतिक विषयों का त्याग किये हुए होता ही है, ध्यान के समय जब कभी इन्द्रिय-भोग संबंधी उत्तेजक भाव उठने लगते हैं तो उनसे भी वह विभ्रान्त एवं विचलित नहीं होता।

---

१. जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ॥ —दशवैकालिक सूत्र ४.२४-२५

शुक्लध्यान के चार आलम्बन कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. क्षान्ति—क्षमाशीलता, सहनशीलता।

२. मुक्ति—लोभ आदि के बन्धन से उन्मुक्तता।

३. आर्जव—ऋजुता—सरलता, निष्कपटता।

४. मार्दव—मृदुता—कोमलता, निरभिमानिता।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं (भावनाएं) बतलाई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. अपायानुप्रेक्षा—आत्मा द्वारा दुश्चरित कर्मों के कारण उत्पद्यमान अपाय—अवाञ्छित, दुःखद स्थितियों—अनर्थों के सम्बन्ध में पुनः पुनः चिन्तन।

२. अशुभानुप्रेक्षा—संसार के अशुभ-पाप-पंकिल, आध्यात्मिक दृष्टि से अप्रशस्त स्वरूप का बार-बार चिन्तन।

३. अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा—भवभ्रमण या संसारचक्र की अनन्तवृत्तिता अन्त काल तक चलते रहने की वृत्ति—स्वभाव पर पुनः पुनः चिन्तन।

४. विपरिणामानुप्रेक्षा—क्षण-क्षण विपरिणत होती—विविध परिणामों में से गुजरती, परिवर्तित होती वस्तु-स्थिति पर—वस्तु-जगत् की विपरिणामधर्मिता पर बार-बार चिन्तन।

यह ध्यान का विवेचन है।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं?

व्युत्सर्ग के दो भेद बतलाये गये हैं—

१. द्रव्य-व्युत्सर्ग, २. भाव-व्युत्सर्ग।

द्रव्य-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं?

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. शरीर-व्युत्सर्ग—देह तथा दैहिक सम्बन्धों की ममता या आसक्ति का त्याग।

२. गण-व्युत्सर्ग—गण एवं गण के ममत्व का त्याग।

३. उपधि-व्युत्सर्ग—उपधि का त्याग करना एवं साधन-सामग्रीगत ममता का, साधन-सामग्री को मोहक तथा आकर्षक बनाने हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों का त्याग।

४. भक्त-पान-व्युत्सर्ग—आहार-पानी का, तद्गत आसक्ति या लोलुपता आदि का त्याग।

भाव-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं?

भाव-व्युत्सर्ग के तीन भेद कहे गये हैं—१. कषाय-व्युत्सर्ग, २. संसार-व्युत्सर्ग, ३. कर्म-व्युत्सर्ग।

कषाय-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं?

कषाय-व्युत्सर्ग के चार भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. क्रोध-कषाय-व्युत्सर्ग—क्रोध का त्याग ।
२. मान-व्युत्सर्ग—अहंकार का त्याग ।
३. माया-व्युत्सर्ग—छल-कपट का त्याग ।
४. लोभ-व्युत्सर्ग—लालच का त्याग ।

यह कषाय-व्युत्सर्ग का विवेचन है ।

संसारव्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

संसारव्युत्सर्ग चार प्रकार का बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

१. नैरयिक-संसारव्युत्सर्ग—नरक-गति बँधने के कारणों का त्याग ।
२. तिर्यक्-संसारव्युत्सर्ग—तिर्यञ्च-गति बँधने के कारणों का त्याग ।
३. मनुज-संसारव्युत्सर्ग—मनुष्य-गति बँधने के कारणों का त्याग ।
४. देव-संसारव्युत्सर्ग—देव-गति बँधने के कारणों का त्याग ।

यह संसारव्युत्सर्ग का वर्णन है ।

कर्मव्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

कर्मव्युत्सर्ग आठ प्रकार का बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

१. ज्ञानावरणीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के ज्ञान गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
२. दर्शनावरणीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के दर्शन—सामान्य ज्ञान गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
३. वेदनीय-कर्म-व्युत्सर्ग—साता-असाता—सुख-दुःख रूप वेदना के हेतुभूत कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग, सुख-दुःखात्मक अनुकूल-प्रतिकूल वेदनीयता में आत्मा को तद्-अभिन्न मानने का उत्सर्जन ।
४. मोहनीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के स्वप्रतीति—स्वानुभूति-स्वभावरमणरूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
५. आयुष्य-कर्म-व्युत्सर्ग—किसी भव में—पर्याय में रोक रखने वाले आयुष्य कर्म के पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
६. नाम-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के अमूर्तत्व गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
७. गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के अगुरुलघुत्व (न भारीपन-न हलकापन) रूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
८. अन्तराय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के शक्ति-रूप गुण के आवरक, अवरोधक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।

यह कर्मव्युत्सर्ग है ।

इस प्रकार व्युत्सर्ग का विवेचन है ।

विवेचन—यहाँ प्रस्तुत बाह्य तथा आभ्यन्तर तप का विश्लेषण अध्यात्म साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तप ही जीवन के अन्तिम साध्य मोक्ष तक पहुँचाने का प्रमुख मार्ग है। भारत की सभी धर्म-परंपराओं में तप पर विशेष जोर दिया जाता रहा है।

भारत की अध्यात्म-साधना के विकास एवं विस्तार की ऐतिहासिक गवेषणा करने पर तप मूलक अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। उदाहरणार्थ कभी ऐसे साधकों का एक विशेष आम्नाय इस देश में था, जो तप को ही सर्वाधिक महत्त्व देते थे। उनमें अवधूत साधकों की एक विशेष परंपरा थी।

प्रेरक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में अवधूत शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त है। अवधूत का शाब्दिक विश्लेषण करें तो इसका तात्पर्य सर्वथा कंपा देने वाला या हिला देने वाला है। अवधूत शब्द के साथ प्राचीन वाङ्मय में जो भाव जुड़ा है उसकी साध्यता यों बन सकती है—अवधूत वह है, जिसने भोग-वासना को प्रकंपित कर दिया हो, अपने तपोमय भोग-विरत जीवन द्वारा एषणाओं और लिप्साओं को झकझोर दिया हो। भागवत में ऋषभ को एक महान् तपस्वी अवधूत साधक के रूप में व्याख्यात किया गया है। वहाँ लिखा है—

"भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे। भरत सबमें ज्येष्ठ थे। वे परम भागवत तथा भक्तों के अनुरागी थे। ऋषभ ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हें राज्यारूढ किया। स्वयं सब कुछ वहीं छोड़कर वे केवल देह मात्र का परिग्रह लिये घर से निकल पड़े। आकाश ही उनका परिधान था। उनके बाल बिखरे हुए थे। आहवनीय—हवन योग्य अग्नि को मानो उन्होंने अपने में लीन कर लिया हो, यों वे ब्रह्मावर्त से बाहर निकल गये।

कभी शहरों में, कभी गाँवों में, कभी खदानों में, कभी कृषकों की बस्तियों में, उद्यानों में, पहाड़ी गाँवों में, सेना के शिविरों में, ग्वालों की झोंपड़ियों में, पहाड़ों में, वनों में, आश्रमों में—ऐसे ही अन्यान्य स्थानों में टिकते, विचरते। वे कभी किसी रास्ते से निकलते तो जैसे वन में घूमने वाले हाथी को मक्खियाँ तंग करती हैं, उसी प्रकार अज्ञानी, दुष्ट जन उनके पीछे हो जाते और उन्हें सताते, उन्हें धमकाते, ताड़ना देते, उन पर मूत्र कर देते, थूक देते, पत्थर मार देते, विष्ठा और धूल फेंक देते, उन पर अधोवायु छोड़ते, अपभाषण द्वारा उनकी अवगणना—तिरस्कार करते, पर वे उन सब बातों पर जरा भी गौर नहीं करते। क्योंकि भ्रान्तिवश जिस शरीर को सत्य कहा जाता है, उस मिथ्या देह में उनका अहंभाव या ममत्व जरा भी नहीं रह गया था। वे कार्य-कारणात्मक समस्त जगत्प्रपञ्च को साक्षी या तटस्थ के रूप में देखते, अपने पामात्म-स्वरूप में लीन रहते और अपनी चित्तवृत्ति को अखण्डित—सुस्थिर बनाये पृथ्वी पर एकाकी विचरण करते।[1]

भागवत में जड भरत[2] तथा दत्तात्रेय[3] का भी अवधूत के रूप में वर्णन आया है, जहाँ उनके उग्र तपोमय जीवन की विस्तृत चर्चा है। योगिराज भर्तृहरि भी अवधूत के रूप में विख्यात रहे हैं।

---

१. भागवत पञ्चम स्कन्ध, ५.२८-३१

२. भागवत पञ्चम स्कन्ध, ७—१०

३. भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय ७.

अवधूतगीता नामक एक पुस्तक भी प्राप्त है, जिसमें तपोमय अवधूत-चर्या का वर्णन है। अवधूतगीता के प्रणेता के रूप में दत्तात्रेय का नाम लिया जाता है। पर, रचनाकाल, रचनाकार आदि के सन्दर्भ में उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। वह एक अर्वाचीन रचना प्रतीत होती है, जिसमें भागवत आदि के आधार पर अवधूत-चर्या का संकलन उपस्थित किया गया है।

यह तीव्रतप पूर्ण साधनाक्रम एक संप्रदाय विशेष तक सीमित नहीं रहा। थोड़े बहुत भेद के साथ सभी परंपराओं में स्थान पा गया। बोधि प्राप्त होने से पूर्व भगवान् बुद्ध ने अति घोर तपस्या का मार्ग अपनाया था। मज्झिमनिकाय में उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्त को संबोधित कर अपने तपश्चरण के सम्बन्ध में विस्तार से कहा है।[1]

अवधूत साधक का जिस प्रकार का विवेचन भागवत में आया है, जैसा मज्झिमनिकाय में बुद्ध के तपश्चरण का वर्णन है, उसी कोटि का संस्पर्श करता हुआ वर्णन जैन आगमों में भी प्राप्त होता है। जैन आगमों में आचारांगसूत्र का सर्वाधिक महत्त्व है। वह ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। आचारांग के नवम अध्ययन में भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है। जैसी कृच्छ्र साधना वे करते थे, वह वही साधक कर सकता है जो भौतिक सुख-सुविधा को मन से सर्वथा निकाल चुका हो, जिसके लिए शरीर बिल्कुल गौण हो गया हो, जो आत्मभाव में सम्पूर्णतः अपने को खोये हुए हो। भगवान् महावीर अपने साधना-मार्ग में आनेवाले भीषणतम विघ्नों, दुःसह बाधाओं और कष्टों को झेलते हुए मस्ती से अपने गन्तव्य की ओर गतिशील रहे। मनुष्यकृत, पशुकृत, इतरजीव-जन्तु-कीटाणु-कृत उपसर्ग, जिनसे आदमी थर्रा उठता है, उनके लिए कुछ भी नहीं थे। एक ऐसा नितान्त आत्मजनीन जीवन, जिसमें लोकजनीनता का भाव अत्यन्त तिरोहित था, स्वीकार किये अपनी साधना में उत्तरोत्तर प्रगति करते गये। कठोरतम क्लेशों के प्रति उपेक्षाभाव तथा लोकसंग्रह एवं लोकानुकूल्य के प्रति संपूर्ण औदासीन्य, परकृत तिरस्कार और अवहेलना से सर्वथा अप्रभावितता ये कुछ ऐसी बातें थीं, जिनका प्रवाह अवधूत-साधना से दूरवर्ती नहीं कहा जा सकता।

आचारांग सूत्र के छठे अध्ययन का नाम 'धूताध्ययन' है। अवधूत पद में 'धूत' शब्द है ही। जैसा पहले इसका अर्थ किया गया है, अवधूत वह है, जो आत्मा के विजातीय भाव को अथवा भोग-लिप्सा, वासना, तृष्णा एवं आसक्ति को संपूर्णतः कंपा दे, हिला दे, डगमगा दे।

बौद्धचर्या में भी धूतांगों के नाम से विसुद्धिमग्ग आदि में विवेचन है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो प्रतीत होता है, इन दोनों ही परंपराओं में कभी अवधूत शब्द गृहीत रहा हो, जो आगे चलकर प्रयत्न-लाघव आदि के कारण संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से 'अव' उपसर्ग को हटाकर केवल धूत (धुत) ही रख लिया गया हो। अवधूत पद में मुख्य तो धूत शब्द ही है।

भाषा-विज्ञान का यह प्रयत्न-लाघव-मूलक क्रम व्याकरण में भी दृष्टिगोचर होता है। 'एकशेष' समास में, जहाँ दो शब्द मिलकर 'समस्त' पद बनाते हैं, समास के निष्पन्न होने पर एक ही शब्द अवशिष्ट रह जाता है, जो दोनों शब्दों का अभिप्राय व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ—भ्राता (भाई) और श्वसा (बहिन)—इन दोनों का समास करने पर 'भ्रातरौ' मात्र रहेगा। वैसे साधारण

१. मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्तन्त १.२.२

भ्रातरौ 'भ्रातृ' शब्द का प्रथमा विभक्ति का द्विवचन रूप है, जिसका अर्थ 'दो भाई' होता है। पर, समास के रूप में यह भाई और बहिन का द्योतक है। उसी प्रकार पुत्र (बेटा) और दुहिता (बेटी) का समास करने पर समस्त पद 'पुत्रौ' होगा।[1] इसी प्रकार और अनेक शब्द हैं। प्रश्न उपस्थित होता है, वैयाकरणों ने वैसा क्यों किया। इस सम्बन्ध में प्रयत्न-लाघव और संक्षिप्तीकरण के रूप में ऊपर जो संकेत किया गया है, तदनुसार प्रयत्न-लाघव का यह क्रम भाषा में चिरकाल से चला-आ रहा है। प्रयत्न-लाघव को 'मुख-सुख' भी कहते हैं। हर व्यक्ति का प्रयास रहता है कि उसे किसी शब्द के बोलने में विशेष कठिनाई न हो, उसका मुँह सुखपूर्वक उसे बोल सके, बोलने में कम समय लगे। भाषाशास्त्री बतलाते हैं कि किसी भी जीवित भाषा में विकास या परिवर्तन का नब्बे प्रतिशत से अधिक आधार यही है।[2] परिनिष्ठित भाषाओं के इर्दगिर्द चलने वाली लोक-भाषाएँ अपने बहुआयामी विकास में इसी आधार को लिए अग्रसर होती हैं। जैसे संस्कृत का आलक्तक शब्द 'आलता' के रूप में संक्षिप्त और मुखसुखकर बन जाता है। अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं में भी यह बात रही है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के Knife शब्द को लें। सही रूप में यह 'क्नाइफ' उच्चारित होना चाहिए, पर यहाँ उच्चारण में K लुप्त है। यद्यपि यह एकांगी उदाहरण है, क्योंकि शब्द के अवयव में K विद्यमान है पर उच्चारण के सन्दर्भ में प्रयत्न-लाघव की बात इससे सिद्ध होती है। ऐसे सैकड़ों शब्द अंग्रेजी में हैं।

आचारांग के धूताध्ययन में साधक की जिस चर्या का वर्णन है, वह ऐसी कठोर साधना से जुड़ी है, जहाँ शारीरिक क्लेश, उपद्रव, विघ्न, बाधा आदि को जरा भी विचलित हुए बिना सह जाने का संकेत है। वहाँ कहा गया है—

"यदि साधक को कोई मनुष्य गाली दे, अंग-भंग करे, अनुचित और गलत शब्दों द्वारा संबोधित करे, झूठा आरोप लगाए, साधक सम्यक् चिन्तन द्वारा इन्हें सहन करे।"[3]

"संयम-साधना के लिए उत्थित, स्थितात्मा, अनीह—धीर, सहिष्णु, परिषह—कष्ट से अप्रकम्पित रहने वाला, कर्म-समूह को प्रकम्पित करनेवाला, संयम में संलग्न रहनेवाला साधक अप्रतिबद्ध होकर विचरण करे।"[4]

इस प्रकार साधक की दुःसह अति कठोर एवं उद्दीप्त साधना का वहाँ विस्तृत वर्णन है।

---

१. भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्।
भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ।
पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ। —वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी १.२.६८, पृष्ठ ९४

२. भाषाविज्ञान—पृष्ठ ५२, ३७९

३. से अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पलियं पगंथे अदुवा पगंथे।
अतहेहिं सद्द-फासेहिं, इति संखाए। —आयारो १,६,२. ४१,४३

४. एवं से उट्ठिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले,
अबहिलेस्से परिव्वए। —आयारो १,६,५. १०६

अनगारों द्वारा उत्कृष्ट धर्माराधना

३१—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो अप्पेगइया आयारधरा, जाव (सूयगडधरा, ठाणधरा, समवायधरा, वियाहपण्णत्तिधरा, नायधम्मकहाधरा, उवासगदसाधरा, अंतगडदसाधरा, अणुत्तरोववाइयदसाधरा, पण्हावागरणधरा,) विवागसुयधरा, तत्थ तत्थ तहिं तहिं देसे देसे गच्छागच्छिं गुम्मागुम्मिं फड्डाफड्डिं अप्पेगइया वायंति, अप्पेगइया पडिपुच्छंति, अप्पेगइया परियट्टंति, अप्पेगइया अणुप्पेहंति, अप्पेगइया अक्खेवणीओ, विक्खेवणीओ, संवेयणीओ, णिव्वेयणीओ बहुविहाओ कहाओ कहंति, अप्पेगइया उड्ढंजाणू, अहोसिरा, झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा भावेमाणा विहरंति।

३१—उस काल, उस समय—जब भगवान् महावीर चम्पा में पधारे, उनके साथ उनके अनेक अन्तेवासी अनगार—श्रमण थे। उनके कई एक आचार (सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण) तथा विपाकश्रुत के धारक थे। वे वहीं—उसी उद्यान में भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक-एक समूह के रूप में, समूह के एक-एक भाग के रूप में तथा फुटकर रूप में विभक्त होकर अवस्थित थे। उनमें कई आगमों की वाचना देते थे—आगम पढ़ाते थे। कई प्रतिपृच्छा करते थे—प्रश्नोत्तर द्वारा शंका-समाधान करते थे। कई अधीत पाठ की परिवर्तना—पुनरावृत्ति करते थे। कई अनुप्रेक्षा—चिन्तन-मनन करते थे।

उनमें कई आक्षेपणी—मोहमाया से दूर कर समत्व की ओर आकृष्ट तथा उन्मुख करने वाली, विक्षेपणी—कुत्सित मार्ग से विमुख करने वाली, संवेगनी—मोक्षमुख की अभिलाषा उत्पन्न करने वाली तथा निर्वेदनी—संसार से निर्वेद, वैराग्य, औदासीन्य उत्पन्न करने वाली—यों अनेक प्रकार की धर्म-कथाएँ कहते थे।

उनमें कई अपने दोनों घुटनों को ऊँचा उठाये, मस्तक को नीचा किये—यों एक विशेष आसन में अवस्थित हो ध्यानरूप कोष्ठ में—कोठे में प्रविष्ट थे—ध्यान-रत थे।

इस प्रकार वे अनगार संयम तथा तप से आत्मा को भावित—अनुप्राणित करते हुए अपनी जीवन-यात्रा चला रहे थे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के समय में श्रमणों में आगमों के सतत् विधिवत् अध्ययन तथा ध्यानाभ्यास का विशेष प्रचलन था। जैसा यहाँ वर्णित हुआ है, भगवान् महावीर के अन्तेवासी श्रमण आवश्यकता एवं उपयोगिता के अनुसार बड़े-बड़े या छोटे-छोटे समूहों में अलग-अलग बैठ जाते थे, इक्के दुक्के भी बैठ जाते थे और आगमों के अध्ययन, विवेचन, तत्सम्बन्धी चर्चा, विचार-विमर्श आदि में अत्यन्त तन्मय भाव से अपने को लगाये रखते थे। पठन-पाठन चिन्तन-मनन की बड़ी स्वस्थ परम्परा वह थी।

जिन्हें ध्यान या योग-साधना में विशेष रस होता था, वे अपनी भावना, अभ्यास तथा धारणा के अनुरूप विभिन्न दैहिक स्थितियों में अवस्थित हो उधर संलग्न रहते थे।

३२—संसारभउव्विग्गा, भीया, जम्मण-जर-मरण-करणगम्भीरदुक्खपक्खुब्भियपउरसलिलं, संजोग-विओग-वीचिचिंतापसंगपसरिय-वह-बंध- महल्लविउलकल्लोल- कलुणविलविय- लोभकलकलंत-बोलबहुलं, अवमाणणफेण-तिव्व-खिसण-पुलपुलप्पभूय-रोग-वेयणपरिभव-विणिवाय-फरुसधरिसणा-समावडियकढिणकम्मपत्थर-तरंगरंगंत-निच्चमच्चुभय-तोयपट्ठं, कसाय-पायालसंकुलं, भवसयसहस्स-कलुसजल-संचयं, पइभयं, अपरिमियमहिच्छ-कलुसमइ-वाउवेगउद्धुम्ममाण-दगरयरयंधआर-वरफेण-पउर-आसापिवासधवलं, मोहमहावत्त-भोग-भममाण-गुप्पमाणुच्छलंत-पच्चोणियत्त-पाणिय-पमाय-चंडबहुदुट्ठ-सावयसमाहयुद्धायमाण-पब्भार-घोरकंदिय-महारवरवंतभेरवरवं, अण्णाणभमंतमच्छपरिहत्थ-अणिहुयिंदियमहामगर-तुरियचरियखोखुब्भमाण-नच्चंत-चवलचंचलचलंत-घुम्मंतजलसमूहं, अरइ-भय-विसाय-सोग-मिच्छत्त-सेलसंकडं, अणाइसंताणकम्मबंधण-किलेस-चिक्खिल्लसुदुत्तारं, अमर-णर-तिरिय-णरय-गइगमण-कुडिलपरियत्तविउलवेलं, चउरंतं, महंतमणवयग्गं, रुद्दं संसारसागरं भीमं, दरिसणिज्जं तरंति धिइधणियनिप्पकंपणे तुरियचवलं संवर-वेरग्ग-तु गकूवयसुसंपउत्तेणं, णाम-सिय-विमलमूसिएणं सम्मत्त-विसुद्ध-णिज्जामएणं धीरा संजम-पोएण सीलकलिया पसत्थज्झाण-तववाय-पणोल्लिय-पहाविएणं उज्जम-ववसाय-ग्गहियणिज्जरण-जयणउवओग-णाण-दंसण-[चरित्त] विसुद्धवय [वर] भंडभरियसारा, जिणवरवयणोवदिट्ठमग्गेण अकुडिलेण सिद्धिमहापट्टणाभिमुहा समणवरसत्थवाहा सुसुइ-सुसंभास-सुपण्ह-सासा गामे गामे एगरायं, णगरे णगरे पंचरायं दूइज्जंता, जिइंदिया, णिब्भया, गयभया सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु विरागयं गया, संजया [विरता], मुत्ता, लहुया, णिरवकंखा साहू णिहुया चरंति धम्मं ।

३२—वे (अनगार) संसार के भय से उद्विग्न एवं चिन्तित थे—आवागमन रूप चतुर्गतिमय चक्र को कैसे पार कर पाएँ—इस चिन्ता में व्यस्त थे ।

यह संसार एक समुद्र है । जन्म, वृद्धावस्था तथा मृत्यु द्वारा जनित घोर दुःख रूप प्रक्षुभित—छलछलाते प्रचुर जल से यह भरा है । उस जल में संयोग-वियोग—मिलन तथा विरह के रूप में लहरें उत्पन्न हो रही हैं । चिन्तापूर्ण प्रसंगों से वे लहरें दूर-दूर तक फैलती जा रही हैं । वध तथा बन्धन रूप विशाल, विपुल कल्लोलें उठ रही हैं, जो करुण विलपित—शोकपूर्ण विलाप तथा लोभ की कलकल करती तीव्र ध्वनि से युक्त हैं । तोयपृष्ठ—जल का ऊपरी भाग अवमानना—अवहेलना या तिरस्कार रूप झागों से ढँका है । तीव्र निन्दा, निरन्तर अनुभूत रोग-वेदना, औरों से प्राप्त होता अपमान, विनिपात—नाश, कटु वचन द्वारा निर्भर्त्सना, तत्प्रतिबद्ध ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कठोर उदय की टक्कर से उठती हुई तरंगों से वह परिव्याप्त है । वह (तोयपृष्ठ) नित्य मृत्यु भय रूप है ।

यह संसार रूप समुद्र कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप पाताल—तलभूमि से परिव्याप्त है । इस (समुद्र) में लाखों जन्मों में अर्जित पापमय जल संचित है । अपरिमित—असीम इच्छाओं से म्लान बनी बुद्धि रूपी वायु के वेग से ऊपर उछलते सघन जल-कणों के कारण अंधकारयुक्त तथा आशा—अप्राप्त पदार्थों के प्राप्त होने की सम्भावना, पिपासा—अप्राप्त पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा द्वारा उजले झागों की तरह वह धवल है ।

संसार-सागर में मोह के रूप में बड़े-बड़े आवर्त्त—जलमय विशाल चक्र हैं । उनमें भोग रूप भंवर—जल के छोटे गोलाकार घुमाव हैं । अत एव दुःख रूप जल भ्रमण करता हुआ—चक्र काटता हुआ, चपल होता हुआ, ऊपर उछलता हुआ, नीचे गिरता हुआ विद्यमान है । अपने में स्थित प्रमाद-

रूप प्रचण्ड—भयानक, अत्यन्त दुष्ट—हिंसक जल-जीवों से आहत होकर ऊपर उछलते हुए, नीचे गिरते हुए, बुरी तरह चीखते-चिल्लाते हुए क्षुद्र जीव-समूहों से यह (समुद्र) व्याप्त है। वही मानो उसका भयावह घोष या गर्जन है।

अज्ञान ही भव-सागर में घूमते हुए मत्स्यों के रूप में है। अनुपशान्त इन्द्रिय-समूह उसमें बड़े-बड़े मगरमच्छ हैं, जिनके त्वरापूर्वक चलते रहने से जल, क्षुब्ध हो रहा है—उछल रहा है, नृत्य सा कर रहा है, चपलता-चंचलतापूर्वक चल रहा है, घूम रहा है।

यह संसार रूप सागर अरति—संयम में अभिरुचि के अभाव, भव, विषाद, शोक तथा मिथ्यात्व रूप पर्वतों से संकुल—व्याप्त है। यह अनादि काल से चले आ रहे कर्म-बंधन, तत्प्रसूत क्लेश रूप कर्दम के कारण अत्यन्त दुस्तर—दुर्लंघ्य है। यह देव-गति, मनुष्य-गति, तिर्यक्-गति तथा नरक-गति में गमनरूप कुटिल परिवर्त—जलभ्रमियुक्त है, विपुल ज्वार सहित है। चार गतियों के रूप में इसके चार अन्त—किनारे, दिशाएँ हैं। यह विशाल, अनन्त—अगाध, रौद्र तथा भयानक दिखाई देने वाला है। इस संसार-सागर को वे शीलसम्पन्न अनगार संयमरूप जहाज द्वारा शीघ्रतापूर्वक पार कर रहे थे।

वह (संयम-पोत) धृति—धैर्य, सहिष्णुता रूप रज्जू से बँधा होने के कारण निष्प्रकम्प—सुस्थिर था। संवर—आस्रव-निरोध—हिंसा आदि से विरति तथा वैराग्य—संसार से विरक्ति रूप उच्च कूपक—ऊँचे मस्तूल से संयुक्त था। उस जहाज में ज्ञान रूप श्वेत—निर्मल वस्त्र का ऊँचा पाल तना हुआ था। विशुद्ध सम्यक्त्व रूप कर्णधार उसे प्राप्त था। वह प्रशस्त ध्यान तथा तप रूप वायु से अनुप्रेरित होता हुआ प्रधावित हो रहा था—शीघ्र गति से चल रहा था। उसमें उद्यम—अनालस्य, व्यवसाय—सुप्रयत्न तथा परखपूर्वक गृहीत निर्जरा, यतना, उपयोग, ज्ञान, दर्शन (चारित्र) तथा विशुद्ध व्रत रूप श्रेष्ठ माल भरा था। वीतराग प्रभु के वचनों द्वारा उपदिष्ट शुद्ध मार्ग से वे श्रमण रूप उत्तम सार्थवाह—दूर-दूर तक व्यवसाय करने वाले बड़े व्यापारी, सिद्धिरूप महापट्टन—बड़े बन्दरगाह की ओर बढ़े जा रहे थे। वे सम्यक् श्रुत—सत्सिद्धान्त-प्ररूपक आगम-ज्ञान, उत्तम संभाषण, प्रश्न तथा उत्तम आकांक्षा—सद्भावना समायुक्त थे अथवा वे सम्यक् श्रुत, उत्तम भाषण तथा प्रश्न-प्रतिप्रश्न आदि द्वारा उत्तम शिक्षा प्रदान करते थे।

वे अनगार ग्रामों में एक-एक रात तथा नगरों में पाँच-पाँच रात प्रवास करते हुए जितेन्द्रिय—इन्द्रियों को वश में किये हुए, निर्भय—मोहनीय आदि भयोत्पादक कर्मों का उदय रोकने वाले, गतभय—भय से अतीत—वैसे भय को निष्फल बनाने वाले, सचित्त—जीवसहित, अचित्त—जीवरहित, मिश्रित—सचित्त—अचित्त मिले हुए द्रव्यों में वैराग्ययुक्त—उनसे विरक्त रहने वाले, संयत—संयमयुक्त, विरत—हिंसा आदि से निवृत्त या तप में विशेष रूप से रत—अनुरागशील (लगे हुए), या जगत् में औत्सुक्यरहित अथवा रजस् या पापरहित, मुक्त—आसक्ति से छूटे हुए, लघुक—हलके अथवा न्यूनतम उपकरण रखने वाले, निरवकांक्ष—आकांक्षा—इच्छा रहित, साधु—मुक्ति के साधक एवं निभृत—प्रशान्त वृत्तियुक्त होकर धर्म की आराधना करते थे।

भगवान् की सेवा में असुरकुमार देवों का आगमन

३३—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे असुरकुमारा देवा अंतियं पाउब्भवित्था, काल-महाणील-सरिस-णीलगुलिय-गवल-अयसि-कुसुमप्पगासा, वियसियसयवत्तमिव

पत्तलनिम्मला, ईसीसिय-रत्त-तंबणयणा, गरुलायय-उज्जु-तुंग-णासा, ओयवियसिलप्पवाल-बिंबफल-सण्णिभाहरोट्ठा, पंडुरससिसयल-विमल-णिम्मलसंख-गोखीरफेण-दगरय-मुणालिया-धवलदंतसेढी, हुयवह-णिद्धंत-धोय-तत्त-तवणिज्ज-रत्ततलतालुजीहा, अंजण-घण-कसिण-रुयग-रमणिज्ज-णिद्ध-केसा, वामेगकुंडलधरा, अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता, ईसीसिलिंधपुप्फप्पगासाइं असंकिलिट्ठाइं सुहुमाइं वत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढमं समइक्कंता, बिइयं च असंपत्ता, भद्दे जोव्वणे वट्टमाणा, तलभंगय-तुडिय-पवरभूसण-निम्मलमणिरयण-मंडियभुया, दसमुद्दामंडियग्गहत्था, चूलामणिचिंधगया, सुरूवा, महिड्ढिया, महज्जुइया, महब्बला, महायसा, महासोक्खा, महाणुभागा, हारविराइयवच्छा, कडगतुडियथंभियभुया, अंगय-कुंडल-मट्ठगंडतला, कण्णपीढधारी, विचित्तहत्थाभरणा, विचित्तमालामउलिमउडा, कल्लाण-गपवरवत्थपरिहिया, कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणा, भासुरबोंदी, पलंबवणमालधरा, दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं रूवेणं, एवं—फासेणं, संघाएणं, संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, जुईए, पभाए, छायाए, अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा, पभासेमाणा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं आगम्मागम्म रत्ता, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करेत्ता वंदंति, णमंसंति, (वंदित्ता) णमंसित्ता [साइं साइं णामगोयाइं सावेन्ति] णच्चासण्णे, णाइदूरे सुस्सूसमाणा, णमंसमाणा, अभिमुहा, विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति ॥

३३—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के पास अनेक असुरकुमार देव प्रादुर्भूत-प्रकट हुए। काले महानीलमणि, नीलमणि, नील की गुटका, भैंसे के सींग तथा अलसी के पुष्प जैसा उनका काला वर्ण तथा दीप्ति थी। उनके नेत्र खिले हुए कमल सदृश थे। नेत्रों की भौंहें (सूक्ष्म रोममय तथा) निर्मल थीं। उनके नेत्रों का वर्ण कुछ-कुछ सफेद, लाल तथा ताम्र जैसा था। उनकी नासिकाएँ गरुड के सदृश, लम्बी, सीधी तथा उन्नत थीं। उनके होठ परिपुष्ट मूंगे एवं बिम्ब फल के समान लाल थे। उनकी दन्तपंक्तियाँ स्वच्छ—निर्मल—कलंक शून्य चन्द्रमा के टुकड़ों जैसी उज्ज्वल तथा शंख, गाय के दूध के झाग, जलकण एवं कमलनाल के सदृश धवल—श्वेत थीं। उनकी हथेलियाँ, पैरों के तलवे, तालु तथा जिह्वा—अग्नि में गर्म किये हुए, धोये हुए पुनः तपाये हुए, शोधित किये हुए निर्मल स्वर्ण के समान लालिमा लिये हुए थे। उनके केश काजल तथा मेघ के सदृश काले तथा रुचक मणि के समान रमणीय और स्निग्ध—चिकने, मुलायम थे। उनके बायें कानों में एक-एक कुण्डल था। (दाहिने कानों में अन्य आभरण थे) उनके शरीर आर्द्र—गीले—घिसकर पीठी बनाये हुए चन्दन से लिप्त थे। उन्होंने सिलीध्र-पुष्प जैसे कुछ-कुछ श्वेत या लालिमा लिये हुए श्वेत, सूक्ष्म—महीन, असंक्लिष्ट—निर्दोष या ढीले वस्त्र सुन्दर रूप में पहन रखे थे। वे प्रथम वय—बाल्यावस्था को पार कर चुके थे, मध्यम वय—परिपक्व युवावस्था नहीं प्राप्त किये हुए थे, भद्र यौवन—भोली जवानी—किशोरावस्था में विद्यमान थे। उनकी भुजाएँ तलभंगकों—बाहुओं के आभरणों, त्रुटिकाओं—बाहुरक्षिकाओं या तोड़ों, अन्यान्य उत्तम आभूषणों तथा निर्मल—उज्ज्वल रत्नों, मणियों से सुशोभित थीं। उनके हाथों की दशों अंगुलियाँ अंगूठियों से मंडित—अलंकृत थीं। उनके मुकुटों पर चूडामणि के रूप में विशेष चिह्न थे। वे सुरूप—सुन्दर रूपयुक्त, परम ऋद्धिशाली, परम द्युतिमान्, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुखी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। उनके वक्षः-स्थलों पर हार सुशोभित हो रहे थे। वे अपनी भुजाओं पर कंकण तथा भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखनेवाली आभरणात्मक पट्टियाँ एवं अंगद—भुजबंध धारण किये हुए थे। उनके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मण्डित—चित्रित कपोलों पर कुंडल व अन्य कर्णभूषण शोभित थे। वे विचित्र—

विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण—हाथों के आभूषण धारण किये हुए थे। उनके मस्तकों पर तरह-तरह की मालाओं से युक्त मुकुट थे। वे कल्याणकृत्—मांगलिक, अनुपहत या अखंडित, प्रवर—उत्तम पोशाक पहने हुए थे। वे मंगलमय, उत्तम मालाओं एवं अनुलेपन—चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त थे। उनके शरीर देदीप्यमान थे। वनमालाएँ—सभी ऋतुओं में विकसित होने वाले फूलों से बनी मालाएँ[1] उनके गलों से घुटनों तक लटकती थीं। उन्होंने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, संघात—दैहिक गठन, संस्थान—दैहिक अवस्थिति, ऋद्धि—विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि, द्युति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति, अर्चि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्मपरिणति—तदनुरूप प्रभामंडल से दशों दिशाओं को उद्योतित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक—भक्तिसहित तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया। वैसा कर (अपने-अपने नामों तथा गोत्रों का उच्चारण करते हुए) वे भगवान् महावीर के न अधिक समीप, न अधिक दूर शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़े हुए उनकी पर्युपासना—अभ्यर्थना करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत प्रसंग में असुरकुमार देवों की अन्यान्य विशेषताओं के साथ-साथ उनके वस्त्रों की भी चर्चा आई है। उनके वस्त्र शिलीन्ध्र पुष्प जैसे वर्ण तथा द्युति युक्त कहे गये हैं। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने वहाँ 'ईषत् सितानि' 'कुछ-कुछ सफेद' अर्थ किया है। उन्होंने मतान्तर के रूप में एक वाक्य भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार असुरकुमारों के वस्त्र लाल होते हैं।[2] परम्परा से असुरकुमारों के वस्त्र लाल माने जाते हैं। अतः शिलीन्ध्र पुष्प की उपमा वहाँ घटित नहीं होती, क्योंकि वे सफेद होते हैं।

कुछ विद्वानों ने 'कुछ-कुछ सफेद' के स्थान पर 'कुछ-कुछ लाल' अर्थ भी किया है। पर शिलीन्ध्र-पुष्पों के साथ उसकी संगति कैसे हो?

मूलतः तह पन्नवणा का प्रसंग है, जहाँ विभिन्न गतियों के जीवों के स्थान, स्वरूप, स्थिति आदि का वर्णन है।[3]

एक समाधान यों भी हो सकता है, ऐसे शिलीन्ध्र-पुष्पों की ओर सूत्रकार का संकेत रहा हो, जो सर्वथा सफेद न होकर कुछ-कुछ लालिमायुक्त सफेद हों।

असुरकुमारों के मुकुट-स्थित चिह्न के वर्णन में यहाँ चूडामणि का उल्लेख है। इसका स्पष्टीकरण यों है—विभिन्न जाति के देवों के अपने-अपने चिह्न होते हैं, जो उनके मुकुटों पर लगे रहते हैं। वृत्तिकार ने चिह्नों के सम्बन्ध में निम्नांकित गाथा उद्धृत की है[4]—

---

१. आजानुलम्बिनी माला, सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला।
मध्यस्थूलकदम्बाढ्या, वनमालेति कीर्तिता। —रघुवंशमहाकाव्य ९, ५१

२. असुरेसु होंति रत्तं ति मतान्तरम्। —औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ४९

३. पन्नवणा, पद २

४. औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ४९

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"चूडामणि-फणि-वज्जे गरुडे घड-अस्स-वद्धमाणे य ।
मयरे सीहे हत्थी असुराईणं मुणसु चिंधे ।।"
(चूडामणिः फणी वज्रं गरुडः घटोऽश्वो वर्द्धमानश्च ।
मकरः सिंहो हस्ती असुरादीनां मुण चिह्नानि ।।)

पन्नवणा में भी यह प्रसंग चर्चित हुआ है। तदनुसार असुरकुमार का चिह्न चूडामणि, नागकुमार का नाग-फण, सुवर्णकुमार का गरुड, विद्युत्कुमार का वज्र, अग्निकुमार का पूर्ण कलश, द्वीपकुमार का सिंह, उदधिकुमार का अश्व, दिशाकुमार का हाथी, पवनकुमार का मगर तथा स्तनितकुमार का वर्द्धमानक है।[1]

शेष भवनवासी देवों का आगमन

३४—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे असुरिंदवज्जिया भवणवासी देवा अंतियं पाउब्भवित्था—णागपइणो, सुवण्णा, विज्जू, अग्गी य दीव-उदही, दिसाकुमारा य पवण-थणिया य भवणवासी, णागफडा-गरुल-वइर-पुण्णकलस-सीह-हय-गय-मगर-मउड-वद्धमाण-णिज्जुत चिंधगया, सुरूवा, महिड्ढिया जाव (महज्जुइया, महब्बला, महायसा, महासोक्खा, महाणुभागा, हारविराइयवच्छा, कडगतुडियथंभियभुया, अंगय-कुण्डलमट्ठगंडतला, कण्णपीढधारी, विचित्तहत्था-भरणा, विचित्तमालामउलिमउडा, कल्लाणग-पवर-वत्थपरिहिया, कल्लाणग-पवर-मल्लाणुलेवणा, भासुरबोंदी, पलंबवणमालधरा, दिव्वेणं वण्णेणं, दिव्वेणं गंधेणं, दिव्वेणं रूवेणं, एवं—फासेणं, संघाएणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, जुईए, पभाए, छायाए, अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दस दिसो उज्जोवेमाणा, पभासेमाणा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं आगम्मागम्म रत्ता, समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करेत्ता वंदंति, णमंसंति, [वंदित्ता] णमंसित्ता [साइं साइं णामगोयाइं सावेंति] णच्चासण्णे णाइदूरे सूस्सूसमाणा, णमंसमाणा, अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा) पज्जुवासंति।

३४—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के पास असुरेन्द्रवर्जित—असुरकुमारों को छोड़कर नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार तथा स्तनितकुमार जाति के भवनवासी—पाताललोक-स्थित अपने आवासों में निवास करने वाले देव प्रकट हुए। उनके मुकुट क्रमशः नागफण, गरुड, वज्र, पूर्ण कलश, सिंह, अश्व, हाथी, मगर तथा वर्द्धमानक—शराव-सिकोरा अथवा स्कन्धारोपित—कन्धे पर चढ़ाया हुआ पुरुष थे। (वे सुरूप—सुन्दर रूप युक्त, परम ऋद्धिशाली, परम द्युतिमान्, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुखी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। उनके वक्षःस्थलों पर हार सुशोभित हो रहे थे। वे अपनी भुजाओं पर कंकण तथा भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखने वाली पट्टियाँ एवं अंगद—भुजबन्ध धारण किये हुए थे। उनके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मण्डित—चित्रित कपोलों पर कुंडल व अन्य कर्णभूषण शोभित थे। वे विचित्र—विशिष्ट या अनेकविध हस्ताभरण—हाथों के आभूषण धारण किये हुए थे। उनके मस्तकों पर तरह तरह की मालाओं से युक्त मुकुट थे। वे कल्याणकृत्—मांगलिक, अनुपहत या अखण्डित, प्रवर—उत्तम पोशाक पहने हुए थे। वे मंगलमय, उत्तम मालाओं एवं

१. पन्नवणा पद २.२

अनुलेपन—चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त थे। उनके शरीर देदीप्यमान थे। वनमालाएँ—सभी ऋतुओं में विकसित होने वाले फूलों से बनी मालाएँ, उनके गलों से घुटनों तक लटकती थीं। उन्होंने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, संघात—दैहिक गठन, संस्थान—दैहिक आकृति, ऋद्धि—विमान, वस्त्र, आभूषण आदि दैविक समृद्धि, द्युति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति अर्चि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्मपरिणति—तदनुरूप भामण्डल से दशों दिशाओं को उद्योतित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक—भक्ति सहित तीन-तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया। वैसा कर अपने-अपने नामों में गोत्रों का उच्चारण करते हुए] वे भगवान् महावीर के न अधिक समीप, न अधिक दूर, शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़ते हुए) उनकी पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—भवनपति देवों के अन्तर्गत स्तनितकुमार देवों के मुकुटस्थ चिह्न के लिए प्रस्तुत सूत्र में वद्धमाण—वर्द्धमान या वर्द्धमानक शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्द्धमान (वर्धमान) शब्द के अनेक अर्थ हैं। शब्द कोशों में इसके शराव—तश्तरी, पात्र-विशेष, कर-संपुट, स्कन्धारोपित पुरुष, स्वस्तिक आदि अनेक अर्थों का उल्लेख हुआ है।[1]

आगम-साहित्य में भगवान् महावीर के लिए स्थान-स्थान पर यह शब्द प्रयुक्त है ही। पउम-चरियं में राज श्री रामचन्द्र के प्रेक्षागृह के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] प्रवचनसारोद्धार में एक शाश्वती जिन-प्रतिमा के लिए यह शब्द आया है।[3]

प्रस्तुत सूत्र में आये इस शब्द के भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। आचार्य अभयदेवसूरि ने (११वीं ई. शती) इस शब्द का शराव अथवा पुरुषारूढ पुरुष अर्थ किया है।[4] अन्य व्याख्याकारों ने शराव, संपुट, स्वस्तिक आदि भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।[5]

आचार्य अभयदेवसूरि ने शराव के साथ साथ पुरुषारूढ पुरुष—स्कन्धारोपित पुरुष—ऐसा जो अर्थ किया है, उससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का लोक-प्रचलित अर्थ तो सामान्यतया शराव

---

१. (क) संस्कृत-हिन्दीकोश: वामन शिवराम आप्टे—पृष्ठ ९०३
   (ख) Sanskrit-English Dictionary :
   Sir Monier Monier-Williams-Page 126
   (ग) पाइअ-सद्द-महण्णवो पृष्ठ ७४५
२. पउमचरियं ८०.५
३. प्रवचनसारोद्धार ५९
४. औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र १५१
५. (क) उववाइय सुत्त पृष्ठ १६७
   (ख) पन्नवणा सूत्र पद २. २, पृष्ठ १५०
   (ग) उववाई सूत्र पृष्ठ ८१
   (घ) औपपातिकसूत्रम् पृष्ठ ३३३

था पर आगम-साहित्य में यह 'स्कन्धारोपित पुरुष' के अर्थ में ही व्यवहृत था। पाइअ-सद्द-महण्णवो में जहाँ इसके 'स्कन्धारोपित पुरुष' अर्थ का उल्लेख हुआ है, वहाँ प्रस्तुत सूत्र (औपपातिक) की ही साख दी गई है।

यों अर्थ सम्बन्धी ऐतिहासिक प्राचीनता की दृष्टि से 'वर्द्धमानक' का अर्थ 'स्कन्धारोपित पुरुष' ही संगत प्रतीत होता है।

व्यन्तर देवों का आगमन

३५—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे वाणमंतरा देवा अंतियं पाउब्भवित्था—पिसायभूया य जक्खरक्खसा, किंनरकिंपुरिसभुयगपइणो य महाकाया, गंधव्वणिकायगणा णिउणगंधव्वगीयरइणो, अणवण्णिय-पणवण्णिय-इसिवादिय-भूयवादिय-कंदिय-महाकंदिया य कुहंड-पयए य देवा, चंचलचवलचित्त-कीलण-दवप्पिया, गंभीरहसिय-भणिय-पीय-गीय-णच्चणरई, वणमाला मेल-मउड-कुंडल-सच्छंदविउव्वियाहरणचारुविभूसणधरा सव्वोउय-सुरभि-कुसुम-सुरइयपलंब-सोभंत-कंत-वियसंत-चित्त-वणमालारइयवच्छा, कामगम, [illegible], णाणाविह-वण्णराग-वरवत्थ-चित्त-चिल्लयणियंसणा, विविहदेसीणेवच्छगहियवेसा, पमुइयकंदप्पकलहकेलीकोलाहलपिया, हासबोलबहुला, अणेगमणि-रयण-विविहणिज्जुत्तविचित्तचिंधगया, सुरूवा, महिड्ढिया जाव[1] पज्जुवासंति।

३५—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के समीप पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महाकाय भुजगपति, गन्धर्व—नाट्योपेत गान, गीत-नाट्यवर्जित गेय—विशुद्ध संगीत में अनुरक्त गन्धर्व गण, अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्दित, कूष्मांड, प्रयत या पतग—ये व्यन्तर जाति के देव प्रकट हुए।

वे देव अत्यन्त चपल चित्तयुक्त, क्रीड़ाप्रिय तथा परिहासप्रिय थे। उन्हें गम्भीर हास्य—अट्टहास तथा वैसी ही वाणी प्रिय थी। वे वैक्रियलब्धि द्वारा अपनी इच्छानुसार विरचित वनमाला, फूलों का सेहरा या कलंगी, मुकुट, कुण्डल आदि आभूषणों द्वारा सुन्दर-रूप में सजे हुए थे। सब ऋतुओं में खिलने वाले, सुगन्धित पुष्पों से सुरचित, लम्बी—घुटनों तक लटकती हुई, शोभित होती हुई, सुन्दर, विकसित वनमालाओं द्वारा उनके वक्षःस्थल बड़े आह्लादकारी—मनोज्ञ या सुन्दर प्रतीत होते थे। वे कामगम—इच्छानुसार जहाँ कहीं जाने का सामर्थ्य रखते थे, कामरूपधारी—इच्छानुसार (यथेच्छ) रूप धारण करने वाले थे। वे भिन्न-भिन्न रंग के उत्तम, चित्र-विचित्र—तरह तरह के चमकीले-भड़कीले वस्त्र पहने हुए थे। अनेक देशों की वेशभूषा के अनुरूप उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार की पोशाकें धारण कर रखी थीं। वे प्रमोदपूर्ण काम-कलह, क्रीडा तथा तज्जनित कोलाहल में प्रीति मानते थे—आनन्द लेते थे। वे बहुत हँसने वाले तथा बहुत बोलने वाले थे। वे अनेक मणियों एवं रत्नों से विविध रूप में निर्मित चित्र-विचित्र चिह्न धारण किये हुए थे। वे सुरूप—सुन्दर रूप युक्त तथा परम ऋद्धि सम्पन्न थे। पूर्व समागत देवों की तरह यथाविधि वन्दन-नमन कर श्रमण भगवान् महावीर की पर्युपासना करने लगे।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ३४

ज्योतिष्क देवों का आगमन

३६—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जोइसिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था—विहस्सति-चंद-सूर-सुक्क-सणिच्छरा, राहू, धूमकेतू। बुहा य अंगारका य तत्ततवणिज्जकणगवण्णा, जे य गहा जोइसंमि चारं चरंति, केऊ य गइरइया अट्ठावीसतिविहा य पक्खत्तदेवगणा, णाणासंठाणसंठियाओ य पंचवण्णाओ ताराओ ठियलेसा, चारिणो य अविस्साममंडलगई, पत्तेयं णामंकपागडियचिंधमउडा महिड्ढिया—जाव[1] पज्जुवासंति।

३६—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के सान्निध्य में बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, शनैश्चर, राहू, धुमकेतु, बुध तथा मंगल, जिनका वर्ण तपे हुए स्वर्ण-बिन्दु के समान दीप्तिमान् था—(ये) ज्योतिष्क देव प्रकट हुए। इनके अतिरिक्त ज्योतिश्चक्र में परिभ्रमण करने वाले—गतिविशिष्ट केतु—जलकेतु आदि ग्रह, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना आकृतियों के पाँच वर्ण के तारे—तारा जाति के देव प्रकट हुए। उनमें स्थित-गतिविहीन रहकर प्रकाश करने वाले तथा अविश्रान्ततया—बिना रुके अनवरत गतिशील—दोनों प्रकार के ज्योतिष्क देव थे। हर किसी ने अपने-अपने नाम से अंकित अपना विशेष चिह्न अपने मुकुट पर धारण कर रखा था। वे परम ऋद्धिशाली देव भगवान् की पर्युपासना करने लगे।

वैमानिक देवों का आगमन

३७—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स वेमाणिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था-सोहम्मीसाण-सणंकुमार-माहिंद-बंभ-लंतग-महासुक्क-सहस्साराणय-पाणयारण-अच्चुयवई पहिट्ठा देवा जिणदंसणुस्सुया गमणजणियहासा, पालग-पुप्फग-सोमणस्स-सिरिवच्छ-णंदियावत्त-कामगम-पीइगम-मणोगम-विमल-सव्वओभद्द-सरिसणामधेज्जेहिं विमाणेहिं ओइण्णा वंदगा जिणिंदं मिग-महिस-वराह-छगल-दद्दुर-हय-गय-वइभुयग-खग्ग-उसभंकविडिमपागडियचिंधमउडा पसिढिलवरमउडतिरीडधारी, कुंडलउज्जोवियाणणा, मउडदित्तसिरया, रत्ताभा, पउमपम्हगोरा, सेया, सुभवण्णगंधफासा, उत्तमवेउव्विणो, विविहवत्थगंधमल्लधारी, महिड्ढिया महज्जुतिया जाव[2] पंजलिउडा पज्जुवासंति।

३७—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत देवलोकों के अधिपति—इन्द्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रादुर्भूत हुए। जिनेश्वरदेव के दर्शन पाने की उत्सुकता और तदर्थ अपने वहाँ पहुंचने से उत्पन्न हर्ष से वे उल्लसित थे।

जिनेन्द्र प्रभु का वन्दन-स्तवन करने वाले वे (बारह देवलोकों के दस अधिपति) देव पालक, पुष्पक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, कामगम, प्रीतिगम, मनोगम, विमल तथा सर्वतोभद्र नामक अपने-अपने विमानों से भूमि पर उतरे। वे मृग—हरिण, महिष—भैंसा, वराह—सुअर, छगल—बकरा, दुर्दुर—मेंढ़क, हय—घोड़ा, गजपति—उत्तम हाथी, भुजग—सर्प, खड्ग—गैंडा तथा वृषभ—सांड के चिह्नों से अंकित मुकुट धारण किये हुए थे। वे श्रेष्ठ मुकुट ढीले—सुहाते उनके सुन्दर

---

१. देखें सूत्र-संख्या ३४

२. देखें सूत्र-संख्या ३४

सविन्यास युक्त मस्तकों पर विद्यमान थे। कुंडलों की उज्ज्वल दीप्ति से उनके मुख उद्योतित थे। मुकुटों से उनके मस्तक दीप्त—दीप्तिमान् थे। वे लाल आभा लिये हुए, पद्मगर्भ सदृश गौर कान्तिमय, श्वेत वर्णयुक्त थे। शुभ वर्ण, गन्ध, स्पर्श आदि के निष्पादन में उत्तम वैक्रियलब्धि के धारक थे। वे तरह-तरह के वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य तथा मालाएं धारण किये हुए थे। वे परम ऋद्धिशाली एवं परम द्युतिमान् थे। वे हाथ जोड़ कर भगवान् की पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन हेतु देवों के साथ-साथ अप्सराओं या देवियों के आगमन का भी अन्यत्र वर्णन प्राप्त होता है। टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने टीका में संक्षेप में उसे उद्धृत किया है। वह संक्षिप्त पाठ और उसका सारांश इस प्रकार है—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अच्छरगणसंघाया अंतिअं पाउब्भवित्था। ताओ णं अच्छराओ धंतधोयकणगरुअगसरिसप्पभाओ समइक्कंता य बालभावं अणइवरसोम्मचारुरूवा निरुवहयसरसजोव्वणकवकसतरुणवयभावमुवगयाओ निच्चमवट्ठियसहावा सव्वंगसुंदरीओ इच्छियनेवत्थरइयरमणिज्जगहियवेसा, किं ते ? हारद्धहारपाउत्तरयणकुंडलवासुत्तगहेमजाल-मणिजाल - कणगजालसुभगउरितियकडगखुड्डुगएगावलिकंठसुत्तमगहगधरच्छगेवेज्जसोणियसुत्तगतिलग - फुल्लगसिद्धत्थियकण्णवालियससिसूर उसभचक्कयतलभंगयतुडियहत्थमालयहरिसकेऊरवलयपालंबपलंबअंगुलिज्जगवलक्खदीणारमालिया चंदसूरमालियाकंचिमेहलकलावपयरगपरिहेरगपायजाल घंटियाखिखिणिरयणोरुजालखड्डियवरनेउरचलणमालिया कणगणिगलजालगमगरमुहविरायमाणनेऊरपचलियसद्दालभूसणधरीओ, दसद्धवण्णरागरइयरत्तमणहरा हयलालापेलवाइरेगे धवले कणगखचियंतकम्मे आगासफालियसरिसप्पहे अंसुए नियत्थाओ, आयरेणं तुसारगोक्खीरहारदगरयपंडुरदुगुल्लसुकुमालसुकयरमणिज्ज उत्तरिज्जाइं, पाउयाओ,.....सव्वोउयसुरभिकुसुमसुरइयविचित्तवरमल्लधारिणीओ सुगंधिचुण्णंगरागवरवासपुप्फपूरगविराइया उत्तमवरधूवधूविया सिरिसमाणवेसा दिव्वकुसुममल्लदामपब्भंजलिपुडाओ चंदविलासिणीओ, चंदद्धसमनिलाडा.....विज्जुघणमिरीइसूरदिप्पंततेअअहियतरसंनिकासाओ, सिंगारागारचारुवेसाओ, संगयगयहसियभणियचेट्ठियविलास सललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसलाओ, सुंदरथणजहणवयणकरचरणनयणलावण्णरूवजोव्वणविलासकलियाओ सुरबहूओ सिरीसनवणीयमउयसुकुमालतुल्लफासाओ, ववगयकलिकलुसधोयनिद्धंतरयमलाओ, सोमाओ कंताओ पियदंसणाओ जिणभत्तिदंसणाणुरागेणं हरिसियाओ ओवइया यावि ...जिणसगासं....।

उस समय भगवान् महावीर के समीप अनेक समूहों में अप्सराएँ—देवियाँ उपस्थित हुईं। उनकी दैहिक कान्ति अग्नि में तपाये गये, जल से स्वच्छ किये गये स्वर्ण जैसी थी। वे बाल-भाव को अतिक्रान्त कर—बचपन को लांघकर यौवन में पदार्पण कर चुकी थीं—नवयौवना थीं। उनका रूप अनुपम, सुन्दर एवं सौम्य था। उनके स्तन, नितम्ब, मुख, हाथ, पैर तथा नेत्र लावण्य एवं यौवन से विलसित, उल्लसित थे। दूसरे शब्दों में उनके अंग-अंग में सौन्दर्य-छटा लहराती थी। वे निरुपहत-रोग आदि से अबाधित, सरस-शृंगाररस-सिक्त तारुण्य से विभूषित थीं। उनका वह रूप, सौन्दर्य, यौवन सुस्थित था, जरा—वृद्धावस्था से विमुक्त था।

वे देवियाँ सुरम्य वेशभूषा, वस्त्र, आभरण आदि से सुसज्जित थीं। उनके ललाट पर पुष्प जैसी आकृति में निर्मित आभूषण, उनके गले में सरसों जैसे स्वर्ण-कणों तथा मणियों से बनी कंठियाँ, कण्ठसूत्र, कंठले, अठारह लड़ियों के हार, नौ लड़ियों के अर्द्धहार, बहुविध मणियों से बनी मालाएँ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चन्द्र, सूर्य आदि अनेक आकार की मोहरों की मालाएँ, कानों में रत्नों के कुण्डल, बालियाँ, बाहुओं में त्रुटिक—तोड़े, बाजूबन्द, कलाइयों में मानिक-जड़े कंकण, अंगुलियों में अंगूठियाँ, कमर में सोने की करधनियाँ, पैरों में सुन्दर नूपुर—पैंजनियाँ, घुँघरूयुक्त पायजेबें तथा सोने के कड़ले आदि बहुत प्रकार के गहने सुशोभित थे।

वे पँचरंगे, बहुमूल्य, नासिका से निकलते निःश्वास मात्र से जो उड़ जाएं—ऐसे अत्यन्त हलके, मनोहर, सुकोमल, स्वर्णमय तारों से मंडित किनारों वाले, स्फटिक-तुल्य आभायुक्त वस्त्र धारण किये हुए थीं। उन्होंने बर्फ, गोदुग्ध, मोतियों के हार एवं जल-कण सदृश स्वच्छ, उज्ज्वल, सुकुमार—मुलायम, रमणीय, सुन्दर बुने हुए रेशमी दुपट्टे ओढ़ रखे थे। वे सब ऋतुओं में खिलनेवाले सुरभित पुष्पों की उत्तम मालाएँ धारण किये हुए थीं। चन्दन, केसर आदि सुगन्धमय पदार्थों से निर्मित देहरञ्जन—अंगराग से उनके शरीर रञ्जित एवं सुवासित थे, श्रेष्ठ धूप द्वारा धूपित थे। उनके मुख चन्द्र जैसी कान्ति लिये हुए थे। उनकी दीप्ति बिजली की द्युति और सूरज के तेज सदृश थी। उनकी गति, हँसी, बोली, नयनों के हावभाव, पारस्परिक आलाप-संलाप इत्यादि सभी कार्य-कलाप नैपुण्य और लालित्ययुक्त थे। वे सुन्दर स्तन, जघन—कमर से नीचे का भाग, मुख, हाथ, पैर, नयन, लावण्य, रूप, यौवन और नेत्र चेष्टाओं—भ्रू भंगिमाओं से युक्त थीं। उनका संस्पर्श शिरीष पुष्प और नवनीत—मक्खन जैसा मृदुल तथा कोमल था। वे निष्कलुष, निर्मल, सौम्य, कमनीय, प्रियदर्शन—देखने में प्रिय या सुभग तथा सुरूप थीं। वे भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा से हर्षित—रोमांचित थीं। उनमें वे सब विशेषताएँ थीं, जो देवताओं में होती हैं।

जन-समुदाय द्वारा भगवान् का वन्दन

३८—तए णं चंपाए णयरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु महया जणसद्दे इ वा, बहुजणसद्दे इ वा, जणवाए इ वा, जणुल्लावे इ वा, जणवहे इ वा, जणबोले इ वा, जणकलकले इ वा, जणुम्मीइ वा, जणुक्कलिया इ वा, जणसण्णिवाए इ वा, बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे आइगरे, तित्थगरे, सयंसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे जाव[1] संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे इहमागए, इहसंपत्ते, इह समोसढे, इहेव चंपाए णयरीए बाहिं पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए ? एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो, णमंसामो, सक्कारेमो सम्माणेमो, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं [विणएणं] पज्जुवासामो, एयं णे पेच्चभवे इहभवे य हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, आणुगामियत्ताए भविस्सइत्ति कट्टु बहवे उग्गा, उग्गपुत्ता, भोगा, भोगपुत्ता एवं दुपडोयारेणं राइण्णा, (इक्खागा, नाया, कोरव्वा) खत्तिया, माहणा, भडा, जोहा, पसत्थारो, मल्लई, लेच्छई, लेच्छईपुत्ता, अण्णे य बहवे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभितयो अप्पेगइया वंदणवत्तियं, अप्पेगइया पूयणवत्तियं, एवं सक्कारवत्तियं, सम्माणवत्तियं, दंसणवत्तियं, कोऊहलवत्तियं, अप्पेगइया अट्ठविणिच्छयहेउं अस्सुयाइं सुणेस्सामो, सुयाइं

---

१. सूत्र संख्या २० में आये हुए भगवान् महावीर के सभी विशेषण प्रथमाविभक्ति एकवचनान्त कर यहां लगाएं।

निस्संकियाइं करिस्सामो, अप्पेगइया अट्ठाइं हेऊइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगइया सव्वओ समंता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामो, पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं, अप्पेगइया जीयमेयंति कट्टु ण्हाया, कयबलिकम्मा, कयकोउयमंगलपायच्छित्ता, सिरसा कंठे मालकडा, आविद्धमणिसुवण्णा, कप्पियहारद्धहार-तिसर-पालंबपलंबमाण-कडिसुत्त-सुकयसोहाभरणा, पवरवत्थपरिहिया, चंदणोलित्तगायसरीरा, अप्पेगइया हयगया एवं गयगया, रहगया, सिबियागया, संदमाणियागया, अप्पेगइया पायविहारचारेणं पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ता महया उक्किट्ठसीहणाय-बोल-कलकलरवेणं पक्खुब्भिय-महासमुद्दरवभूयं पिव करेमाणा चंपाए णयरीय मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, णिगच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादीए तित्थयराइसेसे पासंति, पासित्ता जाणवाहणाइं ठवेंति, ठवेत्ता जाणवाहणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करित्ता वंदंति, णमस्संति, वंदित्ता, णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा, णमंसमाणा, अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति।

३८—उस समय चंपा नगरी के सिंघाटकों—तिकोने स्थानों, त्रिकों—तिराहों, चतुष्कों—चौराहों, चत्वरों—जहाँ चार से अधिक रास्ते मिलते हों ऐसे स्थानों, चतुर्मुखों—चारों ओर मुख या द्वारयुक्त देवकुलों, राजमार्गों, गलियों से मनुष्यों की बहुत आवाज आ रही थी, बहुत लोग शब्द कर रहे थे, आपस में कह रहे थे, फुसफुसाहट कर रहे थे—धीमे स्वर में बात कर रहे थे। लोगों का बड़ा जमघट था। वे बोल रहे थे। उनकी बातचीत की कलकल—मनोज्ञ ध्वनि सुनाई देती थी। लोगों की मानो एक लहर सी उमड़ी आ रही थी। छोटी-छोटी टोलियों में लोग फिर रहे थे, इकट्ठे हो रहे थे। बहुत से मनुष्य आपस में आख्यान—चर्चा कर रहे थे, अभिभाषण कर रहे थे, प्रज्ञापित कर रहे थे—जता रहे थे, प्ररूपित कर रहे थे—एक दूसरे को बता रहे थे—

देवानुप्रियो! आदिकर—अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप, धर्मतीर्थ—धर्मसंघ के प्रतिष्ठापक, स्वयंसंबुद्ध—स्वयं बिना किसी अन्य निमित्त के बोध प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम……सिद्धि-गतिरूप स्थान की प्राप्ति हेतु समुद्यत भगवान् महावीर यथाक्रम आगे से आगे विहार करते हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए—एक गाँव से दूसरे गाँव का स्पर्श करते हुए यहाँ आये हैं, संप्राप्त हुए हैं—समवसृत हुए हैं—पधारे हैं। यहीं चंपा नगरी के बाहर पूर्ण भद्र चैत्य में यथोचित—श्रमणचर्या के अनुरूप स्थान ग्रहण कर संयम और तप से आत्मा को अनुभावित करते हुए विराजित हैं। हम लोगों के लिए यह बहुत ही लाभप्रद है। देवानुप्रियो! ऐसे अर्हत् भगवान् के नाम-गोत्र का सुनना भी बहुत बड़ी बात है, फिर अभिगमन—सम्मुख जाना, वन्दन, नमन, प्रतिपृच्छा—जिज्ञासा करना—उनसे धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में पूछना, उनकी पर्युपासना करना—उनका सान्निध्य प्राप्त करना—इनका तो कहना ही क्या! सद्गुणनिष्पन्न, सद्धर्ममय एक सुवचन का श्रवण भी बहुत बड़ी बात है; फिर विपुल—विस्तृत अर्थ के ग्रहण की तो बात ही क्या! अतः देवानुप्रियो! अच्छा हो, हम जाएँ और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करें, नमन करें, उनका सत्कार करें, सम्मान करें। भगवान् कल्याण हैं, मंगल हैं, देव हैं, तीर्थस्वरूप है। उनकी पर्युपासना करें। यह (वन्दन, नमन) आदि इस भव में—वर्तमान जीवन में, परभव में जन्म-जन्मान्तर में हमारे लिए हितप्रद सुखप्रद, क्षान्तिप्रद तथा निश्रेयस्प्रद—मोक्षप्रद सिद्ध होगा।

यों चिन्तन-विमर्श करते हुए बहुत से उग्रों—आरक्षक अधिकारियों, उग्रपुत्रों, भोगों—राजा के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों, भोगपुत्रों, राजन्यों—राजा के परामर्शकमण्डल के सदस्यों, (इक्ष्वाकुवंशीयों, ज्ञातवंशीयों, कुरवंशीयों) क्षत्रियों—क्षत्रिय वंश के राजकर्मचारियों, ब्राह्मणों, सुभटों, योद्धाओं—युद्धोपजीवी सैनिकों, प्रशास्ताओं—प्रशासनाधिकारियों, मल्लकियों—मल्ल गणराज्य के सदस्यों, लिच्छिवियों—लिच्छिवि गणराज्य के सदस्यों तथा अन्य अनेक राजाओं—माण्डलिक नरपतियों, ईश्वरों—ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशील पुरुषों, तलवरों—राजसम्मानित विशिष्ट नागरिकों, माडंबिकों—जागीरदारों या भूस्वामियों, कौटुम्बिकों—बड़े परिवारों के प्रमुखों, इभ्यों—वैभवशाली जनों, श्रेष्ठियों—सम्पत्ति और सुव्यवहार से प्रतिष्ठाप्राप्त सेठों, सेनापतियों एवं सार्थवाहों—अनेक छोटे व्यापारियों को साथ लिये देशान्तर में व्यवसाय करनेवाले समर्थ व्यापारियों, इन सबके पुत्रों में से अनेक वन्दन हेतु, अनेक पूजन हेतु, अनेक सत्कार हेतु, अनेक सम्मान-हेतु, अनेक दर्शन हेतु, अनेक उत्सुकता-पूर्ति हेतु, अनेक अर्थविनिश्चय हेतु—तत्त्वनिर्णय हेतु, अश्रुत—नहीं सुने हुए को सुनेंगे, श्रुत-सुने हुए को संशयरहित करेंगे—तद्गत संशय दूर करेंगे, अनेक इस भाव से, अनेक यह सोचकर कि युक्ति, तर्क तथा विश्लेषणपूर्वक तत्त्व-जिज्ञासा करेंगे, अनेक यह चिन्तन कर कि सभी सांसारिक सम्बधों का परिवर्जन कर, मुण्डित होकर—प्रव्रजित होकर अगार-धर्म—गृहस्थ-धर्म से आगे बढ़ अनगार-धर्म—श्रमण-जीवन स्वीकार करेंगे, अनेक यह सोचकर कि पाँच अणुव्रत, सात शिक्षा व्रत—यों बारह व्रत युक्त श्रावक-धर्म स्वीकार करेंगे, अनेक भक्ति-अनुराग के कारण, अनेक यह सोच कर कि यह अपना वंश-परंपरागत व्यवहार है, भगवान् की सन्निधि में आने को उद्यत हुए।

उन्होंने स्नान किया, नित्य—नैमित्तक कार्य किये, कौतुक—देहसज्जा की दृष्टि से नेत्रों में अंजन आंजा, ललाट पर तिलक किया; प्रायश्चित्त—दुःस्वप्नादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत आदि से मंगलविधान किया, मस्तक पर, गले में मालाएँ धारण कीं, रत्नजड़े स्वर्णाभरण, हार, अर्धहार, तीन लड़ों के हार, लम्बे हार, लटकती हुई करधनियाँ आदि शोभावर्धक अलंकारों से अपने को सजाया, श्रेष्ठ, उत्तम—मांगलिक वस्त्र पहने। उन्होंने समुच्चय रूप में शरीर पर, शरीर के अलग अलग अंगों पर चन्दन का लेप किया।

उनमें से कई घोड़ों पर, कई हाथियों पर, कई शिविकाओं—पर्देदार पालखियों पर, कई पुरुष-प्रमाण पालखियों पर सवार हुए। अनेक व्यक्ति बहुत पुरुषों द्वारा चारों ओर से घिरे हुए पैदल चल पड़े। वे (सभी लोग) उत्कृष्ट, हर्षोन्नत, सुन्दर, मधुर घोष द्वारा नगरी को लहराते, गरजते विशाल समुद्रसदृश बनाते हुए उसके बीच से गुजरे। वैसा कर, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहां आये। आकर न अधिक दूर से, न अधिक निकट से भगवान् के तीर्थंकर-रूप के वैशिष्ट्यद्योतक छत्र आदि अतिशय—विशेष चिह्न-उपकरण-देखे। देखते ही अपने यान, वाहन, वहाँ ठहराये। ठहराकर यान—गाड़ी, रथ आदि, वाहन—घोड़े, हाथी आदि से नीचे उतरे। नीचे उतर कर, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आये। वहाँ आकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की; वन्दन, नमस्कार किया। वन्दन, नमस्कार कर, भगवान् के न अधिक दूर, न अधिक निकट स्थित हो, शुश्रूषा—उनके वचन सुनने की उत्कण्ठा लिए, नमस्कार-मुद्रा में भगवान् महावीर के सामने विनय-पूर्वक अंजलि बाँधे—हाथ जोड़े उनकी पर्युपासना करने लगे—उनका सान्निध्यलाभ लेने लगे।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

महाराज कूणिक को सूचना

३९—तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए ण्हाए जाव (कयबलिकम्मे, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते, सुद्धप्पावेसाइ, मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए) अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता चंपाणयरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव बाहिरिया सा चेव हेट्ठिला वत्तव्वया जाव[2] णिसीयइ, णिसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउयस्स अद्धत्तेरससयसहस्साइं पीइदाणं दलयइ, दलयित्ता सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ ।

३९—प्रवृत्ति-निवेदक को जब यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात मालूम हुई, वह हर्षित एवं परितुष्ट हुआ । उसने स्नान किया, (नित्य-नैमित्तिक कार्य किये, कौतुक—देह-सज्जा की दृष्टि से नेत्रों में अंजन आंजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दुःस्वप्नादि-दोषनिवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दही, अक्षत आदि से मंगल-विधान किया, उत्तम, प्रवेश्य—राजसभा में प्रवेशोचित—श्रेष्ठ, मांगलिक वस्त्र भलीभाँति पहने (थोड़े—संख्या में कम पर बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया । यों (सजकर) वह अपने घर से निकला । (अपने घर से) निकलकर वह चम्पा नगरी के बीच, जहाँ राजा कूणिक का महल था, जहाँ बहिर्वर्ती राजसभा-भवन था वहाँ आया ।

.....राजा सिंहासन पर बैठा । (बैठकर) साढ़े बारह लाख रजत-मुद्राएँ वार्ता-निवेदक को प्रीतिदान—तुष्टिदान या पारितोषिक के रूप में प्रदान कीं । उत्तम वस्त्र आदि द्वारा उसका सत्कार किया, आदरपूर्ण वचनों से सम्मान किया । यों सत्कृत, सम्मानित कर उसे बिदा किया ।

विवेचन—मध्य के 'जाव' शब्द द्वारा सूचित वृत्तान्त सूत्र संख्या १७-१८-१९-२० के अनुसार जान लेना चाहिए ।

दर्शन-वन्दन की तैयारी

४०—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउयं आमंतेइ, आमंतेत्ता एवं वयासि—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हय-गय-रह-पवरजोहकलियं च चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेहि, सुभद्दापमुहाण य देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडियक्कपाडियक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेहि, चंपं च णयरिं सब्भिंतरबाहिरियं आसिय-सम्मज्जि-उवलित्तं, सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आसित्त-सित्तसुइ-सम्मट्ठ-रत्थंतरावणवीहियं, मंचाइमंचकलियं, णाणाविहराग-उच्छ्रिय-ज्झयपडागाइपडागमंडियं, लाउल्लोइयमहियं, गोसीससरस-रत्तचंदण जाव (दद्दरदिण्णपंचंगुलितलं, उवचियचंदणकलसं, चंदणघडसुकयतोरणं पडिदुवारदेसभायं, आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं, पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं, कालागुरु-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधगंधियं) गंधवट्टिभूयं करेह य, कारवेह य, करेत्ता य कारवेत्ता य एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि । णिज्जाहिस्सामि समणं भगवं महावीर अभिवंदए ।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १८

२. देखें सूत्र-संख्या १७, १८, १९, २०

४०—तब भंभसार के पुत्र राजा कूणिक ने बलव्यापृत—सैन्य-व्यापार-परायण—सैन्य सम्बन्धी कार्यों के अधिकारी को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—

देवानुप्रिय ! आभिषेक्य—अभिषेक-योग्य, प्रधान पद पर अधिष्ठित (राजा की सवारी में प्रयोजनीय) हस्ति-रत्न—उत्तम हाथी को सुसज्ज कराओ। घोड़े, हाथी, रज तथा श्रेष्ठ योद्धाओं से परिगठित चतुरंगिणी सेना को तैयार करो। सुभद्रा आदि देवियों—रानियों के लिए, उनमें से प्रत्येक के लिए (अलग-अलग) यात्राभिमुख-गमनोद्यत, जाते हुए यानों—सवारियों को बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थापित करो—तैयार कराकर हाजिर करो। चम्पा नगरी के बाहर और भीतर, उसके संघाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, राजमार्ग तथा सामान्य मार्ग, इन सबकी सफाई कराओ। वहाँ पानी का छिड़काव कराओ, गोबर आदि का लेप कराओ। नगरी के रथ्यान्तर—गलियों के मध्य-भागों तथा आपण-वीथियों—बाजार के रास्तों की भी सफाई कराओ, पानी का छिड़काव कराओ, उन्हें स्वच्छ व सुहावने कराओ। मंचातिमंच—सीढ़ियों से समायुक्त प्रेक्षागृहों की रचना कराओ। तरह-तरह के रंगों की, ऊँची, सिंह, चक्र आदि चिह्नों से युक्त ध्वजाएँ, पताकाएँ तथा अतिपताकाएँ, जिनके पारिपार्श्व अनेकानेक छोटी पताकाओं—झंडियों से सजे हों, ऐसी बड़ी पताकाएँ लगवाओ। नगरी की दीवारों को लिपवाओ, पुतवाओ। उन पर गोरोचन तथा सरस—आर्द्र लाल चन्दन के पाँचों अंगुलियों और हथेली सहित हाथ के छापे लगवाओ। वहाँ चन्दन-कलश—चन्दन से चर्चित मंगल-घट रखवाओ। नगरी के प्रत्येक द्वार भाग को चन्दन-कलशों और तोरणों से सजवाओ। जमीन से ऊपर तक के भाग को छूती हुई बड़ी-बड़ी, गोल तथा लम्बी अनेक पुष्पमालाएँ वहाँ लगवाओ। पाँचों रंगों के सरस—ताजे फूलों से उसे सजवाओ, सुन्दर बनवाओ। काले अगर, उत्तम कुन्दरुक, लोबान तथा धूप की गमगमाती महक से वहाँ के वातावरण को उत्कृष्ट सुरभिमय करवादो, जिससे सुगन्धित धुएँ की प्रचुरता से वहाँ गोल-गोल धूममय छल्ले बनते दिखाई दें।

इनमें जो करने का हो, उसे करके—कर्मकरों, सेवकों, श्रमिकों आदि को आदेश देकर, तत्सम्बन्धी व्यवस्था कर, उसे अपनी देखरेख में संपन्न करवा कर तथा जो दूसरों द्वारा करवाने का हो, उसे दूसरों से करवाकर मुझे सूचित करो कि आज्ञापालन हो गया है—आज्ञानुरूप सब सुसंपन्न हो गया है। यह सब हो जाने पर मैं भगवान् के अभिवंदन हेतु जाऊँ।

४१—तए णं से बलवाउए कूणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—सामित्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता एवं हत्थिवाउयं आमंतेइ, आमंतेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेहि, सण्णाहेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।

४१—राजा कूणिक द्वारा यों कहे जाने पर उस सेनानायक ने हर्ष एवं प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़े, उन्हें सिर के चारों ओर घुमाया, अंजलि को मस्तक से लगाया तथा विनयपूर्वक राजा का आदेश स्वीकार करते हुए निवेदन किया—महाराज की जैसी आज्ञा।

---

१. देखें सूत्र-संख्या १८

सेनानायक ने यों राजाज्ञा स्वीकार कर हस्ति-व्यापृत—महावत को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—देवानुप्रिय ! भंभसार के पुत्र महाराज कूणिक के लिए प्रधान, उत्तम हाथी सजाकर शीघ्र तैयार करो। घोड़े, हाथी, रज तथा श्रेष्ठ योद्धाओं से परिगठित चतुरंगिणी सेना के तैयार होने की व्यवस्था कराओ। फिर मुझे आज्ञा-पालन हो जाने की सूचना करो।

४२—तए णं से हत्थिवाउए बलवाउयस्स एयमट्ठं सोच्चा आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं छेयायरियउवएसमइकप्पणाविकप्पेहिं सुणिउणेहिं उज्जलणेवत्थ-हत्थपरिवत्तियं, सुसज्जं धम्मियसण्णद्धबद्धकवइयउप्पीलियकच्छवच्छगेवेयबद्धगलवरभूसणविरायंतं, अहियतेयजुत्तं, सललियवरकण्णपूरविराइयं, एलंबओचूलपट्टयरकयंधयारं, चित्तपरिच्छेअपच्छयं, पहरणावरणभरियजुद्धसज्जं, सच्छत्तं, सज्झयं, सघंटं, सपडागं, पंचामेलयपरिमंडियाभिरामं, ओसारिय-जमलजुयलघंटं, विज्जुपिणद्ध व कालमेहं, उप्पाइयपव्वयं व चंकमंतं, मत्तं, महामेहमिव गुलगुलंतं, मणपवणजइणवेगं, भीमं, संगामियाओज्जं आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेइ, पडिकप्पेत्ता हयगयरह-पवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेइ, सण्णाहेत्ता जेणेव बलवाउए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणइ।

४२—महावत ने सेनानायक का कथन सुना, उसका आदेश विनय-सहित स्वीकार किया। आदेश स्वीकार कर उस महावत ने, कलाचार्य से शिक्षा प्राप्त करने से जिसकी बुद्धि विविध कल्पनाओं तथा सर्जनाओं में अत्यन्त निपुण—उर्वर थी, उस उत्तम हाथी को उज्ज्वल नेपथ्य—चमकीले वस्त्र, वेषभूषा आदि द्वारा शीघ्र सजा दिया। उस सुसज्ज हाथी का धार्मिक उत्सव के अनुरूप शृंगार किया, उसके कवच लगाया, कक्षा—बाँधने की रस्सी को उसके वक्षःस्थल से कसा, गले में हार तथा उत्तम आभूषण पहनाये, इस प्रकार उसे सुशोभित किया। वह बड़ा तेजोमय दीखने लगा। सुललित—लालित्ययुक्त या कलापूर्ण कर्णपूरों—कानों के आभूषणों द्वारा उसे सुसज्जित किया। लटकते हुए लम्बे झूलों तथा मद की गंध से एकत्र हुए भौंरों के कारण वहाँ अंधकार जैसा प्रतीत होता था। झूल पर बेल बूंटे कढ़ा प्रच्छद—छोटा आच्छादक वस्त्र डाला गया। शस्त्र तथा कवचयुक्त वह हाथी युद्धार्थ सज्जित जैसा प्रतीत होता था। उसके छत्र, ध्वजा, घंटा तथा पताका—ये सब यथास्थान योजित किये गये। मस्तक को पाँच कलंगियों से विभूषित कर उसे सुन्दर बनाया। उसके दोनों ओर—दोनों परिपार्श्व में दो घंटियाँ लटकाईं। वह हाथी बिजली सहित काले बादल जैसा दिखाई देता था। वह अपने बड़े डीलडौल के कारण ऐसा लगता था, मानो अकस्मात् कोई चलता-फिरता पर्वत उत्पन्न हो गया हो। वह मदोन्मत्त था। बड़े मेघ की तरह वह गुलगुल शब्द द्वारा अपने स्वर में मानो गरजता था। उसकी गति मन तथा वायु के वेग को भी पराभूत करने वाली थी। विशाल देह तथा प्रचंड शक्ति के कारण वह भीम—भयावह प्रतीत होता था। उस संग्राम योग्य—वीरवेशान्वित आभिषेक्य हस्तिरत्न को महावत ने सन्नद्ध किया—सुसज्जित कर तैयार किया। उसे तैयार कर घोड़े, हाथी, रथ तथा उत्तम योद्धाओं से परिगठित सेना को तैयार कराया। फिर वह महावत, जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया और आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४३—तए णं से बलवाउए जाणसालियं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सुभद्दापमुहाणं देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभि-मुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।

४३--तदनन्तर सेनानायक ने यानशालिक—यानशाला के अधिकारी को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—सुभद्रा आदि रानियों के लिए, उनमें से प्रत्येक के लिए (अलग-अलग) यात्राभिमुख—गमनोद्यत, जुते हुए यान बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थित करो—जुतवाकर, तैयार कर हाजिर करो। हाजिर कर आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दो।

४४—तए णं से जाणसालिए बलवाउयस्स एयमट्ठं आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता जाणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेत्ता जाणाइं संपमज्जेइ, संपमज्जेत्ता जाणाइं संवट्टेइ, संवट्टेत्ता जाणाइं णीणेइ, णीणेत्ता जाणाणं दूसे पवीणेइ, पवीणेता जाणाइं समलंकरेइ, समलंकरेत्ता जाणाइं वरभंडगमंडियाइं करेइ, करेत्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाहणसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेत्ता वाहणाइं संपमज्जइ, संपमज्जित्ता वाहणाइं णीणेइ, णीणेत्ता वाहणाइं अप्फालेइ, अप्फालेत्ता दूसे पवीणेइ, पवीणेत्ता वाहणाइं समलंकरेइ, समलंकरेत्ता वाहणाइं वरभंडगमंडियाइं करेइ, करेत्ता वाहणाइं जाणाइं जोएइ, जोएत्ता पग्गोयलट्ठि पग्गोयधरए य समं आडहइ, आडहित्ता बट्टमग्गं गाहेइ, गाहेत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता बलवाउयस्स एयमाणत्तियं पच्चप्पिणइ।

४४—यानशालिक ने सेनानायक का आदेश-वचन विनयपूर्वक स्वीकार किया। स्वीकार कर वह, जहाँ यानशाला थी, वहाँ आया। आकर यानों का निरीक्षण किया। निरीक्षण कर उनका प्रमार्जन किया—अच्छी तरह सफाई की। सफाई कर उन्हें वहाँ से हटाया। वहाँ से हटाकर बाहर निकाला। बाहर निकाल कर उनके दूष्य—आच्छादक वस्त्र—उन पर लगी खोलियाँ दूर कीं। खोलियाँ हटाकर यानों को सजाया। सजाकर उन्हें उत्तम आभरणों से विभूषित किया। विभूषित कर वह जहाँ वाहनशाला थी, आया। आकर वाहनशाला में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर वाहनों (बैल आदि) का निरीक्षण किया। निरीक्षण कर उन्हें संप्रमार्जित किया—उन पर लगी हुई धूल आदि को दूर किया वैसा कर उन्हें वाहनशाला से बाहर निकाला। बाहर निकाल कर उनकी पीठ थपथपाई। वैसा कर उन पर लगे आच्छादक वस्त्र—झूल आदि हटाये। आच्छादक वस्त्र हटाकर वाहनों को सजाया। सजाकर उन्हें उत्तम आभरणों से विभूषित किया। विभूषित कर उन्हें यानों में—गाड़ियों, रथों आदि में जोता। जोतकर प्रतोत्रयष्टिकाएं—गाड़ी, रथ आदि हाँकने की लकड़ियाँ या चाबुक तथा प्रतोत्रधर—गाड़ी हाँकने वालों—गाड़ीवानों को प्रस्थापित किया—उन्हें यष्टिकाएँ देकर यान-चालन का कार्य सौंपा। वैसा कर यानों को राजमार्ग पकड़वाया—गाड़ीवान उसकी आज्ञानुसार यानों को राजमार्ग पर लाये। वैसा करवाकर वह, जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया। आकर सेनानायक को आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४५—तए णं से बलवाउए णयरगुत्तियं आमंतेइ, आमंतेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चंपं णयरिं सब्भितरबाहिरियं आसित्त जाव[1] (सम्मज्जिउवलित्तं, सिंघाडगतियचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु आसित्तसित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहियं, मंचाइमंचकलियं, णाणाविहरागउच्छियज्झयपडागाइपडागमंडियं, लाउल्लोइयमहियं.....) कारवेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ४०

४५—फिर सेनानायक ने नगरगुप्तिक—नगर की स्वच्छता, सद्व्यवस्था आदि के नियामक, नगररक्षक या कोतवाल को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—देवानुप्रिय ! चम्पा नगरी के बाहर और भीतर, उसके संघाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, राजमार्ग—इन सबकी सफाई कराओ। वहाँ पानी का छिड़काव कराओ, गोबर आदि का लेप कराओ। (नगरी के रथ्यान्तर—गलियों के मध्य-भागों तथा आपणवीथियों—बाजार के रास्तों की भी सफाई कराओ, पानी का छिड़काव कराओ, उन्हें स्वच्छ व सुहावने कराओ। मंचातिमंच—सीढ़ियों से समायुक्त प्रेक्षा-गृहों की रचना कराओ। तरह-तरह के रंगों की, ऊँची, सिंह, चक्र आदि चिह्नों से युक्त ध्वजाएँ, पताकाएँ तथा अतिपताकाएँ, जिनके परिपार्श्व अनेकानेक छोटी पताकाओं—झंडियों से सजे हों, ऐसी बड़ी पताकाएँ लगवाओ। नगरी की दीवारों को लिपवाओ, पुतवाओ·····) नगरी के वातावरण को उत्कृष्ट सौरभमय करवा दो। यह सब करवाकर मुझे सूचित करो कि आज्ञा का अनुपालन हो गया है।

४६—तए णं से णयरगुत्तिए बलवाउयस्स एयमट्ठं आणाए विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता चंपं णयरिं सब्भितरबाहिरियं आसित्त जाव[1] कारवेत्ता, जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणइ।

४६—नगरपाल ने सेनानायक का आदेश विनयपूर्वक स्वीकार किया। स्वीकार कर चम्पा नगरी की बाहर से, भीतर से सफाई, पानी का छिड़काव आदि करवाकर, वह जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया। आकर आज्ञापालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४७—तए णं से बलवाउए कोणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पियं पासइ, हयगय जाव (रहपवरजोहकलियं च चाउरंगिणिं सेणं) सण्णाहियं पासइ, सुभद्दापमुहाणं देवीणं पडिजाणाइं उवट्ठवियाइं पासइ, चंपं णयरिं सब्भितरं जाव[2] गंधवट्टिभूयं कयं पासइ, पासित्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए, पीअमणे जाव[3] हियए जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करयल जाव (-परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु) एवं वयासी—कप्पिए णं देवाणुप्पियाणं आभिसेक्के हत्थिरयण, हयगयरहपवरजोहकलिया य चाउरंगिणी सेणा सण्णाहिया, सुभद्दापमुहाणं य देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जुत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठावियाइं, चंपा णयरी सब्भितरबाहिरिया आसित्त जाव[4] गंधवट्टिभूया कया, तं णिज्जंतु णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं अभिवंदया।

४७—तदनन्तर सेनानायक ने भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के प्रधान हाथी को सजा हुआ देखा। (घोड़े, हाथी, रथ, उत्तम योद्धाओं से परिगठित) चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध—सुसज्जित देखा। सुभद्रा आदि रानियों के लिए उपस्थापित—तैयार कर लाये हुए यान देखे। यह भी देखा,

---

१. देखें सूत्र-संख्या ४०
२. देखें सूत्र-संख्या ४० तथा सूत्र-संख्या ४५
३. देखें सूत्र-संख्या १८
४. देखें यही, सूत्र-संख्या ४० तथा सूत्र-संख्या ४५

चम्पा नगरी की भीतर और बाहर से सफाई की जा चुकी है, वह सुगंध से महक रही है। यह सब देखकर वह मन में हर्षित, परितुष्ट, आनन्दित एवं प्रसन्न हुआ। भंभसार का पुत्र राजा कूणिक जहाँ था, वह वहाँ आया। आकर हाथ जोड़े, (उन्हें सिर के चारों ओर घुमाया, अंजलि को मस्तक से लगाया) राजा से निवेदन किया—

देवानुप्रिय ! आभिषेक्य हस्तिरत्न तैयार है। घोड़े, हाथी, रथ, उत्तम योद्धाओं से परिगठित चतुरंगिणी सेना सन्नद्ध है। सुभद्रा आदि रानियों के लिए, प्रत्येक के लिए अलग-अलग जुते हुए यात्राभिमुख—गमनोद्यत यान बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थापित—हाजिर हैं। चम्पा नगरी की भीतर और बाहर से सफाई करवा दी गई है, पानी का छिड़काव करवा दिया गया है, वह सुगंध से महक रही है। देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर के अभिवन्दन हेतु आप पधारें।

४८—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए, जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अट्टणसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता अणेगवायामजोग्गवग्गण-वामद्दण-मल्लजुद्धकरणेहिं संते, परिस्संते, सयपाग-सहस्सपागेहिं सुगंधतेल्लमाइएहि पीणणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मयणिज्जेहिं विंहणिज्जेहिं सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भिंगेहिं अब्भिंगिए समाणे, तेल्लचम्मंसि पडिपुण्णदाणिपायसुउमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं, दक्खेहिं पत्तट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउणसिप्पोवगएहिं अब्भिंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणणिम्माएहिं, अट्ठिसुहाए, मंससुहाए, तयासुहाए, रोमसुहाए चउव्विहाए संबाहणाए संबाहिए समाणे, अवगयखेय-परिस्समे अट्टणसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता समुत्तजालाउलाभिरामे विचित्तमणिरयणकुट्टि-मतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि, णाणामणिरयणभत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुद्धोदएहिं, गंधोदएहिं, पुप्फोदएहिं, सुद्धोदएहिं पुणो कल्लाणगपवरमज्जणविहीए मज्जिए, तत्थ कोउयसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालगंधकासाइयलूहियंगे, सरससुरहिगोसीसचंदणाणु-लित्तगत्ते, अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवुए, सुइमालावण्णगविलेवणे य आविद्धमणिसुवण्णे, कप्पियहारद्ध-हारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तसुणयसोभे, पिणद्धगेविज्जअंगुलिज्जगललियंगयललियकयाभरणे, वरकडगतुडियथंभियभुए, अहियरूवसस्सिरीए, मुद्दियापिंगलंगुलीए कुंडलउज्जोवियाणणे मउडदित्त-सिरए, हारोत्थयसुकयरइयवच्छे, पालंबपलंबमाणपडसुकयउत्तरिज्जे, णाणामणिकणगरयणविमलमहरि-हणिउणोवियमिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठआविद्धवीरवलए किं बहुणा, कप्परुक्खए चेव अलंकियविभूसिए णरवई सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं, चउचामरवालवीइयंगे, मंगलजय-सद्दकयालोए, मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अणेगगणनायग-दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-दूय-संधिवालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेहणिग्गए इव गहगणदिप्पंत-रिक्ख-तारागणाण मज्झे ससिव्व पियदंसणे णरवई जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव आभिसेक्के हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवइं णरवई दुरूढे।

४८—भंभसार के पुत्र राजा कूणिक ने सेनानायक से यह सुना। वह प्रसन्न एवं परितुष्ट हुआ। जहाँ व्यायामशाला थी, वहाँ आया। आकर व्यायामशाला में प्रवेश किया। प्रवेश कर अनेक

१. देखें सूत्र-संख्या १८

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रकार से व्यायाम किया। अंगों को खींचना, उछलना-कूदना, अंगों को मोड़ना, कुश्ती लड़ना, व्यायाम के उपकरण—मुद्गर आदि घुमाना—इत्यादि क्रियाओं द्वारा अपने को श्रान्त, परिश्रान्त किया—थकाया, विशेष रूप से थकाया। फिर प्रीणनीय रस, रक्त आदि धातुओं में समता-निष्पादक, दर्पणीय—बलवर्धक, मदनीय—कामोद्दीपक, बृंहणीय—मांसवर्धक, शरीर तथा सभी इन्द्रियों के लिए आह्लादजनक—आनन्दकर या लाभप्रद शतपाक, सहस्रपाक संज्ञक सुगंधित तैलों, अभ्यंगों—उबटनों आदि द्वारा शरीर को मसलवाया।

फिर तैलचर्म पर—आसन-विशेष पर—वैसे आसन पर, तैल मालिश किये हुए पुरुष को जिस पर बिठाकर संवाहन किया जाता है, देहचंपी की जाती है, स्थित होकर ऐसे पुरुषों द्वारा, जिनके हाथों और पैरों के तलुए अत्यन्त सुकुमार तथा कोमल थे, जो छेक—अवसरज्ञ, कलाविद्—बहत्तर कलाओं के ज्ञाता, दक्ष—अविलम्ब कार्य-संपादन में सक्षम, प्राप्तार्थ—अपने व्यवसाय में सुशिक्षित, कुशल, मेधावी—उर्वर प्रतिभाशील, संवाहन-कला में निपुण—तत्सम्बद्ध क्रिया-प्रक्रिया के मर्मज्ञ, अभ्यंगन—तैल, उबटन आदि के मर्दन, परिमर्दन—तैल आदि को अंगों के भीतर तक पहुँचाने हेतु किये जाने वाले विशेष मर्दन, उद्वलन—उलटे रूप में—नीचे से ऊपर या उलटे रोओं से किये जाते मर्दन से जो गुण, लाभ होते हैं, उनका निष्पादन करने में समर्थ थे, हड्डियों के लिए सुखप्रद, मांस के लिए सुखप्रद, चमड़ी के लिए सुखप्रद तथा रोमों के लिए सुखप्रद—यों चार प्रकार से मालिश व देहचंपी करवाई, शरीर को दबवाया।

इस प्रकार थकावट, व्यायामजनित परिश्रान्ति दूर कर राजा व्यायामशाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर, जहाँ स्नानघर था, वहाँ आया। आकर स्नानघर में प्रविष्ट हुआ। वह (स्नानघर) मोतियों से बनी जालियों द्वारा सुन्दर लगता था अथवा सब ओर जालियाँ होने से वह बड़ा मनोरम था। उसका प्रांगण तरह-तरह की मणियों, रत्नों से खचित था। उसमें रमणीय स्नान-मंडप था। उसकी भीतों पर अनेक प्रकार की मणियों तथा रत्नों को चित्रात्मक रूप में जड़ा गया था। ऐसे स्नानघर में प्रविष्ट होकर राजा वहाँ स्नान हेतु अवस्थापित चौकी पर सुखपूर्वक बैठा। शुद्ध, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों के रस से मिश्रित, पुष्परस-मिश्रित शुभ या सुखप्रद—न ज्यादा उष्ण, न ज्यादा शीतल जल से आनन्दप्रद, अतीव उत्तम स्नान-विधि द्वारा पुनः पुनः—अच्छी तरह स्नान किया। स्नान के अनन्तर राजा ने दृष्टिदोष, नजर आदि के निवारणहेतु रक्षाबन्धन आदि के रूप में अनेक, सैकड़ों विधि-विधान संपादित किये। तत्पश्चात् रोएँदार, सुकोमल, काषायित—हरीतकी, विभीतक, आमलक आदि कसैली वनौषधियों से रंगे हुए अथवा काषाय—लाल या गेरुएं रंग के वस्त्र से शरीर को पोंछा। सरस—रसमय—आर्द्र, सुगन्धित गोलोचन तथा चन्दन का देह पर लेप किया। अहत—अदूषित, चूहों आदि द्वारा नहीं कुतरे हुए, निर्मल, दूष्यरत्न—उत्तम या प्रधान वस्त्र भलीभाँति पहने। पवित्र माला धारण की। केसर आदि का विलेपन किया। मणियों से जड़े सोने के आभूषण पहने। हार—अठारह लड़ों के हार, अर्धहार—नौ लड़ों के हार, तथा तीन लड़ों के हार और लम्बे, लटकते कटिसूत्र—करधनी या कंदोरे से अपने को सुशोभित किया। गले के आभरण धारण किये। अंगुलियों में अंगूठियाँ पहनीं। इस प्रकार अपने सुन्दर अंगों को सुन्दर आभूषणों से विभूषित किया। उत्तम कंकणों तथा त्रुटितों—तोड़ों—भुजबंधों द्वारा भुजाओं को स्तम्भित किया—कसा। यों राजा की शोभा और अधिक बढ़ गई। मुद्रिकाओं—सोने की अंगूठियों के कारण राजा की अंगुलियाँ पीली लग रही थीं। कुंडलों से मुख उद्योतित था—चमक रहा था। मुकुट से मस्तक

दीप्त—देदीप्यमान था। हारों से ढका हुआ उसका वक्षःस्थल सुन्दर प्रतीत हो रहा था। राजा ने एक लम्बे, लकटते हुए वस्त्र को उत्तरीय (दुपट्टे) के रूप में धारण किया। सुयोग्य शिल्पियों द्वारा मणि, स्वर्ण, रत्न—इनके योग से सुरचित विमल—उज्ज्वल, महार्ह—बड़े लोगों द्वारा धारण करने योग्य, सुश्लिष्ट—सुन्दर जोड़ युक्त, विशिष्ट—उत्कृष्ट, प्रशस्त—प्रशंसनीय आकृतियुक्त वीरवलय—विजय-कंकण धारण किया। अधिक क्या कहें, इस प्रकार अलंकृत—अलंकारयुक्त, विभूषित—वेषभूषा, विशिष्ट सज्जायुक्त राजा ऐसा लगता था, मानो कल्पवृक्ष हो। अपने ऊपर लगाये गये कोरंट पुष्पों की मालाओं से युक्त छत्र, दोनों ओर डुलाये जाते चार चंवर, देखते ही लोगों द्वारा किये गये मंगलमय जय शब्द के साथ राजा स्नान-गृह से बाहर निकला। स्नानघर से बाहर निकल कर अनेक गण-नायक—जनसमुदाय के प्रतिनिधि, दण्डनायक—आरक्षि-अधिकारी, राजा—माण्डलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली या प्रभावशील पुरुष, तलवर—राजसम्मानित विशिष्ट नागरिक, माडंबिक—जागीरदार, भूस्वामी, कौटुम्बिक—बड़े परिवारों के प्रमुख, इभ्य—वैभवशाली, श्रेष्ठी—सम्पत्ति और सुव्यवहार से प्रतिष्ठा प्राप्त सेठ, सेनापति, सार्थवाह—अनेक छोटे व्यापारियों को साथ लिये देशान्तर में व्यापार-व्यवसाय करने वाले, दूत—संदेशवाहक, सन्धिपाल—राज्य के सीमान्त-प्रदेशों के अधिकारी—इन सबसे घिरा हुआ वह राजा धवल महामेघ—श्वेत, विशाल बादल से निकले नक्षत्रों, आकाश को देदीप्यमान करते तारों के मध्यवर्ती चन्द्र के सदृश देखने में बड़ा प्रिय लगता था। वह, जहाँ बाहरी सभा-भवन था, प्रधान हाथी था, वहाँ आया। वहाँ आकर अंजनगिरि के शिखर के समान विशाल, उच्च गजपति पर वह नरपति आरूढ हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में राजा कूणिक के शरीर की मालिश के प्रसंग में शतपाक तथा सहस्रपाक तैलों का उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी वृत्ति में तीन प्रकार से इनकी व्याख्या की है। उनके अनुसार जो तैल विभिन्न औषधियों के साथ क्रमशः सौ बार तथा हजार बार पकाये जाते थे, वे शतपाक तथा सहस्रपाक तैल कहे जाते थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार जो क्रमशः सौ प्रकार की तथा हजार प्रकार की औषधियों से पकाये जाते थे, वे शतपाक एवं सहस्रपाक तैल के नाम से सज्ञित होते थे। तीसरी व्याख्या के अनुसार जिनके निर्माण में क्रमशः सौ कार्षापण तथा हजार कार्षापण व्यय होते थे, वे शतपाक एवं सहस्रपाक तैल कहे जाते थे।

कार्षापण प्राचीन भारत में प्रयुक्त एक सिक्का था। वह सोना, चाँदी तथा ताँबा—इनका पृथक्-पृथक् तीन प्रकार का होता था। स्वर्ण-कार्षापण का वजन १६ मासे, रजत-कार्षापण का वजन १६ पण (तोलविशेष) और ताम्र-कार्षापण का वजन ८० रत्ती होता था।[1]

इस सूत्र में राजा के पारिपार्श्विक विशिष्ट पुरुषों में सबसे पहले गणनायक शब्द का प्रयोग हुआ है। तत्कालीन साहित्य में गण शब्द विशेष रूप से जन-समूह के अर्थ में प्रयुक्त दिखाई देता है। यहाँ संभवतः वह ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ हो, जो आज की भाषा में स्वायत्त-शासन (Local Self-Government) के—पंचायतों, नगरपालिकाओं आदि के प्रतिनिधि रहे हों।

प्रस्थान

४९—तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं दुरूढस्स समाणस्स

1. Sanskrit-English Dictionary : Sir Monier Williams, Page 276

तप्पडमयाए इमे अट्ठट्ठ मंगलया पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तं जहा—सोवत्थिय-सिरिवच्छ णंदियावत्त-वद्धमाणग-भद्दासण-कलस-मच्छ-दप्पणा।

तयाणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारं, दिव्वा य छत्तपडागा सचामरा, दंसणरइयआलोयदरिसणिज्जा वाउद्धूयविजयवेजयंती य, ऊसिया गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया। तयाणंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदंडं, पलंबकोरंटमल्लदामोवसोभियं, चंदमण्डलणिभं, समूसियं, विमल आयवत्तं, पवरं सीहासणं वरमणिरयणपादपीढं, सपाउयाजोयसमाउत्तं, बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

तयाणंतरं च णं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा पोत्थयग्गाहा फलगग्गाहा पीढग्गाहा वीणग्गाहा कूवग्गाहा हडप्पयग्गाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

तयाणंतरं च णं बहवे दंडिणो मुंडिणो सिहंडिणो जडिणो पिच्छिणो हासकरा डमरकरा चाडुकरा वादकरा कंदप्पकरा दवकरा कोक्कुइया किडुकरा य, वायंता य गायंता य हसंता य णच्चंता य भासंता य सावेंता य रक्खंता य रवंता य आलोयं च करेमाणा, जयमट्ठं पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया।

तयाणंतरं च णं जच्चाणं तरमल्लिहायणाणं हरिमेलामउलमल्लियच्छाणं चंचुच्चिय-ललियपुलियचल-चवल-चंचलगईणं, लंघण-वग्गण-धावण-धोरण-तिवई-जइणसिक्खियगईणं, सलंत-लाम-गललायवरभूसणाणं, मुहभंडग-ओचूलग-थासग-अहिलाण-चामर-गण्ड-परिमण्डियकडीणं, किंकरवर-तरुणपरिग्गहियाणं अट्ठसयं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

तयाणंतरं च णं ईसीदंताणं ईसीमत्ताणं ईसीउच्छंगविसालधवलदंताणं कंचणकोसीपविट्ठदंताणं कंचणमणिरयणभूसियाणं, वरपुरिसारोहगसंपउत्ताणं अट्ठसयं गयाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

तयाणंतरं च णं सच्छत्ताणं सज्झयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सणंदिघोसाणं-सखिखिणीजालपरिक्खित्ताणं हेमवयचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुयाणं, कालायससुकयणेमिजंतकम्माणं, सुसिलिट्ठ-वत्तमंडलधुराणं, आइण्णवरतुरगसंपउत्ताणं, कुसलनरच्छेयसारहिसुसंपग्गहियाणं बत्तीसतोणपरिमंडियाणं सकंकडवडेंसगाणं सचावसरपहरणावरण-भरियजुद्धसज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं। तयाणंतरं च णं असि-सत्ति-कुंत तोमर-सूल-लउड-भिंडिमाल-धणुपाणिसज्जं पायत्ताणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं।

४९—तब भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के प्रधान हाथी पर सवार हो जाने पर सबसे पहले स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य तथा दर्पण—ये आठ मंगल क्रमशः रवाना किये गये।

उसके बाद जल से परिपूर्ण कलश, झारियाँ, दिव्य छत्र, पताका, चंवर तथा दर्शन-रचित-राजा के दृष्टिपथ में अवस्थित—राजा को दिखाई देने वाली, आलोक-दर्शनीय—देखने में सुन्दर प्रतीत होने वाली, हवा से फहराती, उच्छ्रित—ऊँची उठी हुई, मानो आकाश को छूती हुई-सी विजय-वैजयन्ती—विजय-ध्वजा लिये राजपुरुष चले।

तदनन्तर वैदूर्य—नीलम की प्रभा से देदीप्यमान उज्ज्वल दंडयुक्त, लटकती हुई कोरंट पुष्पों की मालाओं से सुशोभित, चन्द्रमंडल के सदृश आभामय, समुच्छ्रित—ऊँचा फैलाया हुआ निर्मल आतपत्र—धूप से बचाने वाला—छत्र, अति उत्तम सिंहासन, श्रेष्ठ मणि-रत्नों से विभूषित—जिसमें मणियाँ तथा रत्न जड़े थे, जिस पर राजा की पादुकाओं की जोड़ी रखी थीं, वह पादपीठ—राजा के पैर रखने का पीढ़ा, चौकी, जो (उक्त वस्तु-समवाय) किङ्करों—आज्ञा कीजिए, क्या करें—हरदम यों आज्ञा-पालन में तत्पर सेवकों, विभिन्न कार्यों में नियुक्त भृत्यों तथा पदातियों—पैदल चलने वाले लोगों से घिरे हुए थे, क्रमशः आगे रवाना किये गये।

तत्पश्चात् बहुत से लष्टिग्राह—लट्ठीधारी, कुन्तग्राह—भालाधारी, चापग्राह—धनुर्धारी, चमरग्राह—चंवर लिये हुए, पाशग्राह—उद्धत घोड़ों, बैलों को नियन्त्रित करने हेतु चाबुक आदि लिये हुए अथवा पासे आदि द्यूत-सामग्री लिये हुए, पुस्तकग्राह—पुस्तकधारी—ग्रन्थ लिये हुए अथवा हिसाब-किताब रखने के बहीखाते आदि लिये हुए, फलकग्राह—काष्ठपट्ट लिये हुए, पीठग्राह—आसन लिये हुए, वीणाग्राह—वीणा धारण किये हुए, कूप्यग्राह-पक्व तैलपात्र लिये हुए, हडप्पयग्राह—द्रम्म नामक सिक्कों के पात्र अथवा ताम्बूल—पान के मसाले, सुपारी आदि के पात्र लिये हुए पुरुष यथाक्रम आगे रवाना हुए।

उसके बाद बहुत से दण्डी—दण्ड धारण करने वाले, मुण्डी—सिरमुण्डे, शिखण्डी—शिखाधारी, जटी—जटाधारी, पिच्छी—मयूरपिच्छ—मोरपंख आदि धारण किये हुए, हासकर—हास-परिहास करने वाले—विदूषक, डमरकर—हल्लेबाज, चाटुकर—खुशामदी—खुशामदयुक्त प्रिय वचन बोलने वाले, वादकर—वादविवाद करने वाले, कन्दर्पकर—कामुक या शृंगारी चेष्टाएँ करने वाले, दवकर—मजाक करने वाले, कौत्कुचिक—भांड आदि, क्रीडाकर—खेल-तमाशे करने वाले, इनमें से कतिपय बजाते हुए—तालियां पीटते हुए अथवा वाद्य बजाते हुए, गाते हुए, हंसते हुए, नाचते हुए बोलते हुए, सुनाते हुए, रक्षा करते हुए, अवलोकन करते हुए, तथा जय शब्द का प्रयोग करते हुए—जय बोलते हुए यथाक्रम आगे बढ़े।

तदनन्तर जात्य—उच्च जाति के—ऊँची नसल के एक सौ आठ घोड़े यथाक्रम रवाना किये गये। वे वेग, शक्ति और स्फूर्ति मय वय—यौवन वय में स्थित थे। हरिमेला नामक वृक्ष की कली तथा मल्लिका—चमेली के पुष्प जैसी उनकी आँखें थीं। तोते की चोंच की तरह वक्र—टेढ़े पैर उठाकर वे शान से चल रहे थे अथवा चञ्चुरित—कुटिल ललित गतियुक्त थे। वे चपल, चंचल चाल लिये हुए थे अथवा उनकी गति बिजली के सदृश चंचल—तीव्र थी। गड्ढे आदि लांघना, ऊँचा कूदना, तेजी से सीधा दौड़ना, चतुराई से दौड़ना, भूमि पर तीन पैर टिकाना, जयिनी संज्ञक सर्वातिशायिनी तेज गति से दौड़ना, चलना इत्यादि विशिष्ट गतिक्रम वे सीखे हुए थे। उनके गले में पहने हुए, श्रेष्ठ आभूषण लटक रहे थे। मुख के आभूषण अवचूलक—मस्तक पर लगाई गई कलंगी, दर्पण की आकृतियुक्त विशेष अलंकार, अभिलान—मुखबन्ध या मोरे (मोहरे) बड़े सुन्दर दिखाई देते थे। उनके कटिभाग चामर-दण्ड से सुशोभित थे। सुन्दर, तरुण सेवक उन्हें थामे हुए थे।

तत्पश्चात् यथाक्रम एक सौ आठ हाथी रवाना किये गये। वे कुछ कुछ मत्त—मदमस्त एवं उन्नत थे। उनके दाँत (तरुण होने के कारण) कुछ कुछ बाहर निकले हुए थे। दाँतों के पिछले भाग

कुछ विशाल थे, धवल—अति उज्ज्वल, श्वेत थे। उन पर सोने के खोल चढ़े थे। वे हाथी स्वर्ण, मणि तथा रत्नों से—इनसे निर्मित आभरणों से शोभित थे। उत्तम, सुयोग्य महावत उन्हें चला रहे थे।

उसके बाद एक सौ आठ रथ यथाक्रम रवाना किये गये। वे छत्र, ध्वज—गरुड आदि चिह्नों से युक्त झण्डे, पताका—चिह्नरहित झण्डे, घण्टे, सुन्दर तोरण, नन्दिघोष—बारह प्रकार की वाद्य-ध्वनि[1] से युक्त थे। छोटी छोटी घंटियों से युक्त जाल उन पर फैलाये हुए—लगाये हुए थे। हिमालय पर्वत पर उत्पन्न तिनिश—शीशम-विशेष का काठ, जो स्वर्ण-खचित था, उन रथों में लगा था। रथों के पहियों के घेरों पर लोहे के पट्टे चढ़ाये हुए थे। पहियों की धुराएँ गोल थी, सुन्दर, सुदृढ़ बनी थीं। उनमें छंटे हुए, उत्तम श्रेणी के घोड़े जुते थे। सुयोग्य, सुशिक्षित सारथियों ने उनकी बागडोर सम्हाल रखी थी। वे बत्तीस तरकशों से सुशोभित थे—एक एक रथ में बत्तीस बत्तीस तरकश रखे थे। कवच, शिरस्त्राण—शिरोरक्षक टोप, धनुष, बाण तथा अन्यान्य शस्त्र उनमें रखे थे। इस प्रकार वे युद्ध-सामग्री से सुसज्जित थे।

तदनन्तर हाथों में तलवारें, शक्तियाँ—त्रिशूल, कुन्त—भाले, तोमर—लोह-दंड, शूल, लट्ठियाँ भिन्दिमाल—हाथ से फेंके जानेवाले छोटे भाले या गोफिये, जिनमें रखकर पत्थर फेंके जाते हैं तथा धनुष धारण किये हुए सैनिक क्रमशः रवाना हुए—आगे बढ़े।

विवेचन—चतुरंगिणी सेना, उच्च अधिकारी, संभ्रान्त नागरिक, सेवक, किङ्कर, भृत्य, राज-वैभव की अनेकविध सज्जा के साथ इन सबसे सुसज्जित बहुत बड़े जलूस के साथ भगवान् महावीर के दर्शन हेतु राजगृह-नरेश कूणिक, जो बौद्ध वाङ्मय में अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध है, जो अपने युग का उत्तर भारत का बहुत बड़ा नृपति था, रवाना होता है। जैन आगम-वाङ्मय में अन्यत्र भी प्रायः इसी प्रकार के वर्णन हैं, जहाँ सम्राट्, राजा सामन्त, श्रेष्ठी आदि भौतिक सत्ता, वैभव एवं समृद्धिसम्पन्न पुरुष भगवान् के दर्शनार्थ जाते हैं। प्रश्न होता है, अध्यात्म से अनुप्रेरित हो, एक महान् तपस्वी, महान् ज्ञानी की सन्निधि में जाते समय यह सब क्यों आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसी प्रदर्शनात्मक, आडम्बरपूर्ण साजसज्जा के साथ कोई जाए? सीधा-सा उत्तर है, राजा का रुतबा, गरिमा, शक्तिमत्ता जन-जन के समक्ष परिदृश्यमान रहे, जिसके कारण राजप्रभाव अक्षुण्ण बना रह सके। किसी दृष्टि से यह ठीक है पर गहराई में जाने पर एक बात और भी प्रकट होती है। ऐसे महान् साधक, जिनके पास भौतिक सत्ता, स्वामित्व, समृद्धि और परिग्रह के नाम पर कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा अकिञ्चन होते हैं पर जो कुछ उनके पास होता है, वह इतना महान्, इतना पावन तथा इतना उच्च होता है कि सारे जागतिक वैभवसूचक पदार्थ उसके समक्ष तुच्छ एवं नगण्य हैं। यथार्थ के जगत् में त्याग के आगे भोग की गणना ही क्या! जहाँ त्याग आत्म-पराक्रम या शक्तिमत्ता का संस्फोट है, परम सशक्त अभिव्यञ्जना है, वहाँ भोग जीवन के दौर्बल्य और शक्तिशून्यता का सूचक है। अत एव जैसा ऊपर वर्णित हुआ है, भोग त्याग के आगे—समक्ष झुकने जाता है। इसलिए कहा जाता है कि जन-जन यह जान सके कि जिस भौतिक विभूति तथा भोगासक्ति में वे मदोन्मत्त रहते हैं, वह सब मिथ्या है, वह वैभव भी, वह मदोन्माद भी। सम्भव है, ऐसा ही कुछ उच्च एवं आदर्श भाव इस परम्परा के साथ जुड़ा हो।

---

१. १. भंभा २. मउंद ३. महल ४. कडंब ५. झल्लरि ६. हुडुक्क ७. कंसाला। ८. काहल ९. तलिमा १०. वंसो ११. संखो १२. पणवो य बारसमो॥
—औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ७१

५०—तए णं से कूणिए राया हारोत्थयसुकयरइयवच्छे कुंडलउज्जोवियाणणे मउडदित्तसिरए णरसीहे णरवई णरिंदे णरवसहे मणुयरायवसभकप्पे अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणे, हत्थिक्खंधवरगए, सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं, सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं वेसमणे चेव णरवई अमरवइसण्णिभाए इड्ढीए पहियकित्ती हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणुगम्ममाणमग्गे जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

५०—तब नरसिंह—मनुष्यों में सिंहसदृश शौर्यशाली, नरपति—मनुष्यों के स्वामी—परिपालक, नरेन्द्र—मनुष्यों के इन्द्र—परम ऐश्वर्यशाली अधिपति, नरवृषभ—मनुष्यों में वृषभ के समान स्वीकृत कार्य-भार के निर्वाहक, मनुजराजवृषभ—नरपतियों में वृषभसदृश परम धीर एवं सहिष्णु चक्रवर्ती तुल्य—उत्तर भारत के आधे भाग को साधने में—स्वायत्त करने में संप्रवृत्त, भंभसारपुत्र राजा कूणिक ने जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ जाने का विचार किया, प्रस्थान किया। अश्व, हस्ती, रथ एवं पैदल—इस प्रकार चतुरंगिणी सेना उसके पीछे-पीछे चल रही थी।

राजा का वक्षस्थल हारों से व्याप्त, सुशोभित तथा प्रीतिकार था। उसका मुख कुण्डलों से उद्योतित—द्युतिमय था। मस्तक मुकुट से देदीप्यमान था। राजोचित तेजस्वितारूप लक्ष्मी से वह अत्यन्त दीप्तिमय था। वह उत्तम हाथी पर आरूढ हुआ। कोरंट के पुष्पों की मालाओं से युक्त छत्र उस पर तना था। श्रेष्ठ, श्वेत चंवर डुलाये जा रहे थे। वैश्रमण—यक्षराज कुबेर, नरपति—चक्रवर्ती, अमरपति—देवराज इन्द्र के तुल्य उसकी समृद्धि सुप्रशस्त थी, जिससे उसकी कीर्ति विश्रुत थी।

५१—तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स पुरओ महं आसा, आसवरा, उभओ पासिं णागा, णागवरा, पिट्ठओ रहसंगेल्लि।

५१—भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के आगे बड़े-बड़े घोड़े और घुड़सवार थे। दोनों ओर हाथी तथा हाथियों पर सवार पुरुष—महावत थे पीछे रथ-समुदाय था।

५२—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते अब्भुग्गयभिंगारे, पग्गहियतालयंटे, ऊसवियसेयच्छत्ते, पवीइयबालवीयणीए, सव्विड्ढीए, सव्वजुतीए सव्वबलेणं, सव्वसमुदएणं, सव्वादरेणं, सव्वविभूईए, सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं, सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं, सव्वतुडियसद्दसण्णिणाएणं, महया इड्ढीए, महया जुईए, महया बलेणं, महया समुदएणं, महया वरतुडियजमगसमगप्पवाइएणं संख-पणव-पडह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि-हुडुक्क-मुरव-मुअंग-दुंदुहि-णिग्घोसणाइयरवेणं चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ ।।

५२—तदनन्तर भंभसार का पुत्र राजा कूणिक चम्पानगरी के बीचोंबीच होता हुआ आगे बढ़ा। उसके आगे-आगे जल से भरी झारियाँ लिये पुरुष चल रहे थे। सेवक दोनों ओर पंखे झल रहे थे। ऊपर सफेद छत्र तना था। चंवर ढोले जा रहे थे। वह सब प्रकार की समृद्धि, सब प्रकार की द्युति—आभा, सब प्रकार के सैन्य, समुदय—सभी परिजन, समादरपूर्ण प्रयत्न, सर्वविभूति—सब प्रकार के वैभव, सर्वविभूषा—सब प्रकार की वेशभूषा—वस्त्र, आभरण आदि द्वारा सज्जा, सर्वसम्भ्रम—स्नेहपूर्ण उत्सुकता, सर्व-पुष्प गन्धमाल्यालंकार—सब प्रकार के फूल, सुगन्धित पदार्थ, फूलों की मालाएं, अलंकार या फूलों की मालाओं से निर्मित आभरण, सर्व तूर्यशब्द-सन्निपात—

सब प्रकार के वाद्यों को ध्वनि-प्रतिध्वनि, महाऋद्धि—अपने विशिष्ट वैभव, महाद्युति—विशिष्ट आभा, महाबल—विशिष्ट सेना, महासमुदय—अपने विशिष्ट पारिवारिक जन-समुदाय से सुशोभित था तथा शंख, पणव—पात्र-विशेष पर मढ़े हुए ढोल, पटह—बड़े ढोल, छोटे ढोल, भेरी, झालर, खरमुही—वाद्य, हुडुक्क—वाद्य विशेष, मुरज—ढोलक, मृदंग तथा दुन्दुभि—नगाड़े एक साथ विशेष रूप से बजाए जा रहे थे।

५३—तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छमाणस्स बहवे अत्थत्थिया, कामत्थिया, भोगत्थिया लाभत्थिया किव्विसिया, करोडिया, कारवाहिया, संखिया, चक्किया, नंगलिया, मुहमंगलिया, वद्धमाणा, पूसमाणया, खंडियगणा ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं मणाभिरामाहिं हिययगमणिज्जाहिं वग्गूहिं जयविजयमंगलसएहिं अणवरयं अभिणंदंता य अभित्थुणंता य एवं वयासी—जय जय णंदा ! जय जय भद्दा ! भद्दं ते अजियं जिणाहि, जियं च पालेहि, जियमज्झे वसाहि। इंदो इव देवाणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं, चंदो इव ताराणं, भरहो इव मणुयाणं बहूइं वासाइं, बहूइं वाससयाइं, बहूइं वाससहस्साइं अणहसमग्गो, हट्ठतुट्ठो परमाउं पालयाहि, इट्ठजणसंपरिवुडो चंपाए णयरीए अण्णेसिं च बहूणं गामागर-णयर-खेड-कब्बड-दोणमुह-मडंब-पट्टण-आसम-निगम-संवाह-संनिवेसाणं आहेवच्चं, पोरेवच्चं, सामित्तं, भट्टित्तं, महत्तरगत्तं, आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे, पालेमाणे महयाहयनट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहराहित्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंजंति।

५३—जब राजा कूणिक चंपा नगरी के बीच से गुजर रहा था, बहुत से अभ्यर्थी—धन के अभिलाषी, कामार्थी—सुख या मनोज्ञ शब्द तथा सुन्दर रूप के अभिलाषी, भोगार्थी—सुखप्रद गन्ध, रस एवं स्पर्श आदि के अभिलाषी, लाभार्थी—मात्र भोजन आदि के अभिलाषी, किल्विषिक—भांड आदि, कापालिक—खप्पर धारण करने वाले भिक्षु, करबाधित—करपीडित—राज्य के कर आदि से कष्ट पाने वाले, शांखिक—शंख बजाने वाले, चाक्रिक—चक्रधारी, लांगलिक—हल चलाने वाले कृषक, मुखमांगलिक—मुंह से मंगलमय शुभ वचन बोलने वाले या खुशामदी, वर्धमान—औरों के कन्धों पर स्थितपुरुष, पुष्यमानव—मागध—भाट, चारण आदि स्तुतिगायक, खंडिकगण—छात्र-समुदाय, इष्ट—वाञ्छित, कान्त—कमनीय, प्रिय—प्रीतिकर, मनोज्ञ—मनोनुकूल, मनाम—चित्त को प्रसन्न करने वाली, मनोभिराम—मन को रमणीय लगने वाली तथा हृदयगमनीय—हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाली वाणी से एवं जय विजय आदि सैकड़ों मांगलिक शब्दों से राजा का अनवरत—लगातार अभिनन्दन करते हुए, अभिस्तवन करते हुए—प्रशस्ति कहते हुए इस प्रकार बोले—जन-जन को आनन्द देने वाले राजन् ! आपकी जय हो, आपकी जय हो। जन-जन के लिए कल्याण-स्वरूप राजन् ! आप सदा जयशील हों। आपका कल्याण हो। जिन्हें नहीं जीता है, उन पर आप विजय प्राप्त करें। जिनको जीत लिया है, उनका पालन करें। उनके बीच निवास करें। देवों में इन्द्र की तरह, असुरों में चमरेन्द्र की तरह, नागों में धरणेन्द्र की तरह, तारों में चन्द्रमा की तरह, मनुष्यों में चक्रवर्ती भरत की तरह आप अनेक वर्षों तक, अनेक शत वर्षों तक, अनेक सहस्र वर्षों तक, अनेक लक्ष वर्षों तक अनघसमग्र—सर्व प्रकार के दोष या विघ्न रहित अथवा संपत्ति, परिवार आदि से सर्वथा सम्पन्न, हृष्ट, तुष्ट रहें और उत्कृष्ट आयु प्राप्त करें। आप अपने इष्ट—प्रिय जन सहित चंपानगरी के तथा अन्य बहुत से ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्पत्ति स्थान, नगर—जिनमें कर नहीं लगता हो,

ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटों से युक्त गांव, कर्वट-अति साधारण कस्बे, द्रोण-मुख—जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से युक्त स्थान, मडंब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बड़े नगर, जहाँ या तो जलमार्ग से या स्थलमार्ग से जाना संभव हो, आश्रम—तापसों के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, संवाह—पर्वत की तलहटी में बसे गांव, सन्निवेश झोंपड़ियों से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान—इन सबका आधिपत्य, पौरोवृत्त्य—अग्रेसरता या आगेवानी, स्वामित्व, भर्तृत्व—प्रभुत्व, महत्तरत्व—अधिनायकत्व, आज्ञेश्वरत्व-सैनापत्य—जिसे आज्ञा देने का सर्व अधिकार होता है, ऐसा सैनापत्य—सेनापतित्व—इन सबका सर्वाधिकृत रूप में पालन करते हुए निर्बाध—निरन्तर अविच्छिन्न रूप में नृत्य, गीत, वाद्य, वीणा, करताल, तूर्य—तुरही एवं घनमृदंग—बादल जैसी आवाज करने वाले मृदंग के निपुणतापूर्ण प्रयोग द्वारा निकलती सुन्दर ध्वनियों से आनन्दित होते हुए, विपुल—प्रचुर—अत्यधिक भोग भोगते हुए सुखी रहें, यों कहकर उन्होंने जय-घोष किया।

दर्शन-लाभ

५४—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते नयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे, हिययमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे अभिणंदिज्जमाणे, उन्नइज्जमाणे मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे, वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे, कंति-सोहग्गगुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे, बहूणं नरनारिसहस्साणं दाहिणहत्थेणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे, मंजुमंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे पडिबुज्झमाणे, भवणपंतिसहस्साइं समइच्छमाणे समइच्छमाणे चंपाए नयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयराइसेसे पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठवेइ, ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता अवहट्टु पंच रायकउहाइं, तं जहा—खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणाओ बालवीयणिं, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ। तं जहा—१ सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाए, २ अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणयाए, ३ एगसाडियं उत्तरासंगकरणेणं, ४ चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं, ५ मणसो एगत्तीभावकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, वंदित्ता नमंसइ, नमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जुवासइ, तं जहा—काइयाए, वाइयाए, माणसियाए। काइयाए—ताव संकुइयग्गहत्थपाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ। वाइयाए—'जं जं भगवं वागरेइ एवमेयं भंते! तहमेयं भंते! अवितहमेयं भंते! असंदिद्धमेयं भंते! इच्छियमेयं भंते! पडिच्छियमेयं भंते! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते! से जहेयं तुब्भे वदह', अपडिकूलमाणे पज्जुवासइ। माणसियाए-महयासंवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्ते पज्जुवासइ।

५४—भंभसार के पुत्र राजा कूणिक का सहस्रों नर-नारी अपने नेत्रों से बार-बार दर्शन कर रहे थे। सहस्रों नर-नारी हृदय से उसका बार-बार अभिनन्दन कर रहे थे। सहस्रों नर-नारी अपने शुभ मनोरथ—हम इनकी सन्निधि में रह पाएँ, इत्यादि उत्सुकतापूर्ण मनःकामनाएं लिये हुए थे। सहस्रों नर-नारी उसका बार-बार अभिस्तवन—गुणसंकीर्तन कर रहे थे। सहस्रों नर-नारी उसकी

कान्ति—देहदीप्ति, उत्तम सौभाग्य आदि गुणों के कारण—ये स्वामी हमें सदा प्राप्त रहें, बार-बार ऐसी अभिलाषा करते थे।

नर-नारियों द्वारा अपने हजारों हाथों से उपस्थापित अंजलिमाला—प्रणामांजलियों को अपना दाहिना हाथ ऊंचा उठाकर बार-बार स्वीकार करता हुआ, अत्यन्त कोमल वाणी से उनका कुशल पूछता हुआ, घरों की हजारों पंक्तियों को लांघता हुआ राजा कूणिक चम्पा नगरी के बीच से निकला। निकल कर, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आया। आकर भगवान् के न अधिक दूर न अधिक निकट—समुचित स्थान पर रुका। तीर्थंकरों के छत्र आदि अतिशयों को देखा। देख कर अपनी सवारी के प्रमुख उत्तम हाथी को ठहराया, हाथी से नीचे उतरा, उतर कर तलवार, छत्र, मुकुट, चंवर—इन राज चिह्नों को अलग किया, जूते उतारे। भगवान् महावीर जहाँ थे, वहाँ आया। आकर, सचित्त—सजीव पदार्थों का व्युत्सर्जन—अलग करना, अचित्त—अजीव पदार्थों का अव्युत्सर्जन—अलग न करना, अखण्ड—अनसिले वस्त्र का उत्तरासंग—उत्तरीय की तरह कन्धे पर डालकर धारण करना, धर्म-नायक पर दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना, मन को एकाग्र करना—इन पाँच नियमों के अनुपालनपूर्वक राजा कूणिक भगवान् के सम्मुख गया। भगवान् को तीन बार आदक्षिण—प्रदक्षिणा कर वन्दना की, नमस्कार किया। वन्दना, नमस्कार कर कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से पर्युपासना की। कायिक पर्युपासना के रूप में हाथों-पैरों को संकुचित किये हुए—सिकोड़े हुए, शुश्रूषा—सुनने की इच्छा करते हुए, नमन करते हुए भगवान् की ओर मुँह किये, विनय से हाथ जोड़े हुए स्थित रहा। वाचिक पर्युपासना के रूप में—जो-जो भगवान् बोलते थे, उसके लिए "यह ऐसा ही है भन्ते ! यही तथ्य है भगवन् ! यही सत्य है प्रभो ! यही सन्देह-रहित है स्वामी ! यही इच्छित है भन्ते ! यही प्रतीच्छित—स्वीकृत है, प्रभो ! यही इच्छित-प्रतीच्छित है भन्ते ! जैसा आप कह रहे हैं।" इस प्रकार अनुकूल वचन बोलता रहा। मानसिक पर्युपासना के रूप में अपने में अत्यन्त संवेग—मुमुक्षु भाव उत्पन्न करता हुआ तीव्र धर्मानुराग से अनुरक्त रहा।

रानियों का सपरिजन आगमन, वन्दन

५५—तए णं ताओ सुभद्दप्पमुहाओ देवीओ अंतोअंतेउरंसि ण्हायाओ जाव (कयबलिकम्माओ कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ताओ), सव्वालंकारविभूसियाओ बहूहिं खुज्जाहिं चिलाईहिं वामणीहिं वडभीहिं, बब्बरीहिं बउसियाहिं जोणियाहिं पल्हवियाहिं ईसिणियाहिं चारुणियाहिं लासियाहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमिलीहिं आरबीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरीहिं पारसीहिं णाणादेसीहिं विदेसपरिमंडियाहिं इंगियचिंतियपत्थियवियाणियाहिं, सदेसणेवत्थग्गहियवेसाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकंचुइज्जमहत्तरवंदपरिक्खित्ताओ अंतेउराओ णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पाडियक्कजाणाइं, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पाडियक्कपाडियक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं दुरूहंति, दुरूहित्ता णियगपरियालसद्धिं संपरिवुडाओ चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादीए तित्थयराइसेसे पासंति, पासित्ता पाडियक्कपाडियक्काइं जाणाइं ठवेंति, ठवित्ता जाणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिक्खित्ताओ जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छन्ति। तं जहा—१ सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाए, २ अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणयाए, ३ विणओ-

णयाए गायलट्ठीए, ४ चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं, ५ मणसो एगत्तीभावकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता, णमंसित्ता कूणियरायं पुरओकट्टु ठिइयाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएणं पंजलिउडाओ पज्जुवासंति ।।

५५—तत्पश्चात् सुभद्रा आदि रानियों ने अन्तःपुर में स्नान किया, नित्य-नैमित्तिक कार्य किये। कौतुक—देह-सज्जा की दृष्टि से आँखों में काजल आंजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दुःस्वप्नादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत, आदि से मंगल-विधान किया। वे सभी अलंकारों से विभूषित हुईं।

फिर बहुत सी देश-विदेश की दासियों, जिनमें से अनेक कुबड़ी थीं; अनेक किरात देश की, थीं, अनेक बौनी थीं, अनेक ऐसी थीं, जिनकी कमर झुकी थीं, अनेक बर्बर देश की, बकुश देश की, यूनान देश की, पह्लव देश की, इसिन देश की, चारुकिनिक देश की, लासक देश की, लकुश देश की, सिंहल देश की, द्रविड़ देश की, अरब देश की, पुलिन्द देश की, पक्कण देश की, बहल देश की, मुरुंड देश की, शबर देश की, पारस देश की—यों विभिन्न देशों की थीं जो स्वदेशी—अपने-अपने देश की वेशभूषा से सज्जित थीं, जो चिन्तित और अभिलषित भाव को संकेत या चेष्टा मात्र से समझ लेने में विज्ञ थीं, अपने अपने देश के रीति-रिवाज के अनुरूप जिन्होंने वस्त्र आदि धारण कर रखे थे, ऐसी दासियों के समूह से घिरी हुई, वर्षधरों—नपुंसकों कंचुकियों—अन्तःपुर (जनानी ड्योढ़ी) के पहरेदारों—तथा अन्तःपुर के प्रामाणिक रक्षाधिकारियों से घिरी हुई बाहर निकलीं।

अन्तःपुर से निकल कर सुभद्रा आदि रानियाँ, जहाँ उनके लिए अलग-अलग रथ खड़े थे, वहाँ आईं। वहाँ आकर अपने लिए अलग-अलग अवस्थित यात्राभिमुख—गमनोद्यत, जुते हुए रथों पर सवार हुईं। सवार होकर अपने परिजन वर्ग—दासियों आदि से घिरी हुई चम्पा नगरी के बीच से निकलीं। निकलकर जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आईं। आकर श्रमण भगवान् महावीर के न अधिक दूर, न अधिक निकट—समुचित स्थान पर ठहरीं। तीर्थंकरों के छत्र आदि अतिशयों को देखा। देखकर अपने अपने रथों को रुकवाया। रुकवाकर वे रथों से नीचे उतरीं। नीचे उतरकर अपनी बहुत-सी कुब्जा आदि पूर्वोक्त दासियों से घिरी हुई बाहर निकलीं। जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आईं। आकर भगवान् के निकट जाने हेतु पाँच प्रकार के अभिगमन—नियम जैसे सचित्त—सजीव पदार्थों का व्युत्सर्जन, करना, अचित्त—अजीव पदार्थों का अव्युत्सर्जन, गात्रयष्टि—देह को विनय से नम्र करना—झुकाना, भगवान् पर दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना तथा मन को एकाग्र करना—धारण किये। फिर उन्होंने तीन बार भगवान् महावीर को आदक्षिण-प्रदक्षिणा दी। वैसा कर वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर वे अपने पति महाराज कूणिक को आगे कर अपने परिजनों सहित भगवान् के सम्मुख विनयपूर्वक हाथ जोड़े पर्युपासना करने लगीं।

भगवान् द्वारा धर्म-देशना

५६—एत णं समणे भगवं महावीरे कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स सुभद्दापमुहाणं देवीणं तीसे य महतिमहालियाए परिसाए इसिपरिसाए, मुणिपरिसाए, जइपरिसाए, देवपरिसाए, अणेगसयाए, अणेगसयवंदाए, अणेगसयवंदपरिवाराए, ओहबले, अइबले, महब्बले, अपरिमियबलवीरियतेयमाहप्प-कंतिजुत्ते, सारय-णवत्थणिय-महुर-गंभीर-कोंचणिग्घोस-दुंदुभिस्सरे, उरे वित्थडाए कंठे वट्टियाए सिरे

मार्गदर्शक : आचार्यश्री विजय सुशील सूरीश्वरजी

सव्वाइणाए अणरलाए अमम्मणाए दुरुत्तक्खरसण्णिवाइयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्मं परिकहेइ। तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्मं आइक्खइ, सावि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।

तं जहा—अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा, अजीवा, बंधे, मोक्खे, पुण्णे, पावे, आसवे, संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरिहंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरगा, णेरइया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा, देवलोया, सिद्धि, सिद्धा, परिणिव्वाणे परिणिव्वुया।

अत्थि, १ पाणाइवाए, २ मुसावाए, ३ अदिण्णादाणे, ४ मेहुणे, ५ परिग्गहे; अत्थि ६ कोहे, ७ माणे, ८ माया, ९ लोभे, अत्थि जाव (१० पेज्जे, ११ दोसे, १२ कलहे, १३ अब्भक्खाणे, १४ पेसुण्णे, १५ परपरिवाए, १६ अरइरई, १७ मायामोसे,) १८ मिच्छादंसणसल्ले।

अत्थि पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिण्णादाणवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिग्गहवेरमणे जाव (कोहवेरमणे, माणवेरमणे, मायावेरमणे, लोभवेरमणे, पेज्जवेरमणे, दोसवेरमणे, कलहवेरमणे, अब्भक्खाणवेरमणे, पेसुण्णवेरमणे, परपरिवायवेरमणे, अरइरइवेरमणे मायामोसवेरमणे) मिच्छादंसणसल्लविवेगे।

सव्वं अत्थिभावं अत्थित्ति वयइ, सव्वं णत्थिभावं णत्थित्ति वयइ, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए।

धम्ममाइक्खइ—इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलिए, संसुद्धे, पडिपुण्णे, णेयाउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, णिव्वाणमग्गे, णिज्जाणमग्गे, अवितहमविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे। इहट्ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

एकच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महड्ढिएसु जाव (महज्जुइएसु, महब्बलेसु, महायसेसु,) महासुक्खेसु दूरंगइएसु चिरट्ठिइएसु। ते णं तत्थ देवा भवंति महिड्ढिया जाव महज्जुइया, महब्बला, महायसा, महासुखा) चिरट्ठिइया, हारविराइयवच्छा जाव (कडयतुडियथंभियभुया, अंगयकुंडलगंडयलकण्णपीढधारी, विचित्तहत्थाभरणा दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं, दिव्वाए इड्ढीए, दिव्वाए जुईए, दिव्वाए पभाए, दिव्वाए छायाए, दिव्वाए अच्चीए, दिव्वेणं तेएणं, दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा,) पभासेमाणा, कप्पोवगा, गतिकल्लाणा, आगमेसिभद्दा जाव (चित्तमाणंदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाण—) पडिरूवा।

तमाइक्खइ एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति, णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति तं जहा—१ महारंभयाए, २ महापरिग्गहयाए, ३ पंचिंदियवहेणं, ४ कुणिमाहारेणं, एवं एएणं अभिलावेणं। तिरिक्खजोणिएसु—१ माइल्लयाए णियडिल्लयाए, २ अलियवयणेणं, ३ उक्कंचणयाए, ४ वंचणयाए। मणुस्सेसु—१ पगइभद्दयाए, २ पगइविणीययाए, ३ साणुक्कोसयाए, ४ अमच्छरिययाए। देवेसु—१ सरागसंजमेणं, २ संजमासंजमेणं, ३ अकामणिज्जराए, ४ बालतवोकम्मेणं तमाइक्खइ—

जह णरगा गम्मंती जे णरगा जा य वेयणा णरए ।
सारीरमाणुसाइं दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥१॥
माणुस्सं च अणिच्चं वाहि-जरा-मरण-वेयणापउरं ।
देवे य देवलोए देविड्ढि देवसोक्खाइं ॥२॥
णरगं तिरिक्खजोणिं माणुसभावं च देवलोगं च ।
सिद्धे अ सिद्धवसहिं छज्जीवणियं परिकहेइ ॥३॥
जह जीवा बज्झंती मुच्चंती जह य संकिलिस्संति ।
जह दुक्खाणं अंतं करेंति केई अपडिबद्धा ॥४॥
अट्टा अट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति ।
जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥५॥
जह रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

५६—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने भंभसारपुत्र राजा कूणिक, सुभद्रा आदि रानियों तथा महती परिषद् को धर्मोपदेश किया। भगवान् महावीर की धर्मदेशना सुनने को उपस्थित परिषद् में ऋषि—द्रष्टा—अतिशय ज्ञानी साधु, मुनि—मौनी या वाक् संयमी साधु, यति—चारित्र के प्रति अति यत्नशील श्रमण, देवगण तथा सैकड़ों-सैकड़ों श्रोताओं के समूह उपस्थित थे।

ओघ बली—अव्यवच्छिन्न या एक समान रहने वाले बल के धारक, अतिबली—अत्यधिक बल सम्पन्न, महाबली—प्रशस्त बलयुक्त, अपरिमित—असीमवीर्य—आत्मशक्तिजनित बल, तेज महत्ता तथा कांतियुक्त, शरत् काल के नूतन मेघ के गर्जन, क्रौंच पक्षी के निर्घोष तथा नगाड़े की ध्वनि के समान मधुर गंभीर स्वर युक्त भगवान् महावीर ने हृदय में विस्तृत होती हुई, कंठ में अवस्थित होती हुई तथा मूर्धा में परिव्याप्त होती हुई सुविभक्त अक्षरों को लिए हुए--पृथक् स्व-स्व स्थानीय उच्चारण युक्त अक्षरों सहित, अस्पष्ट उच्चारणवर्जित या हकलाहट से रहित, सुव्यक्त अक्षर-सन्निपात—वर्ण-संयोग—वर्णों की व्यवस्थित शृंखला लिए हुए, पूर्णता तथा स्वर-माधुरी युक्त, श्रोताओं की सभी भाषाओं में परिणत होने वाली, एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर में, अर्द्धमागधी भाषा में धर्म का परिकथन किया। उपस्थित सभी आर्य-अनार्य जनों को अग्लान भाव से—बिना परिश्रान्त हुए धर्म का आख्यान किया। भगवान् द्वारा उद्गीर्ण अर्द्धमागधी भाषा उन सभी आर्यों और अनार्यों की भाषाओं में परिणत हो गई।

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी, वह इस प्रकार है—

लोक का अस्तित्व है, अलोक का अस्तित्व है। इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नैरयिक, तिर्यंचयोनि, तिर्यंचयोनिक जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण—कर्मजनित आवरण के क्षीण होने से आत्मिक स्वस्थता—परम शान्ति, परिनिर्वृत्त—परिनिर्वाणयुक्त व्यक्ति—इनका अस्तित्व है। प्राणातिपात—हिंसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—चोरी, मैथुन और परिग्रह हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, (प्रेम-अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वेष—अव्यक्त मान

व क्रोध जनित अप्रिय या अप्रीति रूप भाव, कलह—लड़ाई-भगड़ा, अभ्याख्यान—मिथ्यादोषारोपण, पैशुन्य—चुगली तथा पीठ पीछे किसी के होते-अनहोते दोषों का प्रकटीकरण, परपरिवाद—निन्दा, रति—मोहनीय-कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असंयम में सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप संयम में अरुचि रखना, मायामृषा—माया या छलपूर्वक झूठ बोलना) यावत् मिथ्यादर्शन शल्य है।

प्राणातिपातविरमण—हिंसा से विरत होना, मृषावादविरमण-असत्य से विरत होना, अदत्तादानविरमण—चोरी से विरत होना, मैथुनविरमण—मैथुन से विरत होना, परिग्रहविरमण—परिग्रह से विरत होना, क्रोध से विरत होना, मान से विरत होना, माया से विरत होना, लोभ से विरत होना प्रेम से विरत होना, द्वेष से विरत होना, कलह से विरत होना, अभ्याख्यान से विरत होना, पैशुन्य से विरत होना, पर-परिवाद से विरत होना, अरति-रति से विरत होना,) यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक—मिथ्या विश्वास रूप काँटे या यथार्थ ज्ञान होना, और त्यागना यह सब है—

सभी अस्तिभाव—अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से अस्तित्व को लिए हुए हैं। सभी नास्तिभाव—पर द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा से नहीं हैं—किन्तु वे भी अपने स्वरूप से हैं। सुचीर्ण—सुन्दर रूप में—प्रशस्तरूप में संपादित दान, शील तप आदि कर्म उत्तम फल देने वाले हैं तथा दुश्चीर्ण—अप्रशस्त—पापमय कर्म अशुभ—दुःखमय फल देने वाले हैं। जीव पुण्य तथा पाप का स्पर्श करता है, बन्ध करता है। जीव उत्पन्न होते हैं—संसारी जीवों का जन्म-मरण है। कल्याण—शुभ कर्म, पाप—अशुभ कर्म फल युक्त हैं, निष्फल नहीं होते।

प्रकारान्तर से भगवान् धर्म का आख्यान—प्रतिपादन करते हैं—यह निर्ग्रन्थप्रवचन, जिनशासन अथवा प्राणी की अन्तर्वर्ती ग्रन्थियों को छुड़ाने वाला आत्मानुशासनमय उपदेश सत्य है, अनुत्तर—सर्वोत्तम है, केवल-अद्वितीय है, अथवा केवली—सर्वज्ञ द्वारा भाषित है, संशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध, सर्वथा निर्दोष है, प्रतिपूर्ण—प्रवचन गुणों में सर्वथा परिपूर्ण हैं, नैयायिक—न्यायसंगत है—प्रमाण से अबाधित है तथा शल्य-कर्तन—माया आदि शल्यों—काँटों का निवारक है, यह सिद्धि या सिद्धावस्था प्राप्त करने का मार्ग—उपाय है, मुक्ति—कर्मरहित अवस्था या निर्लोभता का मार्ग—हेतु है, निर्वाण—सकल संताप रहित अवस्था प्राप्त कराने का पथ है, निर्याण—पुनः नहीं लौटाने वाले—जन्म-मरण के चक्र में नहीं गिराने वाले गमन का मार्ग है, अवितथ—सद्भूतार्थ—वास्तविक, अविसन्धि—पूर्वापरविरोध से रहित तथा सब दुःखों को प्रहीण—सर्वथा क्षीण करने का मार्ग है। इसमें स्थित जीव सिद्धि-सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं अथवा अणिमा आदि महती सिद्धियों को प्राप्त करते हैं, बुद्ध—ज्ञानी—केवल-ज्ञानी होते हैं, मुक्त-भवोपग्राही—जन्ममरण में लाने वाले कर्मांश से रहित हो जाते हैं, परिनिर्वृत होते हैं—कर्मकृत संताप से रहित—परमशान्तिमय हो जाते हैं तथा सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं। एकाच्चा—जिनके एक ही मनुष्य-भव धारण करना बाकी रहा है, ऐसे भदन्त—कल्याणान्वित अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन के भक्त पूर्व कर्मों के बाकी रहने से किन्हीं देवलोकों में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे देवलोक महर्द्धिक—विपुल ऋद्धियों से परिपूर्ण, (अत्यन्त द्युति, बल तथा यशोमय,) अत्यन्त सुखमय दूरंगतिक—दूर गति से युक्त एवं चिरस्थितिक—लम्बी स्थिति वाले होते हैं।

वहाँ देवरूप में उत्पन्न वे जीव अत्यन्त ऋद्धिसम्पन्न (अत्यन्त द्युतिसम्पन्न, अत्यन्त बलसम्पन्न, अत्यन्त यशस्वी, अत्यन्त सुखी) तथा चिरस्थितिक—दीर्घ आयुष्ययुक्त होते हैं। उनके वक्षःस्थल हारों

से सुशोभित होते हैं। (वे कटक, त्रुटित, अंगद, कुण्डल, कर्णाभरण आदि अलंकार धारण किये रहते हैं। वे अपने दिव्य संघात, दिव्य संस्थान, दिव्य ऋद्धि, दिव्य द्युति, दिव्य प्रभा, दिव्य कान्ति, दिव्य आभा, दिव्य तेज तथा दिव्य लेश्या द्वारा दशों दिशाओं को उद्योतित करते हैं, प्रभासित करते हैं।) वे कल्पोपग देवलोक में देव-शय्या से युवा रूप में उत्पन्न होते हैं। वे वर्तमान में उत्तम देवगति के धारक तथा भविष्य में भद्र—कल्याण या निर्वाण रूप अवस्था को प्राप्त करने वाले होते हैं। (वे आनन्द, प्रीति, परम सौमनस्य तथा हर्षयुक्त होते हैं) असाधारण रूपवान् होते हैं।

भगवान् ने आगे कहा—जीव चार स्थानों—कारणों से—नैरयिक—नरक योनि का आयुष्य-बन्ध करते हैं, फलतः वे विभिन्न नरकों में उत्पन्न होते हैं।

वे स्थान या कारण इस प्रकार हैं—१. महाआरम्भ—घोर हिंसा के भाव व कर्म, २. महापरिग्रह—अत्यधिक संग्रह के भाव व वैसा आचरण, ३. पंचेन्द्रिय-वध—मनुष्य, तिर्यंच—पशु पक्षी आदि पाँच इन्द्रियों वाले प्राणियों का हनन तथा ४. मांस-भक्षण।

इन कारणों से जीव तिर्यंच-योनि में उत्पन्न होते हैं—१. मायापूर्ण निकृति—छलपूर्ण जालसाजी, २. अलीक वचन—असत्य भाषण, ३. उत्कंचनता—झूठी प्रशंसा या खुशामद अथवा किसी मूर्ख व्यक्ति को ठगने वाले धूर्त का समीपवर्ती विचक्षण पुरुष के संकोच से कुछ देर के लिए निश्चेष्ट रहना या अपनी धूर्तता को छिपाए रखना, ४. वंचनता—प्रतारणा या ठगी।

इन कारणों से जीव मनुष्य-योनि में उत्पन्न होते हैं—

१. प्रकृति-भद्रता—स्वाभाविक भद्रता—भलापन, जिससे किसी को भीति या हानि की आशंका न हो, २. प्रकृति-विनीतता—स्वाभाविक विनम्रता, ३. सानुक्रोशता—सदयता, करुणाशीलता तथा ४. अमत्सरता—ईर्ष्या का अभाव।

इन कारणों से जीव देवयोनि में उत्पन्न होते हैं—

१. सरागसंयम—राग या आसक्तियुक्त चारित्र, २. संयमासंयम—देशविरति—श्रावकधर्म, ३. अकाम-निर्जरा—मोक्ष की अभिलाषा के बिना या विवशतावश कष्ट सहना, ४. बाल-तप—मिथ्यात्वी या अज्ञानयुक्त अवस्था में तपस्या।

तत्पश्चात् भगवान् ने बतलाया—जो नरक में जाते हैं, वे वहाँ नैरयिकों जैसी वेदना पाते हैं। तिर्यंच योनि में गये हुए वहाँ होने वाले शारीरिक और मानसिक दुःख प्राप्त करते हैं। मनुष्य-जीवन अनित्य है। उसमें व्याधि, वृद्धावस्था, मृत्यु और वेदना आदि प्रचुर कष्ट हैं। देवलोक में देव दैवी ऋद्धि और दैवी सुख प्राप्त करते हैं।

भगवान् ने सिद्ध, सिद्धावस्था एवं छह जीवनिकाय का विवेचन किया। जैसे—जीव बंधते हैं—कर्म-बन्ध करते हैं, मुक्त होते हैं, परिक्लेश पाते हैं। कई अप्रतिबद्ध—अनासक्त व्यक्ति दुःखों का अन्त करते हैं, पीड़ा वेदना व आकुलतापूर्ण चित्तयुक्त जीव दुःख-सागर को प्राप्त करते हैं, वैराग्य प्राप्त जीव कर्म-दल को ध्वस्त करते हैं, रागपूर्वक किये गये कर्मों का फलविपाक पापपूर्ण होता है, कर्मों से सर्वथा रहित होकर जीव सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं—यह सब (भगवान् ने) आख्यात किया।

५७—तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ । तं जहा—अगारधम्मं (च) अणगारधम्मं च । अणगार-धम्मो ताव—इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइयस्स सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावाय-अदिण्णादाण-मेहुण-परिग्गह-राईभोयणाओ वेरमणं । अयमाउसो ! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति ।

अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—१ पंच अणुव्वयाइं, २ तिण्णि गुणव्वयाइं, ३ चत्तारि सिक्खावयाइं । पंच अणुव्वयाइं तं जहा—१ थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, २ थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, ३ थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, ४ सदारसंतोसे, ५ इच्छापरिमाणे । तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा—६ अणत्थदंडवेरमणं, ७ दिसिव्वयं, ८ उवभोगपरिभोगपरिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—९ सामाइयं, १० देसावयासियं, ११ पोसहोववासे, १२ अतिहिसंविभागे, अपच्छिमा मारणंतिया संलेहणाझूसणाराहणा । अयमाउसो ! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते । एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ ।

५७—आगे भगवान् ने बतलाया—धर्म दो प्रकार का है—अगार-धर्म और अनगार धर्म । अनगार-धर्म में साधक सर्वतः सर्वात्मना—सम्पूर्ण रूप में, सर्वात्मभाव से सावद्य कार्यों का परित्याग करता हुआ मुंडित होकर, गृहवास से अनगार दशा—मुनि-अवस्था में प्रव्रजित होता है । वह सम्पूर्णतः प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत होता है ।

भगवान् ने कहा—आयुष्मान् ! यह अनगारों के लिए समाचरणीय धर्म कहा गया है । इस धर्म की शिक्षा—अभ्यास या आचरण में उपस्थित—प्रयत्नशील रहते हुए निर्ग्रन्थ—साधु या निर्ग्रन्थी साध्वी आज्ञा (अर्हत्-देशना) के आराधक होते हैं ।

भगवान् ने अगारधर्म १२ प्रकार का बतलाया—५ अणुव्रत ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत । ५ अणुव्रत इस प्रकार हैं—१. स्थूल प्राणातिपात—त्रस जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा से निवृत्त होना, २. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना, ३. स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना, ४. स्वदार-सन्तोष—अपनी परिणीता पत्नी तक मैथुन की सीमा, ५. इच्छा—परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण ।

३. गुणव्रत इस प्रकार हैं—१. अनर्थदण्ड—विरमण—आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुण-घातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग, २. दिग्व्रत—विभिन्न दिशाओं में जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या सीमाकरण, ३. उपभोग-परिभोग-परिमाण—उपभोग—जिन्हें अनेक बार भोगा जा सके ऐसी वस्तुएं—जैसे वस्त्र आदि तथा परिभोग—उन्हें एक ही बार भोगा जा सके—जैसे भोजन आदि—इनका परिमाण—सीमाकरण । ४ शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं—१. सामायिक—समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय (न्यूनतम एक मुहूर्त—४८ मिनट) में किया जाने वाला अभ्यास, २. देशावकाशिक—नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियों में निवृत्ति-भाव की वृद्धि का अभ्यास ३. पोषधोप-वास—अध्यात्म-साधना में अग्रसर होने हेतु यथाविधि आहार, अब्रह्मचर्य आदि का त्याग तथा ४. अतिथि-संविभाग—जिनके आने की कोई तिथि नहीं, ऐसे अनिमंत्रित संयमी साधकों को साधर्मिक बन्धुओं को संयमोपयोगी एवं जीवनोपयोगी अपनी अधिकृत सामग्री का एक भाग आदरपूर्वक देना, सदा मन में ऐसी भावना बनाए रखना कि ऐसा अवसर प्राप्त हो ।

तितिक्षापूर्वक अन्तिम मरण रूप संलेखणा—तपश्चरण, आमरण, अनशन की आराधनापूर्वक देहत्याग श्रावक की इस जीवन की साधना का पर्यवसान है, जिसकी एक गृही साधक भावना लिए रहता है।

भगवान् ने कहा—आयुष्मान्! यह गृही साधकों का आचरणीय धर्म है। इस धर्म के अनुसरण में प्रयत्नशील होते हुए श्रमणोपासक-श्रावक या श्रमणोपासिका—श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं।

परिषद्-विसर्जन

५८—तए णं सा महतिमहालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियया उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइया मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, अत्थेगइया पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवण्णा।

५८—तब वह विशाल मनुष्य-परिषद् श्रमण भगवान् महावीर से धर्म सुनकर, हृदय में धारण कर, हृष्ट-तुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न हुई, चित्त में आनन्द एवं प्रीति का अनुभव किया, अत्यन्त सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हर्षातिरेक से विकसित-हृदय होकर उठी। उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा, वंदन-नमस्कार किया, वंदन-नमस्कार कर उनमें से कई गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर मुंडित होकर, अनगार या श्रमण के रूप में प्रव्रजित—दीक्षित हुए। कइयों ने पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहि-धर्म—श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

५९—अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—"सुअक्खाए ते भंते! निग्गंथे पावयणे एवं सुपण्णत्ते, सुभासिए, सुविणीए, सुभाविए, अणुत्तरे ते भंते! निग्गंथे पावयणे, धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह, उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह, वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह, णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा, जे एरिसं धम्ममाइक्खित्तए, किमंग पुण एत्तो उत्तरसरं?" एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया, तामेव दिसं पडिगया।

५९—शेष परिषद् ने श्रमण भगवान् महावीर को वंदन किया, नमस्कार किया, वंदन-नमस्कार कर कहा—"भगवन्! आप द्वारा सुआख्यात—सुन्दर रूप में कहा गया, सुप्रज्ञप्त—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभाषित—हृदयस्पर्शी भाषा में प्रतिपादित किया गया, सुविनीत—शिष्यों में सुष्ठु रूप में विनियोजित—अन्तेवासियों द्वारा सहजरूप में अंगीकृत, सुभावित—प्रशस्त भावों से युक्त निर्ग्रन्थ-प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम-क्रोध आदि के निरोध का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक—बाह्य ग्रन्थियों के त्याग को समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विवेचना की। दूसरा कोई श्रमण

१. देखें सूत्र-संख्या १८

या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहाँ ?" यों कहकर वह परिषद् जिस दिशा से आई थी, उसी ओर लौट गई।

६०—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—"सुयक्खाए ते भंते ! निग्गंथे पावयणे जाव (धम्मं णं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह, उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह, वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह, णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे एरिसं धम्ममाइक्खित्तए,) किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं ?" एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए, तामेव दिसं पडिगए।

६०—तत्पश्चात् भंभसार का पुत्र राजा कूणिक श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हृष्ट, तुष्ट हुआ, मन में आनन्दित हुआ। अपने स्थान से उठा। उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की। वैसा कर वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर, वह बोला—"भगवन् ! आप द्वारा सुआख्यात—सुन्दर रूप में कहा गया, सुप्रज्ञप्त—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभाषित—हृदयस्पर्शी भाषा में प्रतिपादित किया गया, सुविनीत—शिष्यों में सुष्ठु रूप में विनियोजित—अन्तेवासियों द्वारा सहज रूप में अंगीकृत, सुभावित—प्रशस्त भावों से युक्त निर्ग्रन्थ प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। (आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम—क्रोध आदि के निरोध का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक—बाह्य ग्रन्थियों के त्याग को समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विवेचना की। दूसरा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके)। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहाँ ?"

यों कहकर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में लौट गया।

६१—तए णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा, णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[2] हिययाओ उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, करेत्ता वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—"सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे जाव[3] किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं ?" एवं वंदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूयाओ, तामेव दिसिं पडिगयाओ।

६१—सुभद्रा आदि रानियाँ श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर हृष्ट, तुष्ट हुईं, मन में आनन्दित हुई। अपने स्थान से उठीं। उठकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण-

---

१. देखें सूत्र-संख्या १८
२. देखें सूत्र-संख्या १८
३. देखें सूत्र-संख्या ६०

प्रदक्षिणा की। वैसा कर भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर वे बोलीं—"निर्ग्रन्थ प्रवचन सुआख्यात है·····सर्वश्रेष्ठ है·····इत्यादि पूर्ववत्।"

यों कह कर वे जिस दिशा से आई थीं, उसी दिशा की ओर चली गईं।

इन्द्रभूति गौतम की जिज्ञासा

६२—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं सत्तुस्सेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वइरिसहणारायसंघयणे, कणगपुलगणिघस-पम्हगोरे, उग्गतवे, दित्ततवे, तत्ततवे, महातवे, घोरतवे, उराले, घोरे, घोरगुणे, घोरतवस्सी, घोरबंभचेरवासी, उच्छूढसरीरे, संखित्तविउलतेउलेस्से समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू, अहोसिरे, झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणं विहरइ।

६२—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार, जिनकी देह की ऊँचाई सात हाथी थी, जो समचतुरस्र-संस्थान संस्थित थे—देह के चारों अंशों की सुसंगत, अंगों के परस्पर समानुपाती, सन्तुलित और समन्वित रचनामय शरीर के धारक थे, जो वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन—सुदृढ अस्थि-बन्धयुक्त विशिष्ट-देह-रचनायुक्त थे, कसौटी पर खचित स्वर्ण-रेखा की आभा लिए हुए कमल के समान जो गौर वर्ण थे, जो उग्र तपस्वी थे, दीप्त तपस्वी—कर्मों को भस्मसात् करने में अग्नि के समान प्रदीप्त तप करने वाले थे, तप्त तपस्वी—जिनकी देह पर तपश्चर्या की तीव्र झलक व्याप्त थी, जो कठोर एवं विपुल तप करने वाले थे, जो उराल—प्रबल साधना में अशक्त घोरगुण—परम उत्तम—जिनको धारण करने में अद्भुत शक्ति चाहिए—ऐसे गुणों के धारक, घोर तपस्वी—प्रबल तपस्वी, घोर ब्रह्मचर्यवासी—कठोर ब्रह्मचर्य के पालक, उत्क्षिप्तशरीर—दैहिक सार-संभाल या सजावट से रहित थे, जो विशाल तेजोलेश्या अपने शरीर के भीतर समेटे हुए थे, भगवान् महावीर से न अधिक दूर न अधिक समीप—समुचित स्थान पर संस्थित हो, घुटने ऊँचे किये, मस्तक नीचे किये, ध्यान की मुद्रा में, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए अवस्थित थे।

६३—तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले, उप्पण्णसड्ढे उप्पण्णसंसए उप्पण्णकोऊहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पण्णसड्ढे समुप्पण्णसंसए समुप्पण्ण-कोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं, पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे, णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

६३—तब उन भगवान् गौतम के मन में श्रद्धापूर्वक इच्छा पैदा हुई, संशय—अनिर्धारित अर्थ में शंका—जिज्ञासा एवं कुतूहल पैदा हुआ। पुनः उनके मन में श्रद्धा का भाव उमड़ा, संशय उभरा, कुतूहल समुत्पन्न हुआ। वे उठे, उठकर जहाँ भगवान् महावीर थे, आए। आकर भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वन्दना-नमस्कार किया। वैसा कर भगवान् के न अधिक समीप न अधिक दूर शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़े हुए, उनकी पर्युपासना-अभ्यर्थना करते हुए बोले—

पापकर्म का बन्ध

६४—जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते पावकम्मं अण्हाइ ?

हंता अण्हाइ ।

६४—भगवन् ! वह जीव, जो असंयत है—जिसने संयम की आराधना नहीं की, जो अविरत है—हिंसा आदि से विरत नहीं है, जिसने प्रत्याख्यान द्वारा पाप-कर्मों को प्रतिहत नहीं किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापों का त्याग नहीं किया, हल्का नहीं किया, जो सक्रिय—कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं से युक्त है—क्रियाएँ करता है, जो असंवृत है—संवर रहित है—जिसने इन्द्रियों का संवरण या निरोध नहीं किया, जो एकान्तदंड युक्त है—जो अपने को तथा औरों को पाप-कर्म द्वारा एकान्ततः—सर्वथा दण्डित करता है, जो एकान्तबाल है—सर्वथा मिथ्या दृष्टि—अज्ञानी है, जो एकान्तसुप्त है—मिथ्यात्व की निद्रा में बिलकुल सोया हुआ है, क्या वह पाप-कर्म से लिप्त होता है—पाप-कर्म का बंध करता है ?

हाँ, गौतम ! करता है ।

६५—जीवे णं भंते ! असंजए जाव (अविरए, अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे एगंतबाले) एगंतसुत्ते मोहणिज्जं पावकम्म अण्हाइ ?

हंता अण्हाइ ।

६५—भगवन् ! वह जीव, जो असंयत है—जिसने संयम की आराधना नहीं की, जो अविरत है—हिंसा आदि से विरत नहीं है, जिससे प्रत्याख्यान द्वारा पाप कर्मों को प्रतिहत नहीं किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापों का त्याग नहीं किया, हलका नहीं किया, जो सक्रिय—कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं से युक्त है—क्रियाएँ करता है, जो असंवृत है—संवर रहित है—जिसने इन्द्रियों का संवरण या निरोध नहीं किया, जो एकान्तदंडयुक्त है—जो अपने को तथा औरों को पाप कर्म द्वारा एकान्ततः—सर्वथा दण्डित करता है, जो एकान्त-बाल है—सर्वदा मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी है, जो एकान्त-सुप्त है—मिथ्यात्व की निद्रा में बिलकुल सोया हुआ है, क्या वह मोहनीय पाप-कर्म से लिप्त होता है—मोहनीय पाप-कर्म का बंध करता है ?

हाँ गौतम ! करता है ।

६६—जीवे णं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे किं मोहणिज्जं कम्मं बंधइ ? वेयणिज्जं कम्मं बंधइ ?

गोयमा ! मोहणिज्जं पि कम्मं बंधइ, वेयणिज्जं पि कम्मं बंधइ, णण्णत्थ चरिममोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे वेयणिज्जं कम्मं बंधइ, णो मोहणिज्जं कम्मं बंधइ ।

६६—भगवन् ! क्या जीव मोहनीय कर्म का वेदन—अनुभव करता हुआ मोहनीय कर्म का बंध करता है ? क्या वेदनीय कर्म का बंध करता है ?

गौतम ! वह मोहनीय कर्म का बंध करता है, वेदनीय कर्म का भी बंध करता है। किन्तु (सूक्ष्मसंपराय नामक दशम गुणस्थान में) चरम मोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ जीव वेदनीय कर्म का ही बंध करता है, मोहनीय का नहीं।

एकान्तबाल : एकान्त सुप्त का उपपात

६७—जीवे णं भंते ! असंजए, अविरए, अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते, ओसण्णतसपाणघाई कालमासे कालं किच्चा णेरइएसु उववज्जति ?

हंता उववज्जति।

६७—भगवन् ! जो जीव असंयत—संयमरहित है, अविरत है, जिसने सम्यक्त्वपूर्वक पाप-कर्मों को प्रतिहत नहीं किया है—हलका नहीं किया है, नहीं मिटाया है, जो सक्रिय है—(मिथ्यात्वयुक्त) कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं में संलग्न है, असंवृत है—संवररहित है—अशुभ का निरोध नहीं किये हुए है, एकान्त दण्ड है—पापपूर्ण प्रवृत्तियों द्वारा अपने को तथा औरों को सर्वथा दण्डित करता है, एकान्तबाल है—सर्वथा मिथ्यादृष्टि है तथा एकान्तसुप्त-मिथ्यात्व की प्रगाढ निद्रा में सोया हुआ है; त्रस-द्वीन्द्रिय आदि स्पन्दनशील, हिलने डुलनेवाले अथवा जिन्हें त्रास का वेदन करते हुए अनुभव किया जा सके, वैसे जीवों का प्रायः—बहुलतया घात करता है—त्रस प्राणियों की हिंसा में लगा रहता है, क्या वह मृत्यु-काल आने पर मरकर नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

हाँ, गौतम ऐसा होता है।

६८—जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इओ चुए पेच्च देवे सिया ?

गोयमा ! अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया।

६८—भगवन् जिन्होंने संयम नहीं साधा, जो अविरत हैं—हिंसा, असत्य आदि से विरत नहीं हैं, जिन्होंने प्रत्याख्यान द्वारा पाप-कर्मों को प्रतिहत नहीं किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापों का त्याग कर उन्हें नहीं मिटाया, वे यहाँ से च्युत होकर—मृत्यु प्राप्त कर आगे के जन्म में क्या देव होते है ? क्या देवयोनि में जन्म लेते हैं ?

गौतम ! कई देव होते हैं, कई देव नहीं होते हैं।

६९—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए, अकामछुहाए, अकामबंभचेरवासेणं, अकामअण्हाणग-सीयायव-दंसमसग-सेय-जल्ल-मल्ल-पंकपरितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

तेसिं णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गोयमा ! दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता ।

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी इ वा, जुई इ वा, जसे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा ?

हंता अत्थि ।

ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।।

६९—भगवन् ! आप किस अभिप्राय से ऐसा कहते हैं कि कई देव होते हैं, कई देव नहीं होते ?

गौतम ! जो जीव मोक्ष की अभिलाषा के बिना या कर्म-क्षय के लक्ष्य के बिना ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्पत्तिस्थान, नगर—जिनमें कर नहीं लगता हो ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटों से युक्त गाँव, कर्वट—अति साधारण कस्बे, द्रोणमुख—जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से युक्त स्थान, मडंब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बड़े नगर, जहाँ या तो जल मार्ग से या स्थल मार्ग से जाना सम्भव हो, आश्रम—तापसों के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, संवाह-पर्वत की तलहटी में बसे गाँव, सन्निवेश झोंपड़ियों से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान में तृषा—प्यास, क्षुधा—भूख, ब्रह्मचर्य, अस्नान, शीत, आतप, डांस—मच्छर, स्वेद—पसीना, जल्ल—रज, मल्ल—मैल, जो सूखकर कठोर बन गया हो, पंक—मैल जो पसीने से गीला बना हो—इन परितापों से अपने आपको थोड़ा या अधिक क्लेश देते हैं, कुछ समय तक अपने आप को क्लेशित कर मृत्यु का समय आने पर देह का त्यागकर वे वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी लोक में देव के रूप में पैदा होते हैं । वहाँ उनकी अपनी विशेष गति, स्थिति तथा उपपात होता है ।

भगवन् ! वहाँ उन देवों की स्थिति—आयु कितने समय की बतलाई गई है ?

गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति दश हजार वर्ष की बतलायी गयी है ।

भगवन् ! क्या उन देवों की ऋद्धि—समृद्धि, परिवार आदि सम्पत्ति, द्युति—कांति, यश—कीर्ति, बल—शरीर-निष्पन्न शक्ति, वीर्य—जीव-निष्पन्न प्राणमयी शक्ति, पुरुषाकार—पुरुषाभिमान, पौरुष की अनुभूति या पुरुषार्थ तथा पराक्रम—ये सब अपनी अपनी विशेषता के साथ होते हैं ?

हाँ, गौतम ऐसा होता है ।

भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराधक होते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता ।

क्लिशित-उपपात

७०—से जे इमे गामागरणयरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंबाहसण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अंडबद्धगा, णिअलबद्धगा, हडिबद्धगा, चारगबद्धगा, हत्थच्छिण्णगा, पायच्छिण्णगा, कण्णच्छिण्णगा, नक्कच्छिण्णगा, ओट्ठच्छिण्णगा, जिब्भच्छिण्णगा, सीसच्छिण्णगा, मुखच्छिण्णगा,

मज्झच्छिण्णगा, वइकच्छच्छिण्णगा, हियउप्पाडियगा, णयणुप्पाडियगा, दसणुप्पाडियगा, वसणुप्पाडियगा, गेवच्छिण्णगा, तंडुलच्छिण्णगा, कागणिमंसक्खाडियगा, ओलंबियगा, लंबियगा, घंसियगा, घोलियगा, फालियगा, पीलियगा, सूलाइयगा, सूलभिण्णगा, खारवत्तिया, वज्झवत्तिया, सीहपुच्छियगा, दवग्गिदड्ढगा, पंकोसण्णगा, पंके खुत्तगा, वलयमयगा, वसट्टमयगा, णियाणमयगा, अंतोसल्लमयगा, गिरिपडियगा, तरुपडियगा, मरुपडियगा, गिरिपक्खंदोलगा, तरुपक्खंदोलगा, मरुपक्खंदोलगा, जलपवेसिगा, जलणपवेसिगा, विसभक्खियगा, सत्थोवाडियगा, वेहाणसिया, गिद्धपिट्ठगा, कंतारमयगा, दुब्भिक्खमयगा, असंकिलिट्ठपरिणामा ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते ।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

गोयमा ! बारसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता !

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी इ वा, जुई इ वा, जसे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरिक्कमे इ वा ?

हंता अत्थि ।

ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।।

७०—जो (ये) जीव ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्पत्ति-स्थान, नगर,—जिनमें कर नहीं लगता हो, ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटों से युक्त गाँव, कर्बट—अति साधारण कस्बे, द्रोणमुख—जल-मार्ग तथा स्थल मार्ग से युक्त स्थान, मडंब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बड़े नगर, जहाँ या तो जल मार्ग से या स्थल मार्ग से जाना सम्भव हो, आश्रम—तापसों के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, संवाह—पर्वत की तलहटी में बसे गाँव, सन्निवेश—झोंपड़ियों से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान में मनुष्य होते हैं—मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं, जिनके किसी अपराध के कारण काठ या लोहे के बंधन से हाथ पैर बाँध दिये जाते हैं, जो बेड़ियों से जकड़ दिये जाते हैं, जिनके पैर काठ के खोड़े में डाल दिये जाते हैं, जो कारागार में बन्द कर दिये जाते हैं, जिनके हाथ काट दिये जाते हैं, जिनके पैर काट दिये जाते हैं, कान काट दिये जाते हैं, नाक काट दिये जाते हैं, होठ छेद दिये जाते हैं, जिह्वाएँ काट दी जाती हैं, मस्तक छेद दिये जाते हैं, मुँह छेद दिये जाते हैं, जिनके बायें कन्धे से लेकर दाहिनी काँख तक के देह-भाग मस्तक सहित विदीर्ण कर दिये जाते हैं, हृदय चीर दिये जाते हैं—कलेजे उखाड़ दिये जाते हैं, आँखें निकाल ली जाती हैं, दाँत तोड़ दिये जाते हैं, जिनके अण्डकोष उखाड़ दिये जाते हैं, गर्दन तोड़ दी जाती है, चावलों की तरह जिनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, जिनके शरीर का कोमल मांस उखाड़ कर जिन्हें खिलाया जाता है, जो रस्सी से बाँध कर कुए खड्डे आदि में लटका दिये जाते हैं, वृक्ष की शाखा में हाथ बाँध कर लटका दिये जाते हैं, चन्दन की तरह पत्थर आदि पर घिस दिये जाते हैं, पात्र-स्थित दही की तरह जो मथ दिये जाते हैं, काठ की तरह कुल्हाड़े से फाड़ दिये जाते हैं, जो गन्ने की तरह कोल्हू में पेल दिये जाते हैं, जो सूली में पिरो दिये जाते हैं, जो सूली से बींध दिये जाते हैं—जिनके देह से लेकर मस्तक में से सूली निकाल दी जाती है, जो खार के बर्तन

में डाल दिये जाते हैं, जो बर्द्ध—गीले चमड़े से बांध दिये जाते हैं, जिनकी जननेन्द्रिय काट दी जाती है, जो दवाग्नि में जल जाते हैं, कीचड़ में डूब जाते हैं, कीचड़ में फंस जाते हैं, संयम से भ्रष्ट होकर या भूख आदि से पीड़ित होकर—परिषहों से घबराकर मरते हैं, जो विषय-परतन्त्रता से पीड़ित या दुःखित होकर मरते हैं, जो सांसारिक इच्छा पूर्ति के संकल्प के साथ अज्ञानमय तपपूर्वक मरते हैं, जो अन्तःशल्य—भावशल्य—कलुषित भावों के कांटे को निकाले बिना या भाले आदि से अपने आपको बेधकर मरते हैं, जो पर्वत से गिरकर मरते हैं अथवा अपने पर बहुत बड़ा पत्थर गिराकर मरते हैं, जो वृक्ष से गिरकर मरते हैं, मरुस्थल या निर्जल प्रदेश में मर जाते हैं अथवा मरुस्थल के किसी स्थान से—बड़े टीले आदि से गिरकर मरते हैं, जो पर्वत से झंपापात कर—छलांग लगा कर मरते हैं, वृक्ष से छलांग लगा कर मरते हैं, मरुभूमि की बालू में गिरकर मरते हैं, जल में प्रवेश कर मरते हैं, अग्नि में प्रवेश कर मरते हैं, जहर खाकर मरते हैं, शस्त्रों से अपने आपको विदीर्ण कर मरते हैं, जो वृक्ष की डालो आदि से लटककर फांसी लगाकर मरते हैं, जो मरे हुए मनुष्य, हाथी, ऊँट, गधे आदि की देह में प्रविष्ट होकर गीधों की चोचों से विदारित होकर मरते हैं, जो जंगल में खोकर मर जाते हैं, दुर्भिक्ष में भूख, प्यास आदि से मर जाते हैं, यदि उनके परिणाम संक्लिष्ट—अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान युक्त न हों तो उस प्रकार मृत्यु प्राप्त कर वे वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उस लोक के अनुरूप उनकी गति, स्थिति तथा उत्पत्ति होती है, ऐसा बतलाया गया है।

भगवन् ! उन देवों की वहाँ कितनी स्थिति होती है ?

गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति बारह हजार वर्ष की होती है।

भगवन् ! उन देवों के वहाँ ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य तथा पुरुषकार-पराक्रम होता है या नहीं ?

गौतम ! होता है।

भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराधक होते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता—वे देव परलोक के आराधक नहीं होते।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पहले ऐसे लोगों की चर्चा है, जिन्हें अपराधवश, वैमनस्य या द्वेषवश किन्हीं द्वारा घोर कष्ट दिया जाता है, जिससे वे प्राण छोड़ देते हैं। यदि यों कष्टपूर्वक मरते समय उनके मन में तीव्र आर्त, रौद्र परिणाम नहीं आते तो उनका वान-व्यन्तर देवों में उत्पन्न होना बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि वे मिथ्यात्वी होते हैं, उन द्वारा कष्ट-सहन मोक्षाभिमुख या कर्मक्षयाभिमुख उच्च भाव से नहीं होता पर उनके परिणामों की इतनी-सी विशेषता रहती है, वे कष्ट सहते हुए आर्त, रौद्र भाव से अभिभूत नहीं होते, अविचल रहते हुए, अत्यन्त दृढ़ता से उन कष्टों को सहते हुए मर जाते हैं। अतएव उन द्वारा किया गया वह कष्ट-सहन अकाम-निर्जरा में आता है, जिसके फलस्वरूप वे देवयोनि प्राप्त करते हैं।

आगे ऐसे लोगों की चर्चा है, जो संयम से पतित हो जाने से या सांसारिक अभीप्साओं या भौतिक कामनाओं की पूर्ति न होने से इतने दुःखित, निराश तथा विषादग्रस्त हो जाते हैं कि जीवन का भार ढो पाना उन्हें अशक्य प्रतीत होता है। फलतः वे फाँसी लगाकर, पानी में डूबकर, पर्वत से

झंपापात कर, आग में कूदकर, जहर खाकर या ऐसे ही किसी अन्य प्रकार से प्राण त्याग देते हैं। यदि दुःख झेलते हुए, मरते हुए उनके परिणाम संक्लेशमय, तीव्र आर्त-रौद्र ध्यानमय नहीं होते, तो वे मरकर वानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यों प्राण-त्याग करना क्या आत्महत्या नहीं है ? आत्महत्या तो बहुत बड़ा पाप है, आत्मघाती देव कैसे होते हैं ? इत्यादि अनेक शंकाएं यहाँ खड़ी होती हैं।

बात सही है, 'आत्मघाती महापापी' के अनुसार आत्महत्या घोर पाप है, नरक का हेतु है पर यहाँ जो प्रसंग वर्णित है, वह आत्महत्या में नहीं जाता। क्योंकि वैसे मरने वालों की भावना होती है, वह सांसारिक दुःखों से छूट नहीं पा रहा है, उसकी कामनाएं पूर्ण नहीं हो रही हैं। उसका लक्ष्य सध नहीं पा रहा है। मरना ही उसके लिए शरण है। पर, वह मरते वक्त भयाक्रान्त नहीं होता, मन में आकुल तथा उद्विग्न नहीं होता। वह परिणामों में अत्यधिक दृढ़ता लिये रहता है। उसके भाव संक्लिष्ट नहीं होते। वह आर्त, रौद्र ध्यान में एकदम निमग्न नहीं होता। इस प्रकार उसके अकामनिर्जरा सध जाती है और वह देवयोनि प्राप्त कर लेता है।

जो आत्महत्या करता है, मरते समय वह अत्यन्त कलुषित, क्लिष्ट एवं दूषित परिणामों से ग्रस्त होता है। इसीलिए वह घोर पापी कहा जाता है। वास्तव में आत्महत्या करने वाले के अन्त समय के परिणामों की धारा बड़ी जघन्य तथा निम्न कोटि की होती है। वह घोर आर्त-रौद्र-भाव में निपतित हो जाता है। वह बहुत ही शोक-विह्वल हो जाता है, संभवतः यह सोचकर कि प्राण, जिनसे बढ़कर जगत् में कुछ भी नहीं है, जो सर्वाधिक प्रिय हैं, हाय ! उनसे वह वंचित हो रहा है। कितनी बड़ी भूल उससे हुई।

ऊपर स्वयं मृत्यु स्वीकार करने वाले जिन लोगों की चर्चा है, वे अन्त समय में मन में ऐसे परिणाम नहीं लाते।

भद्र प्रकृति जनों का उपपात

७१—से जे इमे गामागर जाव (णयरणिगमरायहाणिखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाह) संनिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—पगइभद्दगा, पगइउवसंता, पगइपतणुकोहमाणमायालोहा, मिउमद्दव-संपण्णा, अल्लीणा, विणीया, अम्मापिउसुस्सूसगा, अम्मापिईणं अणइक्कमणिज्जवयणा, अप्पिच्छा, अप्पारंभा, अप्परिग्गहा, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेणं समारंभेणं, अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणा बहूइं वासाइं आउयं पालेंति, पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु तं चेव सव्वं णवरं ठिई चउद्दसवाससहस्साइं।

७१—(वे) जो जीव ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, द्रोणमुख, मडंब, पत्तन आश्रम, निगम, संवाह, सन्निवेश में मनुष्यरूप में उत्पन्न होते हैं, जो प्रकृतिभद्र—सौम्य व्यवहारशील—परोपकारपरायण, शान्त, स्वभावतः क्रोध, मान, माया एवं लोभ की प्रतनुता—हलकापन लिये हुए—इनकी उग्रता से रहित, मृदु मार्दवसम्पन्न—अत्यन्त कोमल स्वभावयुक्त—अहंकार रहित, आलीन—गुरुजन के आश्रित—आज्ञापालक, विनीत—विनयशील, माता-पिता की सेवा करने वाले, माता-पिता के वचनों का अतिक्रमण—उल्लंघन नहीं करने वाले, अल्पेच्छा—बहुत कम इच्छाएँ, आवश्यकताएँ रखनेवाले, अल्पारंभ—अल्पहिंसायुक्त—कम से कम हिंसा करने वाले, अल्पपरिग्रह—धन, धान्य आदि परिग्रह के

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अल्प परिमाण से परितुष्ट, अल्पारंभ-अल्पसमारंभ—जीव-हिंसा एवं जीव-परितापन की न्यूनता द्वारा आजीविका चलानेवाले बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। अवशेष वर्णन पिछले सूत्र के सदृश है। केवल इतना अन्तर है—इनकी स्थिति आयुष्यपरिमाण चौदह हजार वर्ष का होता है।

परिक्लेशबाधित नारियों का उपपात

७२—से जाओ इमाओ गामागर जाव[1] संनिवेसेसु इत्थियाओ भवंति, तं जहा—अंतो अंतेउरियाओ, गयपइयाओ, मयपइयाओ, बालविहवाओ, छड्डियल्लियाओ, माइरक्खियाओ, पियरक्खियाओ, भायरक्खियाओ, कुलघररक्खियाओ, ससुरकुलरक्खियाओ, मित्तनाइनियगसंबंधिरक्खियाओ, परूढणहकेसकक्खरोमाओ, ववगयधूवपुप्फगंधमल्लालंकाराओ, अण्हाणगसेयजल्लमल्लपंकपरितावियाओ, ववगयखीर-दहि-णवणीय-सप्पि-तेल्ल-गुल-लोण-महु-मज्ज-मंस-परिचत्तकयाहाराओ, अप्पिच्छाओ, अप्पारंभाओ, अप्पपरिग्गहाओ, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेणं समारंभेणं, अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणीओ अकामबंभचेरवासेणं तामेव पइसेज्जं णाइक्कमंति, ताओ णं इत्थियाओ एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणीओ बहूइं वासाइं (आउयं पालेंति, पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए-उववत्तारीओ भवंति, तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसि णं भंते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा!) चउसट्ठिं वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

७२—(ये) जो ग्राम, सन्निवेश आदि में स्त्रियाँ होती हैं—स्त्रीरूप में उत्पन्न होती हों, जो अन्तःपुर के अन्दर निवास करती हों, जिनके पति परदेश गये हों, जिनके पति मर गये हों, जो बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई हों, जो पतियों द्वारा परित्यक्त कर दी गई हों, जो मातृरक्षिता हों--जिनका पालन-पोषण, संरक्षण माता द्वारा होता हो, जो पिता द्वारा रक्षित हों, जो भाइयों द्वारा रक्षित हों, जो कुलगृह—पीहर द्वारा—पीहर के अभिभावकों द्वारा रक्षित हों, जो श्वसुर-कुल द्वारा—श्वसुर-कुल के अभिभावकों द्वारा रक्षित हों, जो पति या पिता आदि के मित्रों, अपने हितैषियों माता, नाना आदि सम्बन्धियों, अपने सगोत्रीय देवर, जेठ आदि पारिवारिक जनों द्वारा रक्षित हों, विशेष परिष्कार-संस्कार के अभाव में जिनके नख, केश, कांख के बाल बढ़ गये हों, जो धूप (धूप, लोबान तथा सुरभित औषधियों द्वारा केश, देह आदि पर दिये जाने वाले, वासित किये जाने वाले धूएँ), पुष्प, सुगन्धित पदार्थ, मालाएँ धारण नहीं करती हों, जो अस्नान—स्नानभाव, स्वेद—पसीने, जल्ल—रज, मल्ल—सूखकर देह पर जमे हुए मैल, पंक—पसीने से मिलकर गीले हुए मैल से पारितापित—पीड़ित रहती हों, जो दूध दही मक्खन घृत तैल गुड़ नमक मधु मद्य और मांस रहित आहार करती हों, जिनकी इच्छाएं बहुत कम हों, जिनके धन, धान्य आदि परिग्रह बहुत कम हो, जो अल्प आरम्भ समारंभ—बहुत कम जीव-हिंसा, जीव-परितापन द्वारा अपनी जीविका चलाती हों, अकाम—मोक्ष की अभिलाषा या लक्ष्य के बिना जो ब्रह्मचर्य का पालन करती हों, पति-शय्या का अतिक्रमण नहीं करती हों—उपपति स्वीकार नहीं करती हों—इस प्रकार के आचरण द्वारा जीवनयापन करती हों, वे बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु काल आनेपर

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होती हैं। प्राप्त देव-लोक के अनुरूप उनकी गति, स्थिति तथा उत्पत्ति होती है। वहाँ उनकी स्थिति चौसठ हजार वर्षों की होती है।

द्विद्रव्यादिसेवी मनुष्यों का उपपात

७३—से जे इमे गामागर जाव[1] संनिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—दगबिइया, दगतइया, दगसत्तमा, दगएक्कारसमा, गोयम-गोव्वइय-गिहिधम्म-धम्मचिंतग-अविरुद्ध-विरुद्ध-वुड्ढ-सावगप्पभितयो, तेसि णं मणुयाणं णो कप्पंति इमाओ नवरसविगइओ आहारेत्तए, तं जहा—खीरं, दहिं, णवणीयं, सप्पि, तेल्लं, फाणियं, महुं, मज्जं, मंसं, णो अण्णत्थ एक्काए सरिसवविगइए। ते णं मणुया अप्पिच्छा तं चेव मव्वं सवरं चउरासीइं वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

७३—जो ग्राम तथा सन्निवेश आदि पूर्वोक्त स्थानों में मनुष्य रूप में उत्पन्न होते हैं, जो उदक द्वितीय—एक भात—खाद्य पदार्थ तथा दूसरा जल, इन दो पदार्थों का आहार रूप में सेवन करनेवाले, उदकतृतीय—भात आदि दो पदार्थ तथा तीसरे जल का सेवन करने वाले, उदकसप्तम—भात आदि छह पदार्थ तथा सातवें जल का सेवन करने वाले, उदकैकादश—भात आदि दश पदार्थ तथा ग्यारहवें जल का सेवन करने वाले, गोतम—विशेष रूप से प्रशिक्षित ठिगने बैल द्वारा विविध प्रकार के मनोरंजक प्रदर्शन प्रस्तुत कर भिक्षा मांगने वाले, गोव्रतिक—गो-सेवा का विशेष व्रत स्वीकार करने वाले, गृहधर्मी—गृहस्थधर्म—अतिथिसेवा दान आदि से सम्बद्ध गृहस्थ-धर्म को ही कल्याणकारी मानने वाले एवं उनका अनुसरण करने वाले, धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र के पाठक, सभासद् या कथा-वाचक, अविरुद्ध—वैनयिक—विनयाश्रित भक्तिमार्गी, विरुद्ध—अक्रियावादी—आत्मा आदि को अस्वीकार कर बाह्य तथा आभ्यन्तर दृष्टियों से क्रिया-विरोधी, वृद्ध—तापस, श्रावक—धर्मशास्त्र के श्रोता, ब्राह्मण आदि, जो दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड़, मधु, मद्य तथा मांस को अपने लिए अकल्प्य—अग्राह्य मानते हैं, सरसों के तैल के सिवाय इनमें से किसी का सेवन नहीं करते, जिनकी आकांक्षाएं बहुत कम होती हैं,.....—ऐसे मनुष्य पूर्व वर्णन के अनुरूप मरकर वानव्यन्तर देव होते हैं। वहाँ उनका आयुष्य ८४ हजार वर्ष का बतलाया गया है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ऐसे लोगों की चर्चा है, जो सम्यक्त्वी नहीं होते पर किन्हीं विशेष कठिन व्रतों का आचरण करते हैं, अपनी मान्यता के अनुसार अपनी विशेष साधना में लगे रहते हैं, जो कम से कम सुविधाएं और अनुकूलताएं स्वीकार करते हैं, कष्ट झेलते हैं, वे वानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा बतलाया गया है।

यहाँ आया हुआ गोव्रतिक शब्द विशेष रूप से विमर्शयोग्य है, वैदिक परम्परा में गाय को बहुत पूज्य माना गया है, उसे देव-स्वरूप कहा गया है। अतएव गो-उपासना का एक विशेष क्रम भारत में रहा है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के दूसरे सर्ग में इस सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया है। अयोध्याधिपति महाराज दिलीप के कोई सन्तान नहीं थी। उनके गुरु महर्षि वशिष्ठ ने कहा कि कामधेनु की बेटी नन्दिनी की सेवा से उन्हें पुत्र-प्राप्ति होगी। राजा

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

दिलीप ने सपत्नीक गुरु के आश्रम में रहते हुए, जहाँ नन्दिनी थी, उसकी बहुत सेवा की। उसको परम उपास्य देवता और आराध्य मानकर तन मन से उसकी सेवा में राजा और रानी जुट गये। महाकवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"नन्दिनी जब खड़ी होती, राजा खड़ा होता, जब वह चलती, राजा चलता, जब वह बैठती, राजा बैठता, जब वह पानी पीती, राजा पानी पीता। अधिक क्या, राजा काया की तरह नन्दिनी के पीछे-पीछे चलता।"[1]

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने भी प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में गोव्रत की विशेष रूप से चर्चा की है। उन्होंने लिखा है—

"गायों के गाँव से बाहर निकलने पर गोव्रतिक बाहर निकलते हैं। वे जब चलती हैं, वे चलते हैं अथवा वे जब चरती हैं—घास खाती हैं, वे भोजन करते हैं। वे जब पानी पीती हैं, वे पानी पीते हैं। वे आती हैं, तब वे आते हैं। वे सो जाती हैं, तब वे सोते हैं।"[2]

महाकवि कालीदास तथा आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा प्रकट किये गये भावों की तुलना करने पर दोनों की सन्निकटता स्पष्ट प्रतीत होती है।

जैसा प्रस्तुत सूत्र में संकेत है, विनयाश्रित भक्तिवादी उपासना की भी भारतवर्ष में एक विशिष्ट परम्परा रही है। इस परम्परा से सम्बद्ध उपासक हर किसी को विनतभाव से प्रणाम करना अपना धर्म समझते हैं। आज भी यत्र-तत्र व्रज आदि में कुछ ऐसे व्यक्ति दिखाई देते हैं, जो सभी को प्रणाम करने में तत्पर देखे जाते हैं।

वानप्रस्थों का उपपात

७४—से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा—होत्तिया, पोत्तिया, कोत्तिया, जण्णई, सड्ढई, थालई, हुंबउट्ठा, दंतुक्खलिया, उम्मज्जगा, सम्मज्जगा, निमज्जगा, संपक्खाला, दक्खिणकूलगा, उत्तरकूलगा, संखधमगा, कूलधमगा, मिगलुद्धगा, हत्थितावसा, उद्दंडगा, दिसापोक्खिणो, वाकवासिणो, बिलवासिणो, वेलंवासिणो, जलवासिणो, रुक्खमूलिया, अंबुभक्खिणो,

---

१. स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
निषेदुषीमासनबन्धधीरः,
जलाभिलाषी जलमाददानां,
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥
—रघुवंशमहाकाव्य २. ६

२. गोव्रतं येषामस्ति ते गोव्रतिकाः। ते हि गोषु ग्रामान्निर्गच्छन्तीषु निर्गच्छन्ति, चरन्तीषु चरन्ति, पिबन्तीसु पिबन्ति, आयान्तीष्वायान्ति, शयनासु च शेरेते इति, उक्तं च—
"गावीहि समं निग्गमपवेससयणासणाइ पकरेंति।
भुंजंति जहा गावी तिरिक्खवासं विहाविंता ॥"
—औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ८९, ९०

वाउभक्खिणो, सेवालभक्खिणो, मूलाहारा, कंदाहारा, तयाहारा, पत्ताहारा, पुप्फाहारा, बीयाहारा, परिसडियकंदमूलतयपत्तपुप्फलाहारा, जलाभिसेयकढिणगायभूया, आयावणाहि, पंचग्गितावेहि, इंगालसोल्लियं, कण्डुसोल्लियं, कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहूइं वासाइं परियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं परियागं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं ठिई।

आराहगा ?

णो इणट्ठे समट्ठे। सेसं तं चेव।

७४—गंगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापस कई प्रकार के होते हैं—जैसे—होतृक—अग्नि में हवन करने वाले, पोतृक—वस्त्र धारण करने वाले, कौतृक—पृथ्वी पर सोने वाले, यज्ञ करने वाले, श्राद्ध करने वाले, पात्र धारण करने वाले कुण्डी धारण करने वाले श्रमण, फल-भोजन करने वाले, उन्मज्जक—पानी में एक बार डुबकी लगाकर नहाने वाले, सम्मज्जक—बार-बार डुबकी लगाकर नहाने वाले, निमज्जक—पानी में कुछ देर तक डूबे रहकर स्नान करने वाले, संप्रक्षालक—मिट्टी आदि के द्वारा देह को रगड़कर स्नान करने वाले, दक्षिणकूलक—गंगा के दक्षिणी तट पर रहने वाले, उत्तरकूलक—गंगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले, शंखध्मायक—तट पर शंख बजाकर भोजन करने वाले, कूलध्मायक—तट पर खड़े होकर, शब्द कर भोजन करने वाले, मृगलुब्धक—व्याधों की तरह हिरणों का मांस खाकर जीवन चलाने वाले, हस्तितापस—हाथी का वध कर उसका मांस खाकर बहुत काल व्यतीत करने वाले, उद्दण्डक—दण्ड को ऊंचा किये घूमने वाले, दिशाप्रोक्षी—दिशाओं में जल छिड़ककर फल-फूल इकट्ठे करने वाले, वृक्ष की छाल को वस्त्र की तरह धारण करने वाले, बिलवासी—बिलों में—भूगर्भ गृहों में या गुफाओं में निवास करसे वाले, वेलवासी—समुद्रतट के समीप निवास करने वाले, जलवासी—पानी में निवास करने वाले, वृक्षमूलक—वृक्षों की जड़ में निवास करने वाले, अम्बुभक्षी—जल का आहार करने वाले, वायुभक्षी—वायु का ही आहार करने वाले, शैवालभक्षी—काई का आहार करने वाले, मूलाहार—मूल का आहार करने वाले, कन्दाहार—कन्द का आहार करने वाले, त्वचाहार—वृक्ष की छाल का आहार करने वाले, पत्राहार—वृक्ष के पत्तों का आहार करने वाले, पुष्पाहार—फूलों का आहार करने वाले, बीजाहार—बीजों का आहार करने वाले, अपने आप गिरे हुए, पृथक् हुए कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प तथा फल का आहार करने वाले, पंचाग्नि की आतापना से—अपने चारों ओर अग्नि जलाकर तथा पाँचवें सूर्य की आतापना से अपनी देह को अंगारों में पकी हुई-सी, भाड़ में भुनी हुई-सी बनाते हुए बहुत वर्षों तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन करते हैं। बहुत वर्षों तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन कर मृत्यु-काल आने पर देह त्याग कर वे उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में देव रूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उनकी स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम-प्रमाण होती है।

क्या वे परलोक के आराधक होते हैं ?

नहीं, ऐसा नहीं होता।

अवशेष वर्णन पूर्व की तरह जानना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त पल्योपम शब्द एक विशेष, अति दीर्घ काल का सूचक है। जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बड़ा कोठा है। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धार-पल्योपम, २. अद्धा-पल्योपम, ३. क्षेत्र-पल्योपम।

उद्धार-पल्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का बड़ा कोठा या कुआ हो, जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाएं, उनसे ठूंस-ठूंस कर उस कोठे या कुए को अच्छी तरह दबा-दबा कर भरा जाय। भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हें जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह बह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यों भरे हुए कुए में से एक-एक समय में एक-एक बाल-खंड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालों के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी संज्ञा उद्धार-पल्योपम है। यह संख्यात समय प्रमाण माना जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उद्धार-पल्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एवं व्यावहारिक। उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस प्रकार है—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम में कुए को भरने में यौगलिक शिशु के बालों के टुकड़ों की जो चर्चा आई है, उनमें से प्रत्येक टुकड़े के असंख्यात अदृश्य खंड किए जाएं। उन सूक्ष्म खंडों से पूर्ववर्णित कुआ ठूंस-ठूंस कर भरा जाय। वैसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खंड कुएं में से निकाला जाय। यों करते-करते जितने काल में वह कुआ, बिलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। इसमें संख्यात वर्ष-कोटि परिमाण-काल माना जाता है।

अद्धा-पल्योपम—अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है। आगम के प्रस्तुत प्रसंग में जो पल्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय इसी पल्योपम से है। इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के बालों के टुकड़ों से भरे हुए कुए में से सौ सौ वर्ष में एक एक टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ बिलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा-पल्योपम कहा जाता है। इसका परिमाण संख्यात वर्ष कोटि है।

अद्धा-पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। यहां जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पल्योपम का है। जिस प्रकार सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम में यौगलिक शिशु के बालों के टुकड़ों के असंख्यात अदृश्य खंड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहां भी वैसे ही असंख्यात अदृश्य केश-खंडों से वह कुआ भरा जाय। प्रति सौ वर्ष में एक खंड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म अद्धा-पल्योपम कोटि में आता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात वर्ष कोटि माना गया है।

क्षेत्र-पल्योपम—ऊपर जिस कूप या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, यौगलिक के बाल खंडों से उपर्युक्त रूप में दबा-दबा कर भर दिये जाने पर भी उन खंडों के बीच में आकाश प्रदेश—रिक्त स्थान रह जाते हैं। वे खंड चाहे कितने ही छोटे हों, आखिर वे रूपी या मूर्त हैं, आकाश अरूपी या अमूर्त है। स्थूल रूप में उन खंडों के बीच रहे आकाश-प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नहीं है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—कल्पना करें, अनाज के एक बहुत बड़े कोठे को कूष्मांडों-कुम्हड़ों से भरा दिया गया। सामान्यतः देखने में लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमें कोई स्थान खाली नहीं है, पर यदि उसमें नींबू भरे जाएं तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योंकि सटे हुए कुम्हड़ों के बीच में स्थान खाली जो है। यों नीबुओं से भरे जाने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नहीं। यदि उस कोठे में सरसों भरना चाहें तो वे भी समा जायेंगे। सरसों भरने पर भी सूक्ष्म रूप में और स्थान खाली रहता है। यदि नदी के रजःकण उसमें भरे जाएं, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनी हुई दीवाल में हमें कोई खाली स्थान प्रतीत नहीं होता पर, उसमें हम अनेक खूंटियां, कीलें गाड़ सकते हैं। यदि वास्तव में दीवाल में स्थान खाली नहीं होता तो यह कभी संभव नहीं था। दीवाल में स्थान खाली है, मोटे रूप में हमें मालूम नहीं पड़ता। अस्तु।

क्षेत्र-पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत यौगलिक के बालों के खंडों के बीच-बीच में जो आकाश-प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। यौगलिक के बालों के खंडों को संस्पृष्ट करने वाले आकाश-प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रति समय निकालने की कल्पना की जाय। यों निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिए जाएं, कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, उसे क्षेत्र-पल्योपम कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।

क्षेत्र-पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एवं सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्मक्षेत्र-पल्योपम इस प्रकार है—कुए में भरे यौगलिक के केश-खंडों से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशों में से एक-एक समय में एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ समग्र आकाश-प्रदेशों से रिक्त हो जाय वह काल परिमाण सूक्ष्म—क्षेत्र-पल्योपम है। इसका भी काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम से इसका काल असंख्यात गुना अधिक होता है।

प्रव्रजित श्रमणों का उपपात

७५—से जे इमे जाव[1] सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—कंदप्पिया, कुक्कुइया, मोहरिया, गीयरइप्पिया, नच्चणसीला, ते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणंति, बहूइं वालाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कंता कालमासे

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

कालं किच्चा उक्कोसेणं सोहम्मे कप्पे कंदप्पिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, सेसं तं चेव णवरं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं ठिई।

७५—(ये) जो ग्राम, सन्निवेश आदि में मनुष्य रूप में उत्पन्न होते हैं, प्रव्रजित होकर अनेक रूप में श्रमण होते हैं—

जैसे कान्दर्पिक—नानाविध हास-परिहास या हँसी-मजाक करने वाले, कौकुचिक—भौं, आँख, मुंह, हाथ पैर आदि से भांडों की तरह कुत्सित चेष्टाएं कर हंसाने वाले, मौखरिक—असम्बद्ध या ऊटपटांग बोलने वाले, गीतरतिप्रिय—गानयुक्त क्रीडा में विशेष अभिरुचिशील अथवा गीतप्रिय लोगों को चाहने वाले तथा नर्तनशील—नाचने की प्रकृति वाले, जो अपने-अपने जीवन-क्रम के अनुसार आचरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-जीवन का पालन करते हैं, पालन कर अन्त समय में अपने पाप-स्थानों का आलोचन-प्रतिक्रमण नहीं करते—गुरु के समक्ष आलोचना कर दोष-निवृत्त नहीं होते, वे मृत्युकाल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सौधर्म-कल्प में—प्रथम देवलोक में—हास्य-क्रीडा-प्रधान देवों में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उनकी गति आदि अपने पद के अनुरूप होती है। उनकी स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की होती है।

परिव्राजकों का उपपात

७६—से जे इमे जाव[1] सन्निवेसेसु परिव्वाया भवंति, तं जहा—संखा, जोगी, कविला, भिउव्वा, हंसा, परमहंसा, बहुउदगा, कुलिव्वया, कण्हपरिव्वाया। तत्थ खलु इमे अट्ठ माहण-परिव्वायगा भवंति। तं जहा—

कण्हे य करकंडे य अंबडे य परासरे।
कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए॥

तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तियपरिव्वाया भवंति, तं जहा—

सीलई ससिहारे(य), नग्गई भग्गई ति य।
विदेहे रायाराया, रामा रामे बलेति य॥

७६—जो ग्राम.....सन्निवेश आदि में अनेक प्रकार के परिव्राजक होते हैं, जैसे—सांख्य—पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएं, एकादश इन्द्रिय, पंचमहाभूत—इन पच्चीस[2] तत्त्वों में श्रद्धाशील, योगी—हठ योग के अनुष्ठाता, कापिल—महर्षि कपिल को अपनी परम्परा का आद्य प्रवर्तक मानने वाले, निरीश्वरवादी सांख्य मतानुयायी, भार्गव—भृगु ऋषि की परम्परा के अनुसर्ता, हंस, परमहंस, बहूदक तथा कुटीचर संज्ञक चार प्रकार के यति एवं कृष्ण परिव्राजक—नारायण में भक्तिशील विशिष्ट परिव्राजक आदि।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

२. पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे वसन्।
जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः॥ —सांख्यकारिका १. गौडपादभाष्य

उनमें आठ ब्राह्मण-परिव्राजक—ब्राह्मण जाति में दीक्षित परिव्राजक होते हैं, जो इस प्रकार हैं—१. कर्ण, २. करकण्ट, ३. अम्बड, ४. पाराशर, ५. कृष्ण, ६. द्वैपायन, ७. देवगुप्त तथा ८. नारद।

उनमें आठ क्षत्रिय-परिव्राजक—क्षत्रिय जाति में से दीक्षिप्त परिव्राजक होते हैं—१. शीलधी, २. शशिधर (शशिधारक), ३. नग्नक, ४. भग्नक, ५. विदेह, ६. राजराज, ७. राजराम तथा ८. बल।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में जिन विभिन्न परिव्राजकों का उल्लेख हुआ है, उससे प्रतीत होता है, उस समय साधना के क्षेत्र में अनेक प्रकार के धार्मिक आम्नाय प्रचलित थे, जिनका आगे चलकर प्रायः लोप-सा हो गया। अतएव यहाँ वर्णित परिव्राजकों के सम्बन्ध में भारतीय वाङ्मय में कोई विस्तृत या व्यवस्थित वर्णन प्राप्त नहीं होता। भारतीय धर्म-सम्प्रदायों के विकास, विस्तार तथा विलयक्रम पर शोध करने वाले अनुसन्धित्सु विद्वानों के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिस पर गहन अध्ययन तथा गवेषणा की आवश्यकता है।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने चार यति परिव्राजकों का वृत्ति में जो परिचय दिया है, उसके अनुसार हंस परिव्राजक उन्हें कहा जाता था, जो पर्वतों की कन्दराओं में, पर्वतीय मार्गों पर, आश्रमों में, देवकुलों—देवस्थानों में या उद्यानों में वास करते थे, केवल भिक्षा हेतु गांव में आते थे। परमहंस उन्हें कहा जाता था, जो नदियों के तटों पर, नदियों के संगम-स्थानों पर निवास करते थे, जो देह-त्याग के समय परिधेय वस्त्र, कौपीन (लंगोट), तथा कुश—डाभ के बिछौने का परित्याग कर देते थे, वैसा कर प्राण त्यागते थे। जो गाँव में एक रात तथा नगर में पाँच रात प्रवास करते थे, प्राप्त भोगों को स्वीकार करते थे, उन्हें बहूदक कहा जाता था। जो गृह में वास करते हुए क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का त्याग किये रहते थे, वे कुटीव्रत या कुटीचर कहे जाते थे।[1]

इस सूत्र में आठ प्रकार के ब्राह्मण-परिव्राजक तथा आठ प्रकार के क्षत्रिय-परिव्राजकों की दो गाथाओं में चर्चा की गई है। वृत्तिकार ने उनके सम्बन्ध में केवल इतना-सा संकेत किया—"कण्ड्वादयः षोडश परिव्राजका लोकतोऽवसेयाः"।[2]

अर्थात् इन सोलह परिव्राजकों के सम्बन्ध में लोक से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है, वृत्तिकार के समय तक ये परम्पराएँ लगभग लुप्त हो गई थीं। इनका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं था।

क्षत्रिय परिव्राजकों में एक शशिधर, या शशिधारक नाम आया है। नाम से प्रतीत होता है, ये कोई ऐसे परिव्राजक रहे हों, जो मस्तक पर चन्द्रमा का आकार या प्रतीक धारण करते हों। आज भी शैवों में 'जंगम' संज्ञक परम्परा के लोग प्राप्त होते हैं, जो अपने आराध्य देव शिव के अनुरूप अपने मस्तक पर सर्प के प्रतीक के साथ-साथ चन्द्र का प्रतीक भी धारण किये रहते हैं। कुछ इसी प्रकार की स्थिति शशिधरों के साथ रही हो। निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

---

१. औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ९२

२. औपपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ९२

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

७७—ते णं परिव्वाया रिउव्वेद-यजुव्वेद-सामवेद-अहव्वणवेद-इतिहासपंचमाणं, निघण्टु-छट्ठाणं, संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेदाणं सारगा पारगा धारगा, सडंगवी, सट्ठितंत्तविसारया, संखाणे, सिक्काकप्पे, वागरणे, छंदे, निरुत्ते, जोइसामयणे, अण्णेसु य बहूसु बंभण्णएसु य सत्थेसु परिव्वाएसु य नएसु सुपरिणिट्ठिया यावि होत्था।

७७—वे परिव्राजक ऋक्, यजु, साम, अथर्वण—इन चारों वेदों, पाँचवें इतिहास, छठे निघण्टु के अध्येता थे। उन्हें वेदों का सांगोपांग रहस्य बोधपूर्वक ज्ञान था। वे चारों वेदों के सारक—अध्यापन द्वारा सम्प्रवर्तक अथवा स्मारक—औरों को स्मरण कराने वाले, पारग—वेदों के पारगामी, धारक—उन्हें स्मृति में बनाये रखने में सक्षम तथा वेदों के छहों अंगों के ज्ञाता थे। वे षष्टितन्त्र—में विशारद या निपुण थे। संख्यान—गणित विद्या, शिक्षा—ध्वनि विज्ञान—वेद मन्त्रों के उच्चारण के विशिष्ट विज्ञान, कल्प—याज्ञिक कर्मकाण्डविधि, व्याकरण—शब्दशास्त्र, छन्द—पिंगलशास्त्र, निरुक्त—वैदिक शब्दों के निर्वचनात्मक या व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या-ग्रन्थ, ज्योतिष शास्त्र तथा अन्य ब्राह्मण्य—ब्राह्मणों के लिए हितावह शास्त्र अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थ—वैदिक कर्मकाण्ड के प्रमुख विषय में विद्वानों के विचारों के संकलनात्मक ग्रन्थ—इन सब में सुपरिनिष्ठित-सुपरिपक्व ज्ञानयुक्त होते हैं।

७८—ते णं परिव्वाया दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणा, पण्णवेमाणा, परूवेमाणा विहरंति। जं णं अम्हं किं चि असुई भवइ, तं णं उदएण य मट्टियाए य पक्खालियं सुई भवति। एवं खलु अम्हे चोक्खा, चोक्खायारा, सुई, सुइसमायारा भवित्ता अभिसेयजलपूयप्पाणो अविग्घेणं सग्गं गमिस्सामो।

७८—वे परिव्राजक दान-धर्म, शौच-धर्म, दैहिक शुद्धि एवं स्वच्छतामूलक आचार तीर्थाभिषेक—तीर्थस्थान का जनसमुदाय में आख्यान करते हुए—कथन करते हुए, प्रज्ञापन करते हुए—विशेष रूप से समझाते हुए, प्ररूपण करते हुए—युक्तिपूर्वक स्थापित या सिद्ध करते हुए विचरण करते हैं। उनका कथन है, हमारे मतानुसार जो कुछ भी अशुचि—अपवित्र प्रतीत हो जाता है, वह मिट्टी लगाकर जल से प्रक्षालित कर लेने पर—धो लेने पर पवित्र हो जाता है। इस प्रकार हम स्वच्छ—निर्मल देह एवं वेष युक्त तथा स्वच्छाचार—निर्मल आचार युक्त हैं, शुचि—पवित्र, शुच्याचार—पवित्राचार युक्त हैं, अभिषेक—स्नान द्वारा जल से अपने आपको पवित्र कर निर्विघ्नतया स्वर्ग जायेंगे।

७९—तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगडं व तलायं वा नइं वा वावि वा पुक्खरिणि वा दीहियं वा गुंजालियं वा सरं वा सागरं वा ओगाहित्तए, णण्णत्थ अद्धाणगमणेणं। णो कप्पइ सगडं वा जाव (रहं वा जाणं वा जुग्गं वा गिल्लि वा थिल्लि वा पवहणं वा सीयं वा) संदमाणियं वा दुरुहित्ता णं गच्छित्तए। तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणं वा महिसं वा खरं वा दुरुहित्ता णं गमित्तए, णण्णत्थ बलाभिओगेणं। तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ नडपेच्छा इ वा जाव (नट्टगप्पेच्छा इ वा, जल्लपेच्छा इ वा, मल्लपेच्छा इ वा, मुट्ठियपेच्छा इ वा, वेलंबयपेच्छा इ वा पवगपेच्छा इ वा, कहगपेच्छा इ वा, लासगपेच्छा इ वा, आइक्खगपेच्छा इ वा, लंखपेच्छा इ वा, मंखपेच्छा इ वा, तूणइल्लपेच्छा इ वा, तुंबवीणियपेच्छा इ वा, भुयगपेच्छा इ वा) मागहपेच्छा इ वा पेच्छित्तए। तेसि परिव्वायगाणं णो कप्पइ हरियाणं लेसणया वा, घट्टणया वा, थंभणया वा लूसणया

वा, उप्पाडणया वा करित्तए। तेसिं परिव्वायगाणं णो कप्पइ इत्थिकहा इ वा, भत्तकहा इ वा, देसकहा इ वा, रायकहा इ वा, चोरकहा इ वा, जणवयकहा इ वा, अणत्थदंडे करित्तए। तेसिं णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अयपायाणि वा, तउअपायाणि वा, तंबपायाणि वा, जसदपायाणि वा, सीसगपायाणि वा, रुप्पपायाणि वा, सुवण्णपायाणि वा, अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि धारित्तए, णण्णत्थ अलाउपाएण वा दारुपाएण वा मट्टियापाएण वा। तेसिं णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अयबंधणाणि वा जाव (तउअबंधणाणि वा, तंबबंधाणि वा, जसदबंधणाणि वा, सीसगबंधणाणि वा, रुप्पबंधणाणि वा, सुवण्णबंधणाणि वा अण्णयराणि वा)। बहुमुल्लाणि धारित्तए। तेसिं णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ हारं वा, अद्धहारं वा, एगावलिं वा, मुत्तावलिं वा, कणगावलिं वा, रयणावलिं वा, मुरविं वा, कंठमुरविं वा पालंबं वा, तिसरयं वा, कडिसुत्तं वा दसमुद्दिआणंतगं वा, कडयाणि वा, तुडियाणि वा, अंगयाणि वा, केऊराणि वा, कुंडलाणि वा, मउडं वा, चूलामणिं वा पिणद्धित्तए, णण्णत्थ एगेणं तंबिएणं पवित्तएणं। तेसिं णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमे चउव्विहे मल्ले धारित्तए, णण्णत्थ एगेणं कण्णपूरेणं। तेसिं णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ अगलुएण वा, चंदणेण वा, कुंकुमेण वा, गायं अणुलिंपित्तए, णण्णत्थ एक्काए गंगामट्टियाए।

७९—उन परिव्राजकों के लिए मार्ग में चलते समय के सिवाय अवट—कुए, तालाब, नदी, वापी—बावड़ी—चतुष्कोण जलाशय, पुष्करिणी—गोलाकार या कमलयुक्त बावड़ी, दीर्घिका—सारणी-क्यारी, विशाल सरोवर, गुंजालिका—वक्राकार बना तालाब तथा जलाशय में प्रवेश करना कल्प्य नहीं है अर्थात् वे मार्ग-गमन के सिवाय इनमें प्रवेश नहीं करते, ऐसा उनका व्रत है।

शकट—गाड़ी (रथ, यान, युग्य—पुरातनकालीन गोल्ल देश में सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे चौड़े डोली जैसे यान, गिल्लि—दो आदमियों द्वारा उठाई जाने वाली एक प्रकार की शिविका, थिल्लि—दो घोड़ों की बग्घी या दो खच्चरों से खींचा जाता यान, शिविका—पर्देदार पालखी) तथा स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखी पर चढ़कर जाना उन्हें नहीं कल्पता—उनके लिए यह वर्जित है।

उन परिव्राजकों को घोड़े, हाथी, ऊँट, बैल, भैंसे तथा गधे पर सवार होकर जाना—चलना नहीं कल्पता—वैसा करना उनके लिए वर्जित है। इसमें बलाभियोग का अपवाद है अर्थात् जबर्दस्ती कोई बैठा दे तो उनकी प्रतिज्ञा खण्डित नहीं होती।

उन परिव्राजकों को नटों—नाटक दिखाने वालों के नाटक, (नर्तकों—नाचने वालों के नाच, रस्सी आदि पर चढ़कर कलाबाजी दिखाने वालों के खेल, पहलवानों की कुश्तियां मौष्टिक या मुक्केबाजों के प्रदर्शन, मसखरों की मसखरियां, कथकों के कथालाप, उछलने या नदी आदि के तैरने का प्रदर्शन करने वालों के खेल, वीर रस की गाथाएं या रास गाने वालों के वीर गीत, शुभ अशुभ बातें बताने वालों के करिश्मे, बांस पर चढ़कर खेल दिखाने वालों के खेल, चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वालों की करतूतें, तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका कमाने वालों के करतब, पूंगी बजाने वालों के गीत, ताली बजाकर मनोविनोद करने वालों के विनोदपूर्ण उपक्रम) तथा स्तुति-गायकों के प्रशस्तिमूलक कार्य-कलाप आदि देखना, सुनना नहीं कल्पता।

उन परिव्राजकों के लिए हरी वनस्पति का स्पर्श करना, उन्हें परस्पर घिसना, हाथ आदि

द्वारा अवरुद्ध करना, शाखाओं, पत्तों आदि को ऊँचा करना या उन्हें मोड़ना, उखाड़ना कल्प्य नहीं है ऐसा करना उनके लिए निषिद्ध है।

उन परिव्राजकों के लिए स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा, राज-कथा, चोर-कथा, जनपद-कथा, जो अपने लिए एवं दूसरों के लिए हानिप्रद तथा निरर्थक है, करना कल्पनीय नहीं है।

आगमोदय समिति – आचार्य श्री सागरानंदसागर जी महाराज

उन परिव्राजकों के लिए तूंबे, काठ तथा मिट्टी के पात्र के सिवाय लोहे, रांगे, तांबे, जसद, शीशे, चांदी या सोने के पात्र या दूसरे बहुमूल्य धातुओं के पात्र धारण करना कल्प्य नहीं है।

उन परिव्राजकों को लोहे, (रांगे, तांबे, जसद, शीशे, चांदी और सोने) के या दूसरे बहुमूल्य बन्ध—इन से बंधे पात्र रखना कल्प्य नहीं है।

उन परिव्राजकों को एक धातु से—गेरू से रंगे हुए—गेरुए वस्त्रों के सिवाय तरह-तरह के रंगों से रंगे हुए वस्त्र धारण करना नहीं कल्पता।

उन परिव्राजकों को तांबे के एक पवित्रक—अंगुलीयक या अंगूठी के अतिरिक्त हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, मुखी—हार विशेष, कण्ठमुखी—कण्ठ का आभरण विशेष, प्रालम्ब—लंबी माला, त्रिसरक—तीन लड़ों का हार, कटिसूत्र—करधनी, दशमुद्रिकाएं, कटक—कड़े, त्रुटित—तोड़े, अंगद, केयूर—बाजूबन्द कुण्डल—कर्णभूषण, मुकुट तथा चूड़ामणि रत्नमय शिरोभूषण—शीर्षफूल धारण करना नहीं कल्पता।

उन परिव्राजिकों को फूलों से बने केवल एक कर्णपूर के सिवाय गूंथकर बनाई गई मालाएं, लपेट कर बनाई गई मालाएं, फूलों को परस्पर संयुक्त कर बनाई मालाएं या संहित कर परस्पर एक दूसरे में उलझा कर बनाई गई मालाएं—ये चार प्रकार की मालाएं धारण करना नहीं कल्पता।

उन परिव्राजकों को केवल गंगा की मिट्टी के अतिरिक्त अगर, चन्दन या केसर से शरीर को लिप्त करना नहीं कल्पता।

८०—तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए पत्थए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणे णो चेव णं अवहमाणे, से वि य थिमिओदए, णो चेव णं कद्दमोदए, से वि य बहुप्पसण्णे, णो चेव णं अबहुप्पसण्णे से वि य परिपूए, णो चेव अपरिपूए, से वि य णं दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे, से वि य पिबित्तए, णो चेव णं हत्थ-पाय-चरु चमस-पक्खालणट्ठाए सिणाइत्तए वा।

तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए आढए जलस्स परिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे, (से वि य थिमिओदए, णो चेव णं कद्दमोदए, से वि य बहुप्पसण्णे, णो चेव णं अबहुप्पसण्णे, से वि य परिपूए, णो चेव णं अपरिपूए, से वि य णं दिण्णे, णो चेव) णं अदिण्णे, से वि य हत्थ-पाय-चरु-चमस-पक्खालणट्ठयाए, णो चेव णं पिबित्तए सिणाइत्तए वा।

८०—उन परिव्राजकों के लिये मगध देश के तोल के अनुसार एक प्रस्थ जल लेना कल्पता है। वह भी बहता हुआ हो, एक जगह बंधा हुआ या बन्द नहीं अर्थात् बहता हुआ एक प्रस्थ-परिमाण जल उनके लिये कल्प्य है, तालाब आदि का बन्द जल नहीं। वह भी यदि स्वच्छ हो तभी ग्राह्य है, कीचड़युक्त हो तो ग्राह्य नहीं है। स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—साफ और निर्मल हो,

तभी ग्राह्य है अन्यथा नहीं। वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो उनके लिए कल्प्य है, अनछाना नहीं। वह भी यदि दिया गया हो—कोई दाता उन्हें दे, तभी ग्राह्य है, बिना दिया हुआ नहीं। वह भी केवल पीने के लिए ग्राह्य है, हाथ पैर, चरू—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुड़छी या चम्मच धोने के लिए या स्नान करने के लिए नहीं।

उन परिव्राजकों के लिए मागध तोल के अनुसार एक आढक जल लेना कल्पता है। वह भी बहता हुआ हो, एक जगह बंधा हुआ या बन्द नहीं अर्थात् बहती हुई नदी का एक आढक-परिमाण जल उनके जिए कल्प्य है, तालाब आदि का बन्द जल नहीं। (वह भी यदि स्वच्छ हो तभी ग्राह्य है, कीचड़युक्त हो तो ग्राह्य नहीं है। स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—बहुत साफ और निर्मल हो तभी ग्राह्य है अन्यथा नहीं। वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो उनके लिए कल्प्य है, अनछाना नहीं। वह भी यदि दिया गया हो—कोई दाता उन्हें दे, तभी ग्राह्य है, बिना दिया हुआ नहीं।) वह भी केवल हाथ, पैर, चरू—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुड़छी या चम्मच धोने के लिए ग्राह्य है, पीने के लिए या स्नान करने के लिए नहीं।

विवेचन—आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्राचीन माप-तोल के सम्बन्ध में चर्चाएँ हैं। प्राचीन काल में मागधमान तथा कलिंगमान—दो तरह के माप-तोल प्रचलित थे। मागधमान का अधिक प्रचलन और मान्यता थी। विशेष रूप मगध (दक्षिण बिहार) में प्रचलित होने के कारण यह मागधमान कहलाता था। शताब्दियों तक मगध प्रशासनिक दृष्टि से उत्तर भारत का मुख्य केन्द्र रहा। अतएव मागधमान का मगध के अतिरिक्त भारत के अन्यान्य प्रदेशों में भी प्रचलन हुआ। भावप्रकाश में मान के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा है।

वहाँ महर्षि चरक को आधार मानकर मागधमान का विवेचन करते हुए परमाणु से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मानों—परिमाणों की है। वहाँ बतलाया गया है—

"तीस परमाणुओं का एक त्रसरेणु होता है। उसे वंशी भी कहा जाता है। जाली में पड़ती हुई सूर्य की किरणों में जो छोटे-छोटे सूक्ष्म रजकण दिखाई देते हैं, उनमें प्रत्येक की संख्या त्रसरेणु या वंशी है। छह त्रसरेणु की एक मरीचि होती है। छह मरीचि की एक राजिका या राई होती है। तीन राई का एक सरसों, आठ सरसों का एक जौ, चार जौ कि एक रत्ती, छह रत्ती का एक मासा होता है। मासे के पर्यायवाची हेम और धानक भी हैं। चार मासे का एक शाण होता है, धरण और टंक इसके पर्यायवाची हैं। दो शाण का एक कोल होता है। उसे क्षुद्रक, वटक एवं द्रङ्क्षण भी कहा जाता है। दो कोल का एक कर्ष होता है। पाणिमानिक, अक्ष, पिचु, पाणितल, किंचित्पाणि, तिन्दुक, विडाल-पदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह तथा उदुम्बर इसके पर्यायवाची हैं। दो कर्ष का एक अर्धपल (आधा पल) होता है। उसे शुक्ति या अष्टमिक भी कहा जाता है। दो शुक्ति का एक पल होता है। मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुंच, षोडशी तथा बिल्व भी इसके नाम हैं। दो पल की एक प्रसृति होती है, उसे प्रसृत भी कहा जाता है। दो प्रसृतियों की एक अंजलि होती है। कुडव, अर्ध शरावक तथा अष्टमान भी उसे कहा जाता है। दो कुडव की एक मानिका होती है। उसे शराव तथा अष्टपल भी कहा जाता है। दो शराव का एक प्रस्थ होता है अर्थात् प्रस्थ में ६४ तोले होते हैं। पहले ६४ तोले का ही सेर माना जाता था, इसलिए प्रस्थ को सेर का पर्यायवाची माना जाता है। चार

प्रस्थ का एक आढक होता है, उसको भाजन, कांस्य-पात्र तथा चौसठ पल का होने से चतुः-षष्टिपल भी कहा जाता है।[1]

भावप्रकाश में आगे बताया गया है कि चार आढक का एक द्रोण होता है। उसको कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि भी कहा जाता है। दो द्रोण का एक शूर्प होता है, उसको कुंभ भी कहा जाता है तथा ६४ शराव का होने से चतुःषष्टि शरावक भी कहा जाता है।[2]

८१—ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति, बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई। दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, सेसं तं चेव।

८१—वे परिव्राजक इस प्रकार के आचार या चर्या द्वारा विचरण करते हुए, बहुत वर्षों तक परिव्राजक-पर्याय का—परिव्राजक-धर्म का पालन करते हैं। बहुत वर्षों तक वैसा कर मृत्युकाल आने पर देह त्याग कर उत्कृष्ट ब्रह्मलोक कल्प में देव रूप में उत्पन्न होते हैं। तदनुरूप उनकी गति और स्थिति होती है। उनकी स्थिति या आयुष्य दस सागरोपम कहा गया है। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

---

१. चरकस्य मतं वैद्यैराधेयस्मान्मतं ततः।
विहाय सर्वमानानि मागधं मानमुच्यते॥
त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः।
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना बंशी निगद्यते॥
जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्बंशी विलोक्यते।
षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिश्च राजिका॥
तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः।
यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्यात्तच्चतुष्टयम्॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधानकौ।
मार्षैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणः स निगद्यते॥
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते।
क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्क्षणः स निगद्यते॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुः प्रस्थस्तथाऽऽढकः।
भाजनं कांस्यपात्रं च चतुःषष्टिपलश्च सः॥
कोलद्वयन्तु कर्षः स्यात्स प्रोक्तः पाणिमानिका।
अक्षः पिचुः पाणितलं किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम्॥
विडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता।
करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः॥
उदुम्बरश्च पर्यायैः कर्षमेव निगद्यते।
स्यात्कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा॥
शुक्तिभ्याञ्च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका।
प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते॥
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यते।
प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोऽर्द्धशरावकः॥
अष्टमानश्च स ज्ञेयः कुडवाभ्याञ्च मानिका।
शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः॥

—भावप्रकाश, पूर्व खण्ड द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण—२-४

२. चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोऽर्मणः।
उन्मानञ्च घटो राशिद्रोणपर्यायसंज्ञितः॥
शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता।
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः॥

—भावप्रकाश, पूर्व खण्ड, द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण १५, १६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अम्बड़ परिव्राजक के सात सौ अन्तेवासी

८२—तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स सत्त अंतेवासिसयाइं गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलमासंमि गंगाए महानईए उभओकूलेणं कंपिल्लपुराओ णयराओ पुरिमतालं णयरं संपट्ठिया विहाराए।

८२—उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, एक बार जब ग्रीष्मऋतु का समय था, जेठ का महीना था, अम्बड़ परिव्राजक के सात सौ अन्तेवासी—शिष्य गंगा महानदी के दो किनारों से काम्पिल्यपुर नामक नगर से पुरिमताल नामक नगर को रवाना हुए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में काम्पिल्यपुर तथा पुरिमताल नामक दो नगरों का उल्लेख हुआ है।

काम्पिल्यपुर भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। महाभारत आदि पर्व (१३७.७३), उद्योग पर्व (१८९.१३, १९२.१४), शान्ति पर्व (१३९.५) में काम्पिल्य का उल्लेख आया है। आदिपर्व तथा उद्योग पर्व के अनुसार यह उस समय के दक्षिण पांचाल प्रदेश का नगर था। यह राजा द्रुपद की राजधानी था। द्रोपदी का स्वयंवर यहीं हुआ था।

नायाधम्मकहाओ (१६ वें अध्ययन) में भी पांचाल देश के राजा द्रुपद के यहाँ काम्पिल्यपुर में द्रौपदी के जन्म आदि का वर्णन है।

भगवान् महावीर के समय काम्पिल्यपुर अत्यन्त समृद्ध नगर था। भगवान् के देश प्रमुख उपासकों में से एक कुंडकौलिक वहीं का निवासी था, जिसका उपासकदशांग सूत्र के छठे अध्ययन में वर्णन है।

इस समय यह बदायूं और फर्रुखाबाद के बीच बूढ़ी गंगा के किनारे कम्पिल नामक ग्राम के रूप में विद्यमान है। यह नगर कभी जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र था।

८३—तए णं तेसिं परिव्वायगाणं तीसे अगामियाए, छिण्णावायाए, दीहमद्धाए अडवीए कंचि देसंतरमणुपत्ताणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे झीणे।

८३—वे परिव्राजक चलते-चलते एक ऐसे जंगल में पहुँच गये, जहाँ कोई गाँव नहीं था, न जहाँ व्यापारियों के काफिले, गोकुल—गायों के समूह, उनकी निगरानी करने वाले गोपालक आदि का ही आवागमन था, जिसके मार्ग बड़े विकट थे। वे जंगल का कुछ भाग पार कर पाये थे कि चलते समय अपने साथ लिया हुआ पानी पीते-पीते क्रमशः समाप्त हो गया।

८४— तए णं से परिव्वायगा झीणोदगा समाणा तण्हाए पारब्भमाणा उदगदातारमपस्समाणा अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—

८४—तब वे परिव्राजक, जिनके पास का पानी समाप्त हो चुका था, प्यास से व्याकुल हो गये। कोई पानी देने वाला दिखाई नहीं दिया। वे परस्पर एक दूसरे को संबोधित कर कहने लगे—

८५—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमीसे अगामियाए जाव (छिण्णोवायाए, दोहमद्धाए) अडवीए कंचि देसंतरमणुपत्ताणं से उदए जाव (अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे) झीणे। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे अगामियाए जाव[1] अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करित्तए" त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणित्ता इमीसे अगामियाए जाव[2] अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेंति, करित्ता उदगदातारमलभमाणा दोच्चंपि अण्णमण्णं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी—

८५—देवानुप्रियो ! हम ऐसे जंगल का, जिसमें कोई गाँव नहीं है, (जिसमें व्यापारियों के काफिले तथा गोकुल आदि का आवागमन नहीं है, जिसके रास्ते बड़े विकट हैं) कुछ ही भाग पार कर पाये कि हमारे पास जो पानी था, (पीते-पीते क्रमशः) समाप्त हो गया। अतः देवानुप्रियो ! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है, हम इस ग्रामरहित वन में सब दिशाओं में चारों ओर जलदाता की मार्गणा-गवेषणा—खोज करें।

उन्होंने परस्पर ऐसी चर्चा कर यह तय किया। ऐसा तय कर उन्होंने उस गाँव रहित जंगल में सब दिशाओं में चारों ओर जलदाता की खोज की। खोज करने पर भी कोई जलदाता नहीं मिला। फिर उन्होंने एक दूसरे को संबोधित कर कहा—

८६—"इह णं देवाणुप्पिया ! उदगदातारो णत्थि, तं णो खलु कप्पइ अम्हं अदिण्णं गिण्हित्तए, अदिण्णं साइज्जित्तए, तं मा णं अम्हे इयाणिं आवइकालं पि अदिण्णं गिण्हामो, अदिण्णं साइज्जामो, मा णं अम्हं तवलोवे भविस्सइ। तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! तिदंडयं कुंडियाओ य, कंचणियाओ य, करोडियाओ य, भिसियाओ य, छण्णालए य, अंकुसए य, केसरियाओ य, पवित्तए य, गणेत्तियाओ य, छत्तए य, वाहणाओ य, पाउयाओ य, धाउरत्ताओ एगंते एडित्ता गंगं महाणइं ओगाहित्ता वालुयासंथारए संथरित्ता संलेहणाझूसियाणं, भत्तपाणपडियाइक्खियाणं, पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए" त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणित्ता तिदंडए य जाव (कुंडियाओ य, कंचणियाओ य, करोडियाओ य, भिसियाओ य, छण्णालए य, अंकुसए य, केसरियाओ य, पवित्तए य, गणेत्तियाओ य, छत्तए य, वाहणाओ य, पाउयाओ य, धाउरत्ताओ य) एगंते एडेंति, एडित्ता गंगं महाणइं ओगाहेंति, ओगाहित्ता वालुयासंथारए संथरंति, संथरित्ता वालुयासंथारयं दुरुहंति, दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहा संपलियंकनिसण्णा करयल जाव[3] कट्टु एवं वयासी—

८६—देवानुप्रियो ! यहाँ कोई पानी देनेवाला नहीं है। अदत्त—बिना दिया हुआ लेना, सेवन करना हमारे लिए कल्प्य—ग्राह्य नहीं है। इसलिए हम इस समय आपत्तिकाल में भी अदत्त का ग्रहण न करें, सेवन न करें, जिससे हमारे तप—व्रत का लोप—भंग न हो। अतः हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि, हम त्रिदण्ड—तीन दंडों या वृक्ष-शाखाओं को एक साथ बाँधकर या मिलाकर बनाया गया एक दंड,

१. देखें सूत्र यही।
२. देखें सूत्र यही।
३. देखें सूत्र-संख्या ४७।

कुण्डिकाएँ-कमंडलु, काञ्चनिकाएँ—रुद्राक्ष-मालाएँ, करोटिकाएँ—मृत्तिका या मिट्टी के पात्र-विशेष, वृषिकाएँ—बैठने की पटड़ियां, षण्नालिकाएँ—त्रिकाष्ठिकाएँ, अंकुश—देव पूजा हेतु वृक्षों के पत्ते संचीर्ण, संगृहीत करने में उपयोग में लेने के अंकुश, केशरिकाएँ—प्रमार्जन के निमित्त—सफाई करने, पोंछने आदि के उपयोग में लेने योग्य वस्त्र खण्ड, पवित्रिकाएँ—तांबे की अंगूठिकाएँ, गणेत्रिकाएँ—हाथों में धारण करने की रुद्राक्ष-मालाएँ—सुमिरिनियाँ, छत्र—छाते, पैरों में धारण करने की पादुकाएँ, काठ की खड़ाऊएँ, धातुरक्त—गेरू से रंगी हुई—गेरुए रंग की शाटिकाएँ—धोतियाँ एकान्त में छोड़कर गंगा महानदी में (गंगा के बालुका भाग में) बालू का संस्तारक—बिछौना तैयार कर (गंगा महानदी को पार कर) संलेखनापूर्वक—देह और मन को तपोमय स्थिति में संलीन करते हुए—शरीर एवं कषायों को—विराधक संस्कारों एवं भावों को क्षीण करते हुए आहार-पानी का परित्याग कर, कटे हुए वृक्ष जैसी निश्चेष्टावस्था स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए संस्थित हों।

परस्पर एक दूसरे से ऐसा कह उन्होंने यह तय किया। ऐसा तय कर उन्होंने त्रिदण्ड आदि अपने उपकरण एकान्त में डाल दिये। वैसा कर महानदी गंगा में प्रवेश किया। फिर बालू का संस्तारक तैयार किया। संस्तारक तैयार कर वे उस पर आरूढ—अवस्थित हुए। अवस्थित होकर पूर्वाभिमुख हो पद्मासन में बैठे। बैठकर दोनों हाथ जोड़े और बोले—

८७—"नमोत्थु णं अरहंताणं जाव (भगवंताणं, आइगराणं, तित्थगराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं मग्गदयाणं, सरणदयाणं जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंत-चक्कवट्टीणं, दीवो, ताणं, सरणं, गई, पइट्ठा, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं वियट्टछउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिण्णाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्वण्णूणं, सव्वदरिसीणं, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तगं, सिद्धिगइणामधेज्जं, ठाणं) संपत्ताणं। नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव[1] संपाविउकामस्स, नमोत्थु णं अम्मडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स।

पुव्वि णं अम्हेहिं अम्मडस्स परिव्वायगस्स अंतिए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, मुसावाए अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणिं अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, एवं जाव (सव्वं मुसावायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्वं अदिण्णादाणं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्वं मेहुणं पच्चक्खामो जावज्जीवाए) सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्वं कोहं, माणं, मायं, लोहं, पेज्जं, दोसं, कलहं, अब्भक्खाणं, पेसुण्णं, परपरिवायं, अरइरइं, मायामोसं, मिच्छादंसणसल्लं, अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामो जावज्जीवाए, सव्वं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं—चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं इट्ठं, कंतं, पियं, मणुण्णं, मणामं, पेज्जं, थेज्जं, वेसासियं, संमयं, बहुमयं, अणुमयं, भंडकरंडगसमाणं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइयपित्तिय-

---

१. देखें सूत्र-संख्या २०

संनिवाइयविविहा रोगायंका, परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु एयंपि णं चरमेहिं ऊसासणीसासेहिं वोसिरामि" त्ति कट्टु संलेहणाझूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया पाओवगया कालं अणवकंखमाणा विहरंति।

८७—अर्हत्—इन्द्र आदि द्वारा पूजित अथवा कर्मशत्रुओं के नाशक, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्य सम्पन्न, आदिकर—अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थंकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ—धर्मसंघ के प्रवर्तक, स्वयंसंबुद्ध—स्वयं—बिना किसी अन्य निमित्त के बोध-प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुषसिंह—आत्मशौर्य में पुरुषों में सिंह-सदृश, पुरुषवरपुण्डरीक—सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने के कारण पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान अथवा मनुष्यों में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप, पुरुषवर-गन्धहस्ती—उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्धहस्ती के पहुँचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी क्षेत्र में जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते हैं, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, लोकोत्तम—लोक के सभी प्राणियों में उत्तम, लोकनाथ—लोक के सभी भव्य प्राणियों के स्वामी—उन्हें सम्यक् दर्शन सन्मार्ग प्राप्त कराकर उनका योग-क्षेम[1] साधने वाले, लोकहितकर—लोक का कल्याण करने वाले, लोकप्रदीप—ज्ञानरूपी दीपक द्वारा लोक का अज्ञान दूर करने वाले अथवा लोकप्रतीप—लोक-प्रवाह के प्रतिकूलगामी—अध्यात्मपथ पर गतिशील, लोकप्रद्योतकर—लोक, अलोक, जीव, अजीव आदि का स्वरूप प्रकाशित करने वाले अथवा लोक में धर्म का उद्योत फैलाने वाले, अभयदायक—सभी प्राणियों के लिए अभयप्रद—संपूर्णतः अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नहीं करने वाले, चक्षुदायक—आन्तरिक नेत्र या सद्ज्ञान देने वाले, मार्गदायक—सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-पथ के उद्बोधक, शरणदायक—जिज्ञासु, मुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनदायक—आध्यात्मिक जीवन के संबल, बोधिदायक—सम्यक् बोध देने वाले, धर्मदायक—सम्यक् चारित्ररूप धर्म के दाता, धर्मदेशक—धर्मदेशना देने वाले, धर्मनायक, धर्मसारथि—धर्मरूपी रथ के चालक, धर्मवर चातुरन्त-चक्रवर्ती—चार अन्त—सीमायुक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, दीप—दीपक सदृश समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा द्वीप—संसार-समुद्र में डूबते हुए जीवों के लिए द्वीप के समान बचाव के आधार, त्राण—कर्म-कदर्थित भव्य प्राणियों के रक्षक, शरण—आश्रय, गति एवं प्रतिष्ठा स्वरूप, प्रतिघात, बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तछद्मा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—संसार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—संसार-सागर से पार उतारने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य या जानने योग्य का बोध प्राप्त किए हुए, बोधक—औरों के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार में आगमन नहीं होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्था नामक स्थिति प्राप्त किये हुए—सिद्धों को नमस्कार हो।

भगवान् महावीर को, जो सिद्धावस्था प्राप्त करने के समुद्यत हैं, हमारा नमस्कार हो।

---

१. अप्राप्तस्य प्रापणं योगः—जो प्राप्त नहीं है, उसका प्राप्त होना योग कहा जाता है।
प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः—प्राप्त की रक्षा करना क्षेम है।

हमारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक अम्बड परिव्राजक को नमस्कार हो। पहले हमने अम्बड परिव्राजक के पास—उनके साक्ष्य से स्थूल प्राणातिपात—स्थूल हिंसा, मृषावाद—असत्य, चोरी, सब प्रकार के अब्रह्मचर्य तथा स्थूल परिग्रह का जीवन भर के लिए प्रत्याख्यान—त्याग किया था। इस समय भगवान् महावीर के साक्ष्य से हम सब प्रकार की हिंसा, सब प्रकार के असत्य, सब प्रकार की चोरी, सब प्रकार के अब्रह्मचर्य तथा सब प्रकार के परिग्रह का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

सब प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम—अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वेष—अव्यक्त मान व क्रोधजनित अप्रिय या अप्रीति रूप भाव, कलह—लड़ाई-झगड़ा, अभ्याख्यान—मिथ्या दोषारोपण, पैशुन्य—चुगली तथा पीठ पीछे किसी के होते—अनहोते दोषों का प्रकटीकरण, परपरिवाद—निन्दा, रति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असंयम में सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप संयम में अरुचि रखना, मायामृषा—माया या छलपूर्वक झूठ बोलना तथा मिथ्यादर्शन-शल्य—मिथ्या विश्वास रूप कांटे का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

अकरणीय योग—न करने योग्य मन, वचन तथा शरीर की प्रवृत्ति—क्रिया का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं। अशन—अन्नादि निष्पन्न भोज्य पदार्थ, पान—पानी, खादिम—खाद्य—फल, मेवा आदि पदार्थ, स्वादिम—स्वाद्य—पान, सुपारी, इलायची आदि मुखवासकर पदार्थ—इन चारों का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

यह शरीर, जो इष्ट—वल्लभ, कान्त—काम्य, प्रिय—प्यारा, मनोज्ञ—सुन्दर, मनाम—मन में बसा रहने वाला, प्रेय—अतिशय प्रिय, प्रेज्य—विशेष मान्य, स्थैर्यमय—अस्थिर या विनश्वर होते हुए भी अज्ञानवश स्थिर प्रतीत होने वाला, वैश्वासिक—विश्वसनीय, सम्मत—अभिमत, बहुमत—बहुत माना हुआ, अनुमत, गहनों की पेटी के समान प्रीतिकर है, इसे सर्दी न लग जाए, गर्मी न लग जाए, यह भूखा न रह जाए, प्यासा न रह जाय, इसे सांप न डस ले, चोर उपद्रुत न करें—कष्ट न पहुँचाएं डांस न काटें, मच्छर न काटें, वात, पित्त, (कफ) सन्निपात आदि से जनित विविध रोगों द्वारा, तत्काल मार डालने वाली बीमारियों द्वारा यह पीड़ित न हो, इसे परिषह—भूख, प्यास आदि कष्ट, उपसर्ग—देवादि-कृत संकट न हों, जिसके लिए हर समय ऐसा ध्यान रखते हैं, उस शरीर का हम चरम—अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास तक व्युत्सर्जन करते हैं—उससे अपनी ममता हटाते हैं।

संलेखना द्वारा जिनके शरीर तथा कषाय दोनों ही कृश हो रहे थे, उन परिव्राजकों ने आहार-पानी का परित्याग कर दिया। कटे हुए वृक्ष की तरह अपने शरीर को चेष्टा-शून्य बना लिया। मृत्यु की कामना न करते हुए शान्त भाव से वे अवस्थित रहे।

८८—तए णं ते परिव्वाया बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता, समाहिपत्ता, कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववण्णा। तेहिं तेसिं गई, दससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, परलोगस्स आराहगा, सेसं तं चेव।

८८—इस प्रकार उन परिव्राजकों ने बहुत से भक्त—चारों प्रकार के आहार अनशन द्वारा छिन्न किए—अनशन द्वारा चारों प्रकार के आहारों से सम्बन्ध तोड़ा अथवा बहुत से भोजन-काल

अनशन द्वारा व्यतीत किये। वैसा कर दोषों की आलोचना की—उनका निरीक्षण-परीक्षण किया, उनसे प्रतिक्रान्त—परावृत्त हुए—हटे, समाधि-दशा प्राप्त की। मृत्यु-समय आने पर देह त्यागकर ब्रह्मलोक कल्प में वे देव रूप में उत्पन्न हुए। उनके स्थान के अनुरूप उनकी गति बतलाई गई है। उनका आयुष्य दश सागरोपम कहा गया है। वे परलोक के आराधक हैं। अवशेष वर्णन पहले की तरह है।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विवेचन—सूत्र संख्या ७४ से ८८ के अन्तर्गत जिन तापस साधक, परिव्राजक आदि का वर्णन है, उनके आचार-व्यवहार, जीवन-क्रम तथा साधना-पद्धति का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के समय में, उसके आसपास साधकों के कतिपय ऐसे समुदाय भी थे, जिन्हें न तो सर्वथा वैदिक मतानुयायी कहा जा सकता है और न पूर्णतः निर्ग्रन्थ-परम्परा से सम्बद्ध ही। उनके जीवन के कुछ आचार ऐसे थे—जिनका सम्बन्ध वैदिक साधना-पद्धति की किन्हीं परम्पराओं से जोड़ा जा सकता है। उनकी साधना का शौच या बाह्य शुद्धिमूलक क्रम एक ऐसा ही रूप था, जिसका सामीप्य वैदिक धर्म से है। अनशनमय घोर तप, भिक्षा-विधि, अदत्त का ग्रहण आदि कुछ ऐसी स्थितियाँ थीं जो जैन साधनापद्धति के सन्निकट हैं। इन साधकों में कतिपय ऐसे भी थे, जो अन्ततः जैन श्रद्धा स्वीकार कर लेते थे, जैसा अम्बड परिव्राजक के शिष्यों ने किया।

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित 'समराइच्च-कहा' आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी तापस साधकों तथा परिव्राजकों की चर्चाएँ आई हैं। लगता है, साधना के क्षेत्र में एक ऐसी समन्वय-प्रधान पद्धति काफी समय तक चलती रही पर आगे चलकर वह ऐसी लुप्त हुई कि आज उन साधकों के विषय में विशेष कुछ परिज्ञात नहीं है। उनकी विचारधारा, साधना तथा सिद्धांत आदि के सम्बन्ध में न कोई स्वतन्त्र साहित्य ही प्राप्त है और न कोई अन्यविध ऐतिहासिक सामग्री हो।

धर्म, अध्यात्म, साधना एवं दर्शन के क्षेत्र में अनुसन्धान-रत मनीषी, शोधार्थी, अध्ययनार्थी इस ओर ध्यान दें, गहन अध्ययन तथा गवेषणा करें, अज्ञात एवं अप्राप्त तथ्यों को प्राकट्य देने का प्रयत्न करें, यह सर्वथा वाञ्छनीय है।

चमत्कारी अम्बड परिव्राजक

८९—बहुजणे णं भंते ! अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं परूवेइ—एवं खलु अंबडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे णयरे घरसए आहारमाहरेइ, घरसए वसहिं उवेइ, से कहमेयं भंते ! एवं ?

८९—भगवन् ! बहुत से लोग एक दूसरे से आख्यात करते हैं—कहते हैं, भाषित करते हैं—विशेष रूप से बोलते हैं, तथा प्ररूपित करते हैं—ज्ञापित करते हैं—बतलाते हैं कि अम्बड परिव्राजक काम्पिल्यपुर नगर में सौ घरों में आहार करता है, सौ घरों में निवास करता है। अर्थात् एक ही समय में वह सौ घरों में आहार करता हुआ तथा सौ घरों में निवास करता हुआ देखा जाता है। भगवन् ! यह कैसे है ?

९०—गोयमा ! जं णं से बहुजणे अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ जाव (एवं भासइ) एवं परूवेइ—एवं खलु अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे जाव (घरसए आहारमाहरेइ) घरसए वसहिं उवेइ, सच्चे

णं एमट्ठं अहंपि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव (भासेमि) एवं परूवेमि, एवं खलु अम्मडे परिव्वायए जाव (कंपिल्लपुरे णयरे घरसए आहारमाहरेइ, घरसए) वसहिं उवेइ ।

९०—बहुत से लोग आपस में एक दूसरे से जो ऐसा कहते हैं, (बोलते हैं) प्ररूपित करते हैं कि अम्बड परिव्राजक काम्पिल्यपुर में सौ घरों में आहार करता है, सौ घरों में निवास करता है, यह सच है। गौतम ! मैं भी ऐसा ही कहता हूँ, (बोलता हूँ) प्ररूपित करता हूं कि अम्बड परिव्राजक यावत् (काम्पिल्यपुर नगर में एक साथ सौ घरों में आहार करता है, सौ घरों में) निवास करता है।

९१—से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ—अम्मडे परिव्वायए जाव[1] वसहिं उवेइ ?

९१—अम्बड परिव्राजक के सम्बन्ध में सौ घरों में आहार करने तथा सौ घरों में निवास करने की जो बात कही जाती है, भगवन् ! उसमें क्या रहस्य है ?

९२—गोयमा ! अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स पगइभद्दयाए जाव (पगइउवसंतयाए, पगइ-पतणुकोहमाणमायालोहयाए, मिउमद्दवसंपण्णयाए अल्लीणयाए,) विणीययाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं, पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं अन्नया कयाइ तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहामग्गणगवेसणं करेमाणस्स वीरियलद्धीए, वेउव्वियलद्धीए, ओहिणाण-लद्धीए समुप्पण्णाए जणविम्हाणहेउं कंपिल्लपुरे णगरे घरसए जाव[2] वसहिं उवेइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चई—अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे णगरे घरसए जाव[3] वसहिं उवेइ ।

९२—गौतम ! अम्बड प्रकृति से भद्र—सौम्यव्यवहारशील—परोपकारपरायण एवं शान्त है। वह स्वभावतः क्रोध, मान, माया, एवं लोभ की प्रतनुता—हलकापन लिए हुए है—इनकी उग्रता से रहित है। वह मृदुमार्दवसम्पन्न—अत्यन्त कोमल स्वभावयुक्त—अहंकाररहित, आलीन—गुरुजनों का आज्ञापालक तथा विनयशील है। उसके बेले बेले का—दो दो दिनों का उपवास करते हुए, अपनी भुजाएँ ऊँची उठाये, सूरज के सामने मुँह किए आतापना-भूमि में आतापना लेते हुए तप का अनुष्ठान किया। फलतः शुभ परिणाम—पुण्यात्मक अन्तःपरिणति, प्रशस्त अध्यवसाय—उत्तम मनः संकल्प, विशुद्ध होती हुई प्रशस्त-लेश्याओं—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से होने वाले आत्मपरिणामों या विचारों के कारण, उसके वीर्य-लब्धि, वैक्रिय-लब्धि तथा अवधिज्ञान-लब्धि के आवरक कर्मों का क्षयोपशम हुआ। ईहा—यह क्या है, यों है या दूसरी तरह से है, इस प्रकार सत्य अर्थ के आलोचन में अभिमुख बुद्धि, अपोह—यह इसी प्रकार है, ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि, मार्गण—अन्वयधर्मोन्मुख चिन्तन—अमुक के होने पर अमुक होता है, ऐसा चिन्तन, गवेषण—व्यतिरेकधर्मोन्मुख चिन्तन—अमुक के न होने पर अमुक नहीं होता, ऐसा चिन्तन करते हुए उसको किसी दिन वीर्य-लब्धि—विशेष शक्ति, वैक्रिय-लब्धि—अनेक रूप बनाने का सामर्थ्य तथा अवधिज्ञानलब्धि—अतीन्द्रिय रूपी पदार्थों को सीधे आत्मा द्वारा जानने की योग्यता प्राप्त हो गई। अतएव जन-विस्मापन हेतु—लोगों को आश्चर्य-चकित करने के लिए इनके द्वारा वह काम्पिल्यपुर में एक ही समय में सौ घरों में आहार

---

१. देखें सूत्र-संख्या ९०

२-३. देखें सूत्र-संख्या ९०

करता है, सौ घरों में निवास करता है। गौतम ! वस्तुस्थिति यह है। इसीलिए अम्बड परिव्राजक के द्वारा काम्पिल्यपुर में सौ घरों में आहार करने तथा सौ घरों में निवास करने की बात कही जाती है।

९३—पहू णं भंते ! अम्मडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?

९३—भगवान् ! क्या अम्बड परिव्राजक आपके पास मुण्डित होकर—दीक्षित होकर अगार-अवस्था से अनगार-अवस्था—महाव्रतमय श्रमण-जीवन प्राप्त करने में समर्थ है ?

९४—णो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा ! अम्मडे परिव्वायए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव (उवलद्धपुण्णपावे, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसले, असेहज्जे, देवासुर-णाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गंथे पावयणे णिस्संकिए, णिक्कंखिए, निव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, अभिगयट्ठे, विणिच्छियट्ठे, अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासीणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं, वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं, ओसहभेसज्जेणं पाडिहारिएणं य पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणे) अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, णवरं ऊसिय-फलिहे, अवंगुयदुवारे, चियत्तंतेउरघरदारपवेसी, एयं णं वुच्चइ।

९४—गौतम ! ऐसा संभव नहीं है—वह अनगार धर्म में दीक्षित नहीं होगा। अम्बड परिव्राजक श्रमणोपासक है, जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया है, (पुण्य और पाप का भेद जान लिया है, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण—जिसके आधार से क्रिया की जाए, बन्ध एवं मोक्ष को जो भलीभांति अवगत कर चुका है, जो किसी दूसरे की सहायता का अनिच्छुक है—आत्म-निर्भर है, जो देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवताओं द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से अनतिक्रमणीय—न विचलित किए जा सकने योग्य है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो निःशंक—शंका रहित, निष्कांक्ष—आत्मोत्थान के सिवाय अन्य आकांक्षा-रहित, निर्विचिकित्स—संशय-रहित, लब्धार्थ—धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किये हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप में आत्मसात् किये हुए है एवं जो अस्थि और मज्जा पर्यन्त धर्म के प्रति प्रेम व अनुराग से भरा है, जिसका यह निश्चित विश्वास है कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजनभूत हैं, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा को जो परिपूर्ण पोषध का अच्छी तरह अनुपालन करता हुआ, श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रासुक—अचित्त या निर्जीव, एषणीय—उन द्वारा स्वीकार करने योग्य—निर्दोष, अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन, औषध, भेषज, प्रातिहारिक—लेकर वापस लौटा देने योग्य वस्तु पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि द्वारा श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रतिलाभित करता हुआ आत्मभावित है।

विशेष यह है—उच्छ्रित-स्फटिक—जिसके घर के किवाड़ों में आगल नहीं लगी रहती हो, अपावृतद्वार—जिसके घर का दरवाजा कभी बन्द नहीं रहता हो, त्यक्तान्तःपुर गृह द्वार प्रवेश—शिष्ट जनों के आवागमन के कारण घर के भीतरी भाग में उनका प्रवेश जिसे अप्रिय नहीं लगता हो—प्रस्तुत पाठ के साथ आने वाले ये तीन विशेषण यहां प्रयोज्य नहीं है—लागू नहीं होते। क्योंकि अम्बड परिव्राजक-पर्याय से श्रमणोपासक हुआ था, गृही से नहीं, वह स्वयं भिक्षु था। उसके घर था ही नहीं। ये विशेषण अन्य श्रमणोपासकों के लिए लागू होते हैं।

९५—अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स थूलए पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव (थूलए मुसावाए, थूलए अदिण्णादाणे, थूलए) परिग्गहे णवरं सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए।

९५—किन्तु अम्बड परिव्राजक ने जीवनभर के लिए स्थूल प्राणातिपात—स्थूल हिंसा (स्थूल मृषावाद—स्थूल असत्य, स्थूल अदत्तादान—स्थूल चौर्य, स्थूल), परिग्रह तथा सभी प्रकार के अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान है।

९६—अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ अक्खसोयप्पमाणमेत्तंपि जलं सयराहं उत्तरित्तए, णण्णत्थ अद्धाणगमणेणं। अम्मडस्स णं णो कप्पइ सगडं वा एवं तं चेव भाणियव्वं णण्णत्थ एगाए गंगामट्टियाए। अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ आहाकम्मिए वा, उद्देसिए वा, मीसजाए इ वा, अज्झोवरए इ वा, पूइकम्मे इ वा, कीयगडे इ वा, पामिच्चे इ वा, अणिसिट्ठे इ वा, अभिहडे इ वा, ठइत्तए वा, रइत्तए वा, कंतारभत्ते इ वा, दुब्भिक्खभत्ते इ वा, गिलाणभत्ते इ वा, वद्दलियाभत्ते इ वा, पाहुणगभत्ते इ वा, भोत्तए वा, पाइत्तए वा। अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ मूलभोयणे वा जाव (कंदभोयणे, फलभोयणे, हरियभोयणे, पत्तभोयणे) बीयभोयणे वा भोत्तए वा पाइत्तए वा।

९६—अम्बड परिव्राजक को मार्गगमन के अतिरिक्त गाड़ी की धुरी-प्रमाण जल में भी शीघ्रता से उतरना नहीं कल्पता। अम्बड परिव्राजक को गाड़ी आदि पर सवार होना नहीं कल्पता। यहाँ से लेकर गंगा की मिट्टी के लेप तक का समग्र वर्णन पहले आये वर्णन के अनुरूप समझ लेना चाहिए।

अम्बड परिव्राजक को आधाकर्मिक तथा औद्देशिक—छह काय के जीवों के उपमर्दनपूर्वक साधु के निमित्त बनाया गया भोजन, मिश्रजात—साधु तथा गृहस्थ दोनों के उद्देश्य से तैयार किया गया भोजन, अध्यवपूर—साधु के लिए अधिक मात्रा में निष्पादित भोजन, पूतिकर्म—आधाकर्मी आहार के अंश से मिला हुआ भोजन, क्रीतकृत—खरीदकर लिया गया भोजन, प्रामित्य—उधार लिया हुआ भोजन, अनिसृष्ट—गृह-स्वामी या घर के मुखिया को बिना पूछे दिया जाता भोजन, अभ्याहृत—साधु के सम्मुख लाकर दिया जाता भोजन, स्थापित—अपने लिए पृथक् रखा हुआ भोजन, रचित—एक विशेष प्रकार का उद्दिष्ट—अपने लिए संस्कारित भोजन, कान्तारभक्त—जंगल पार करते हुए घर से अपने पाथेय के रूप में लिया हुआ भोजन, दुर्भिक्षभक्त—दुर्भिक्ष के समय भिक्षुओं तथा अकाल-पीड़ितों के लिए बनाया हुआ भोजन, ग्लानभक्त—बीमार के लिए बनाया हुआ भोजन अथवा स्वयं बीमार होते हुए आरोग्य हेतु दान रूप में दिया जाने वाला भोजन, वार्दलिकभक्त—बादल आदि से घिरे दिन में—दुर्दिन में दरिद्र जनों के लिए तैयार किया गया भोजन, प्राघूर्णक-भक्त—अतिथियों—पाहुनों के लिए तैयार किया हुआ भोजन अम्बड परिव्राजक को खाना-पीना नहीं कल्पता।

इसी प्रकार अम्बड परिव्राजक को मूल, (कन्द, फल, हरे तृण,) बीजमय भोजन खाना-पीना नहीं कल्पता।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

९७—अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स चउव्विहे अणट्ठदंडे पच्चक्खाए जावज्जीवाए। तं जहा—अवज्झाणायरिए, पमायायरिए, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे।

९७—अम्बड परिव्राजक ने चार प्रकार के अनर्थदण्ड—बिना प्रयोजन हिंसा तथा तन्मूलक अशुभ कार्यों का परित्याग किया। वे इस प्रकार हैं—१. अपध्यानाचरित, २. प्रमादाचरित, ३. हिंस्र-प्रदान, ४. पापकर्मोपदेश।

विवेचन—बिना किसी उद्देश्य के जो हिंसा की जाती है, उसका समावेश अनर्थदंड में होता है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर जो लौकिक दृष्टि से आवश्यकता या प्रयोजनवश की जाती है, उसमें तथा निरर्थक की जाने वाली हिंसा में बड़ा भेद है। आवश्यकता या प्रयोजनवश हिंसा करने को जब व्यक्ति बाध्य होता है तो उसकी विवशता देखते उसे व्यावहारिक दृष्टि से क्षम्य भी माना जा सकता है पर प्रयोजन या मतलब के बिना हिंसा आदि का आचरण करना सर्वथा अनुचित है। इसलिए उसे अनर्थदंड कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र में सूचित चार प्रकार के अनर्थदंड की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

अपध्यानाचरित—अपध्यानाचरित का अर्थ है दुश्चिन्तन। दुश्चिन्तन भी एक प्रकार से हिंसा ही है। वह आत्मगुणों का घात करता है। दुश्चिन्तन दो प्रकार का है—आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान। अभीप्सित वस्तु, जैसे धन-संपत्ति, संतति, स्वस्थता आदि प्राप्त न होने पर एवं दारिद्र्य, रुग्णता, प्रियजन का विरह आदि अनिष्ट स्थितियों के होने पर मन में जो क्लेशपूर्ण विकृत चिन्तन होता है, वह आर्त्तध्यान है। क्रोधावेश, शत्रु-भाव और वैमनस्य आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुँचाने आदि की बात सोचते रहना रौद्रध्यान है। इन दोनों तरह से होने वाला दुश्चिन्तन अपध्यानाचरित रूप अनर्थदंड है।

प्रमादाचरित—अपने धर्म, दायित्व व कर्तव्य के प्रति अजागरूकता प्रमाद है। ऐसा प्रमादी व्यक्ति अक्सर अपना समय दूसरों की निन्दा करने में, गप्प मारने में, अपने बड़प्पन की शेखी बघारते रहने में, अश्लील बातें करने में बिताता है। इनसे सम्बद्ध मन, वचन तथा शरीर के विकार प्रमादाचरित में आते हैं।

हिंस्र-प्रदान—हिंसा के कार्यों में साक्षात् सहयोग करना, जैसे चोर, डाकू तथा शिकारी आदि को हथियार देना, आश्रय देना तथा दूसरी तरह से सहायता करना। ऐसा करने से हिंसा को प्रोत्साहन और सहारा मिलता है, अतः यह अनर्थदंड है।

पापकर्मोपदेश—औरों को पाप-कार्य में प्रवृत्त होने में प्रेरणा, उपदेश या परामर्श देना। उदाहरणार्थ, किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार-योग्य पशु-पक्षी उसे प्राप्त होंगे, किसी व्यक्ति को दूसरों को तकलीफ देने के लिए उत्तेजित करना, पशु-पक्षियों को पीड़ित करने के लिए लोगों को दुष्प्रेरित करना—इन सबका पाप-कर्मोपदेश में समावेश है।

९८—अम्मडस्स कप्पइ मागहए अद्धाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणए, णो चेव णं अवहमाणए जाव (से वि य थिमिओदए, णो चेव णं कद्दमोदए, से वि य बहुप्पसण्णे, णो चेव णं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अवहुप्पसण्णे) से वि य परिपूए, णो चेव णं अपरिपूए, से वि य सावज्जे त्ति काउं णो चेव णं अणवज्जे, से वि य जीवा ति काउं, णो चेव णं अजीवा, से वि य दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे, से वि य हत्थपाय-चरुचमसपक्खालणट्ठयाए पिबित्तए वा, णो चेव णं सिणाइत्तए। अम्मडस्स कप्पइ मागहए य आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणए जाव[1] णो चेव णं अदिण्णे, से वि य सिणाइत्तए णो चेव णं हत्थपायचरुचमसपक्खालणट्ठयाए पिबित्तए वा।

९८—अम्बड को मागधमान (मगध देश के तोल) के अनुसार आधा आढक जल लेना कल्पता है। वह भी प्रवहमान—बहता हुआ हो, अप्रवहमान—न बहता हुआ नहीं हो। (वह भी यदि स्वच्छ हो, तभी ग्राह्य है, कीचड़ युक्त हो तो ग्राह्य नहीं है। स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—बहुत साफ और निर्मल हो, तभी ग्राह्य है, अन्यथा नहीं।) वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो कल्प्य है, अनछाना नहीं। वह भी सावद्य—अवद्य या पाप सहित समझकर, निरवद्य समझकर नहीं। सावद्य भी वह उसे सजीव—जीव सहित समझकर ही लेता है, अजीव—जीव रहित समझकर नहीं। वैसा जल भी दिया हुआ ही कल्पता है, न दिया हुआ नहीं। वह भी हाथ, पैर, चरु—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुड़छी—चम्मच धोने के लिए या पीने के लिए ही कल्पता है, नहाने के लिए नहीं।

अम्बड को मागधमान के अनुसार एक आढक पानी लेना कल्पता है। वह भी बहता हुआ, यावत् दिया हुआ ही कल्पता है, बिना दिया नहीं। वह भी स्नान के लिए कल्पता है, हाथ, पैर, चरु, चमस, धोने के लिए या पीने के लिए नहीं।

९९—अम्मडस्स णो कप्पइ अण्णउत्थिया वा, अण्णउत्थियदेवयाणि वा, अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाइं वंदित्तए वा, णमंसित्तए वा, जाव (सक्कारित्तए वा, सम्माणित्तए वा,) पज्जुवासित्तए वा, णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाइं वा।

९९—अर्हत् या अर्हत्-चैत्यों के अतिरिक्त अम्बड को अन्ययूथिक—निर्ग्रन्थ-धर्मसंघ के अतिरिक्त अन्य संघों से सम्बद्ध पुरुष, उनके देव, उन द्वारा परिगृहीत—स्वीकृत चैत्य[2]—उन्हें वन्दन करना, नमस्कार करना, (उनका सत्कार करना, सम्मान करना या) उनकी पर्युपासना करना नहीं कल्पता।

अम्बड के उत्तरवर्ती भव

१००—अम्मडे णं भंते! परिव्वायए कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति? कहिं उववज्जिहिति?

गोयमा! अम्मडे णं परिव्वायए उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणिहिति, पाउणिहित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता, आलोइयपडिक्कंते, समाहिपत्ते कालमासे कालं

---

१. देखें सूत्र-संख्या ८०।

२. सूत्र-संख्या २ के विवेचन में चैत्य की विस्तृत व्याख्या है, जो द्रष्टव्य है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं दस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं अम्मडस्स वि देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई।

१००—भगवन्! अम्बड परिव्राजक मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर कहाँ जायेगा? कहाँ उत्पन्न होगा?

गौतम! अम्बड परिव्राजक उच्चावच—उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट—विशेष-सामान्य शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग एवं पोषधोपवास द्वारा आत्मभावित होता हुआ—आत्मोन्मुख रहता हुआ बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक-पर्याय—गृहि-धर्म या श्रावक-धर्म का पालन करेगा। वैसा कर एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर, आलोचना, प्रतिक्रमण कर, मृत्यु-काल आने पर वह समाधिपूर्वक देह-त्याग करेगा। देह-त्याग कर वह ब्रह्मलोक कल्प में देवरूप में उत्पन्न होगा। वहाँ अनेक देवों की आयु-स्थिति दश सागरोपम-प्रमाण बतलाई गई। अम्बड देव का भी आयुष्य दश सागरोपम-प्रमाण होगा।

१०१—सेणं भंते! अम्मडे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं, अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति?

१०१—भगवन्! अम्बड देव अपना आयु-क्षय, भव-क्षय, स्थिति-क्षय होने पर उस देवलोक से च्यवन कर कहाँ जायेगा? कहाँ उत्पन्न होगा?

१०२—गोयमा! महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति—अड्ढाइं, दित्ताइं, वित्ताइं वित्थिण्ण-विउल भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइं, बहुधण-जायरूव-रययाइं, आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डिय-पउरभत्तपाणाइं, बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूयाइं, बहुजणस्स अपरिभूयाइं, तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाहिति।

१०२—गौतम! महाविदेह क्षेत्र में ऐसे जो कुल हैं यथा—धनाढ्य, दीप्त—दीप्तिमान्, प्रभावशाली या दृप्त—स्वाभिमानी, सम्पन्न, भवन, शयन—ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र, आसन—बैठने के उपकरण, यान—माल-असबाब ढोने की गाड़ियाँ, वाहन—सवारियाँ आदि विपुल साधन-सामग्री तथा सोना, चाँदी, सिक्के आदि प्रचुर धन के स्वामी होते हैं। वे आयोग-प्रयोग-संप्रवृत्त—व्यावसायिक दृष्टि से धन के सम्यक् विनियोग और प्रयोग में निरत—नीतिपूर्वक द्रव्य के उपार्जन में संलग्न होते हैं। उनके यहाँ भोजन कर चुकने के बाद भी खाने-पीने के बहुत पदार्थ बचते हैं। उनके घरों में बहुत से नौकर, नौकरानियाँ, गायें, भैंसे, बैल, पाड़े, भेड़-बकरियाँ आदि होते हैं। वे लोगों द्वारा अपरिभूत—अतिरस्कृत होते हैं—इतने रोबीले होते हैं कि कोई उनका परिभव—तिरस्कार या अपमान करने का साहस नहीं कर पाता। अम्बड (देव) ऐसे कुलों में से किसी एक में पुरुषरूप में उत्पन्न होगा।

१०३—तए णं तस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चेव समाणस्स अम्मापिईणं धम्मे दढा पइण्णा भविस्सइ।

१०३—अम्बड शिशु के रूप में जब गर्भ में आयेगा, (उसके पुण्य-प्रभाव से) माता-पिता की धर्म में आस्था दृढ़ होगी।

१०४—से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं वीइक्कंताणं सुकुमाल-पाणिपाए, जाव (अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, लक्खणवंजणगुणोववेए, माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्ण-सुजायसव्वंगसुंदरंगे,) ससिसोमाकारे, कंते, पियदंसणे, सुरूवे दारए पयाहिति ।

१०४—नौ महीने साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर बच्चे का जन्म होगा । उसके हाथ-पैर सुकोमल होंगे । उसके शरीर की पाँचों इन्द्रियाँ अहीन-प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अखण्डित एवं सम्पूर्ण होंगी । वह उत्तम लक्षण—सौभाग्यसूचक हाथ की रेखाएँ आदि, व्यंजन—उत्कर्षसूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुणयुक्त होगा । दैहिक फैलाव, वजन, ऊँचाई आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दर होगा । उसका आकार चन्द्र के सदृश सौम्य होगा । वह कान्तिमान्, देखने में प्रिय एवं सुरूप होगा ।

१०५—तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिइवडियं काहिंति, बिइयदिवसे चंदसूरदंसणियं काहिंति, छट्ठे दिवसे जागरियं काहिंति, एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते णिव्वत्ते असुइजायकम्मकरणे संपत्ते बारसाहे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गोण्णं, गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं काहिंति—जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे दढपइण्णा तं होउ णं अम्हं दारए 'दढपइण्णे' णामेणं । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति दढपइण्णत्ति ।

१०५—तत्पश्चात् माता-पिता पहले दिन उस बालक का कुलक्रमागत पुत्रजन्मोचित अनुष्ठान करेंगे । दूसरे दिन चन्द्र-सूर्य-दर्शनिका नामक जन्मोत्सव करेंगे । छठे दिन जागरिका—रात्रि-जागरिका करेंगे । ग्यारहवें दिन वे अशुचि-शोधन-विधान से निवृत्त होंगे । इस बालक के गर्भ में आते ही हमारी धार्मिक आस्था दृढ़ हुई थी, अतः यह 'दृढ़प्रतिज्ञ' नाम से सम्बोधित किया जाय, यह सोचकर माता-पिता बारहवें दिन बालक का 'दृढ़प्रतिज्ञ'—यह गुणानुगत, गुणनिष्पन्न नाम रखेंगे ।

१०६—तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो साइरेगट्ठवासजायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहि-करण-दिवस-णक्खत्त-मुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेहिंति ।

१०६—माता-पिता यह जानकर कि अब बालक आठ वर्ष से कुछ अधिक का हो गया है, उसे शुभ-तिथि, शुभ करण, शुभ दिवस, शुभ नक्षत्र एवं शुभ मुहूर्त में शिक्षण हेतु कलाचार्य के पास ले जायेंगे ।

१०७—तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ, गणियप्पहाणाओ, सउणरुय-पज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहाविहिति, सिक्खाविहिति, तं जहा—लेहं, गणियं, रूवं, णट्टं, गीयं, वाइयं, सरगयं, पुक्खरगयं, समतालं, जूयं, जणवायं, पासगं, अट्ठावयं, पोरेकच्चं, दगमट्टियं, अण्णविहिं, पाणविहिं, वत्थविहिं, विलेवणविहिं, सयणविहिं, अज्जं, पहेलियं, मागहियं, गाहं, गीइयं, सिलोयं, हिरण्णजुत्तिं, सुवण्णजुत्तिं, गंधजुत्तिं, चुण्णजुत्तिं, आभरण-विहिं, तरुणीपडिकम्मं, इत्थिलक्खणं, पुरिसलक्खणं, हयलक्खणं, गयलक्खणं, गोणलक्खणं, कुक्कुड-लक्खणं, चक्कलक्खणं, छत्तलक्खणं, चम्मलक्खणं, दंडलक्खणं, असिलक्खणं, मणिलक्खणं, कागणि-लक्खणं, वत्थुविज्जं, खंधारमाणं, नगरमाणं, वत्थुनिवेसणं, वूहं, पडिवूहं, चारं, पडिचारं, चक्कवूहं,

गरुलवहं, सगडवहं, जुद्धं, निजुद्धं, जुद्धाइजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, बाहूजुद्धं, लयाजुद्धं, इसत्थं, छरुप्पवाहं, धणुव्वेयं, हिरण्णपागं, सुवण्णपागं, वट्टखेड्डं, सुत्तखेड्डं, णालियाखेड्डं, पत्तच्छेज्जं, कडगच्छेज्जं, सज्जीवं, निज्जीवं, सउणरुयमिति बावत्तरिकलाओ सेहाविंता, सिक्खावेंता अम्मापिईणं उवणेहिति ।

१०७—तब कलाचार्य बालक दृढ़प्रतिज्ञ को लेख एवं गणित से लेकर पक्षिशब्दज्ञान तक बहत्तर कलाएँ सूत्ररूप में—सैद्धान्तिक दृष्टि से, अर्थ रूप में—व्याख्यात्मक दृष्टि से, करण रूप में—प्रयोगात्मक दृष्टि से सधायेंगे, सिखायेंगे—अभ्यास करायेंगे । वे बहत्तर कलाएँ इस प्रकार हैं—

१. लेख—लेखन—अक्षरविन्यास, तद्विषयक कला, २. गणित, ३. रूप—भित्ति, पाषाण, वस्त्र, रजत, स्वर्ण, रत्न आदि पर विविध प्रकार का चित्रांकन, ४. नाट्य—अभिनय, नाच, ५. गीत—गान्धर्व-विद्या—संगीत-विद्या, ६. वाद्य—वीणा, दुन्दुभि, ढोल आदि स्वर एवं ताल सम्बन्धी वाद्य (साज) बजाने की कला, ७. स्वरगत—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत तथा पञ्चम—इन सात स्वरों का परिज्ञान, ८. पुष्करगत—मृदंग-वादन की विशेष कला, ९. समताल—गान व ताल के लयात्मक समीकरण का ज्ञान, १०. द्यूत—जूआ खेलने की कला, ११. जनवाद—लोगों के साथ वार्तालाप करने की दक्षता अथवा वाद-विवाद करने में निपुणता, १२. पाशक—पासा फेंकने की विशिष्ट कला, १३. अष्टापद—विशेष प्रकार की द्यूत-क्रीडा, १४. पौरस्कृत्य—नगर की रक्षा, व्यवस्था आदि का ज्ञान, (अथवा पुरःकाव्य—आशुकवित्व—किसी भी विषय पर तत्काल कविता रचने की कला,) १५. उदक-मृत्तिका—जल तथा मिट्टी के मेल से भाण्ड आदि के निर्माण का परिज्ञान, १६. अन्न-विधि—अन्न पैदा करने की दक्षता अथवा भोजन-परिपाक का ज्ञान, १७. पान-विधि—पेय पदार्थों के निष्पादन, प्रयोग आदि का ज्ञान, १८. वस्त्र-विधि—वस्त्र सम्बन्धी ज्ञान, १९. विलेपन-विधि—शरीर पर चन्दन, कुंकुम आदि सुगन्धित द्रव्यों के लेप का, मण्डन का ज्ञान, २०. शयन-विधि—शय्या आदि बनाने, सजाने की कला, २१. आर्या—आर्या आदि मात्रिक छन्द रचने की कला, २२. प्रहेलिका—गूढ आशययुक्त गद्यपद्यात्मक रचना, २३. मागधिका—मगध देश की भाषा—मागधी प्राकृत में काव्य-रचना, २४. गाथा—संस्कृतेतर शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची आदि प्राकृतों—लोक भाषाओं में आर्या आदि छन्दों में रचना करने की कला, २५. गीतिका—गेय काव्य की रचना, गीति, उपगीति आदि छन्दों में रचना, २६. श्लोक—अनुष्टुप् आदि छन्दों में रचना, २७. हिरण्य-युक्ति—रजत-निष्पादन—चांदी बनाने की कला, २८. सुवर्ण-युक्ति—सोना बनाने की कला, २९. गन्ध-युक्ति—सुगन्धित पदार्थ तैयार करने की विधि का ज्ञान, ३०. चूर्ण-युक्ति—विभिन्न औषधियों द्वारा तान्त्रिक विधि से निर्मित चूर्ण डालकर दूसरे को वश में करना, स्वयं अन्तर्धान हो जाना आदि (विद्याओं) का ज्ञान, ३१. आभरण-विधि—आभूषण बनाने तथा धारण करने की कला, ३२. तरुणी-प्रतिकर्म—युवती-सज्जा की कला, ३३. स्त्री-लक्षण—पद्मिनी, हस्तिनी, शंखिनी व चित्रिणी स्त्रियों के लक्षणों का ज्ञान, ३४. पुरुष-लक्षण—उत्तम, मध्यम, अधम, आदि पुरुषों के लक्षणों का ज्ञान, अथवा शश आदि पुरुष-भेदों का ज्ञान, ३५. हय-लक्षण—अश्व-जातियों, लक्षणों आदि का ज्ञान, ३६. गज-लक्षण—हाथियों के शुभ, अशुभ, आदि लक्षणों की जानकारी, ३७. गो-लक्षण—गाय, बैल के लक्षणों का ज्ञान, ३८. कुक्कुट-लक्षण—मुर्गे के लक्षणों का ज्ञान, ३९. चक्र-लक्षण, ४०. छत्र-लक्षण, ४१. चर्म-लक्षण—ढाल आदि चमड़े से बनी विशिष्ट वस्तुओं के लक्षणों का ज्ञान, ४२. दण्ड-लक्षण, ४३. असि-लक्षण—तलवार की श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता का ज्ञान, ४४. मणि-लक्षण—रत्न-परीक्षा, ४५. काकणी-लक्षण—

चक्रवर्ती के एतत्संज्ञक रत्न के लक्षणों की पहचान, ४६. वास्तु-विद्या—भवन-निर्माण की कला, ४७. स्कन्धावार-मान—शत्रुसेना को जीतने के लिए अपनी सेना का परिमाण जानना, छावनी लगाना, मोर्चा लगाना आदि की जानकारी, ४८. नगर-निर्माण, विस्तार आदि की कला अथवा युद्धोपयोगी विशेष नगर-रचना की जानकारी, जिससे शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सके, ४९. वास्तुनिवेशन—भवनों के उपयोग, विनियोग आदि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी, ५०. व्यूह—आकार-विशेष में सेना स्थापित करने या जमाने की कला, प्रतिव्यूह—शत्रु द्वारा रचे गये व्यूह के प्रतिपक्ष में—मुकाबले तत्प्रतिरोधक दूसरे व्यूह की रचना का ज्ञान, ५१. चार—चन्द्र, सूर्य, राहु, केतु आदि ग्रहों की गति का ज्ञान अथवा राशि गण, वर्ण, वर्ग आदि का ज्ञान, प्रतिचार—इष्टजनक, अनिष्टनाशक शान्तिकर्म का ज्ञान, ५२. चक्रव्यूह—चक्र—रथ के पहिये के आकार में सेना को स्थापित-सज्जित करना, ५३. गरुड-व्यूह—गरुड के आकार में सेना को स्थापित-सज्जित करना, ५४. शकट-व्यूह—गाड़ी के आकार में सेना को स्थापित-सज्जित करना, ५५. युद्ध—लड़ाई की कला, ५६. नियुद्ध—पैदल युद्ध करने की कला, ५७. युद्धातियुद्ध—तलवार, भाला आदि फेंककर युद्ध करने की कला, ५८. मुष्टि-युद्ध—मुक्कों से लड़ने में निपुणता, ५९. बाहु-युद्ध—भुजाओं द्वारा लड़ने की कला, ६०. लता-युद्ध—जैसे बेल वृक्ष पर चढ़ कर उसे जड़ से लेकर शिखर तक आवेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार जहाँ योद्धा प्रतियोद्धा के शरीर को प्रगाढतया उपमर्दित कर भूमि पर गिरा देता है और उस पर चढ़ बैठता है, ६१. इषुशस्त्र—नाग-बाण आदि के प्रयोग का ज्ञान, क्षुर-प्रवाह—छुरा आदि फेंककर वार करने का ज्ञान, ६२. धनुर्वेद—धनुर्विद्या, ६३. हिरण्यपाक—रजत-सिद्धि, ६४. सुवर्ण-पाक—सुवर्ण-सिद्धि, ६५. वृत्त-खेल—रस्सी आदि पर चलकर खेल दिखाने की कला, ६६. सूत्र-खेल—सूत द्वारा खेल दिखाने, कच्चे सूत द्वारा करिश्मे बतलाने की कला, ६७. नालिका-खेल—नालिका में पासे या कौड़ियाँ डालकर गिराना—जूआ खेलने की एक विशेष प्रक्रिया की जानकारी, ६८. पत्रच्छेद्य—एक सौ आठ पत्तों में यथेष्ट संख्या के पत्तों को एक बार में छेदने का हस्त-लाघव, ६९. कटच्छेद्य—चटाई की तरह क्रमशः फैलाये हुए पत्र आदि के छेदन की विशेष प्रक्रिया में नैपुण्य, ७०. सजीव—पारद आदि मारित धातुओं को पुनः सजीव करना—सहज रूप में लाना, ७१. निर्जीव—पारद, स्वर्ण आदि धातुओं का मारण करना तथा ७२. शकुन-रुत—पक्षियों के शब्द, गति, चेष्टा आदि जानने की कला।

ये बहत्तर कलाएँ सधाकर, इनका शिक्षण देकर, अभ्यास कराकर कलाचार्य बालक को माता-पिता को सौंप देंगे।

१०८—तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं असणपाण-खाइमसाइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेहिंति, सक्कारेत्ता सम्माणेहिंति, सम्माणेत्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइस्संति, दलइत्ता पडिविसज्जेहिंति।

१०८—तब बालक दृढप्रतिज्ञ के माता-पिता कलाचार्य का विपुल—प्रचुर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, गन्ध, माला तथा अलंकार द्वारा सत्कार करेंगे, सम्मान करेंगे। सत्कार-सम्मान कर उन्हें विपुल, जीविकोचित—जिससे समुचित रूप में जीवन-निर्वाह होता रहे, ऐसा प्रीतिदान—पुरस्कार देंगे। पुरस्कार देकर प्रतिविसर्जित करेंगे—विदा करेंगे।

१०९—तए णं से दढपइण्णे दारए बावत्तरिकलापंडिए, नवंगसुत्तपडिबोहिए, अट्ठारसदेसीभासाविसारए, गीयरई, गंधव्वणट्टकुसले, हयजोही, गयजोही, रहजोही, बाहुजोही, बाहुप्पमद्दी, वियालचारी, साहसिए, अलंभोगसमत्थे यावि भविस्सइ ।

१०९—बहत्तर कलाओं में पंडित—मर्मज्ञ, प्रतिबुद्ध नौ अंगों– दो कान, दो नेत्र, दो घ्राण, एक जिह्वा, एक त्वचा तथा एक मन—इन अंगों की चेतना, संवेदना के जागरण से युक्त—यौवनावस्था में विद्यमान, अठारह देशी भाषाओं—लोकभाषाओं में विशारद—निपुण, गीतप्रिय, गान्धर्व-नाट्य-कुशल—संगीत-विद्या, नृत्य-कला आदि में प्रवीण, अश्वयुद्ध—घोड़े पर सवार होकर युद्ध करना, गजयुद्ध—हाथी पर सवार होकर युद्ध करना, रथयुद्ध—रथ पर सवार होकर युद्ध करना, बाहुयुद्ध—भुजाओं द्वारा युद्ध करना, इन सब में दक्ष, विकालचारी—निर्भीकता के कारण रात में भी घूमने-फिरने में निःशंक, साहसिक—प्रत्येक कार्य में साहसी दृढ़प्रतिज्ञ यों सांगोपांग विकसित-संवर्द्धित होकर सर्वथा भोग-समर्थ हो जाएगा ।

११०—तए णं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो बावत्तरिकलापंडियं जाव (नवंगसुत्तपडिबोहियं, अट्ठारसदेसीभासाविसारयं, गीयरइं, गंधव्वणट्टकुसलं, हयजोहिं, गयजोहिं, रहजोहिं, बाहुजोहिं, बाहुप्पमद्दिं, वियालचारिं, साहसियं) अलंभोगसमत्थं वियाणित्ता विउलेहिं अण्णभोगेहिं, पाणभोगेहिं, लेणभोगेहिं, वत्थभोगेहिं, सयणभोगेहिं, उवणिमंतेहिंति ।

११०—माता-पिता बहत्तर कलाओं में मर्मज्ञ, (प्रतिबुद्ध नौ अंग युक्त, अठारह देशी भाषाओं में निपुण, गीतप्रिय, गान्धर्व-नाट्य-कुशल, अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, बाहुयुद्ध, एवं बाहुप्रमर्द में दक्ष, निर्भय-विकालचारी, साहसिक) अपने पुत्र दृढ़प्रतिज्ञ को सर्वथा भोग-समर्थ जानकर अन्न—उत्तम खाद्य पदार्थ, पान—उत्तम पेय पदार्थ, लयन—सुन्दर गृह आदि में निवास, उत्तम वस्त्र तथा शयन—उत्तम शय्या, बिछौने आदि सुखप्रद सामग्री का उपभोग करने का आग्रह करेंगे ।

१११—तए णं दढपइण्णे दारए तेहिं विउलेहिं अण्णभोगेहिं जाव (पाणभोगेहिं, लेणभोगेहिं, वत्थभोगेहिं,) सयणभोगेहिं णो सज्जिहिति, णो रज्जिहिति, णो गिज्झिहिति, णो मुज्झिहिति, णो अज्झोववज्जिहिति ।

१११—तब कुमार दृढ़प्रतिज्ञ अन्न, (पान, गृह, वस्त्र,) शयन आदि भोगों में आसक्त नहीं होगा, अनुरक्त नहीं होगा, गृद्ध—लोलुप नहीं होगा, मूर्च्छित—मोहित नहीं होगा तथा अध्यवसित नहीं होगा—मन नहीं लगायेगा ।

११२—से जहाणामए उप्पले इ वा, पउमे इ वा, कुमुदे इ वा, नलिने इ वा, सुभगे इ वा, सुगंधे इ वा, पोंडरीए उ वा, महापोंडरीए इ वा, सयपत्ते इ वा, सहस्सपत्ते इ वा, सयसहस्सपत्ते इ वा, पंके जाए, जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं णोवलिप्पइ जलरएणं, एवामेव दढपइण्णे वि दारए कामेहिं जाए भोगेहिं संवुड्ढे णोवलिप्पिहिति कामरएणं, णोवलिप्पिहिति भोगरएणं, णोवलिप्पिहिति मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणेणं ।

११२—जैसे उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सुगन्ध, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, शतसहस्रपत्र आदि विविध प्रकार के कमल कीचड़ में उत्पन्न होते हैं, जल में बढ़ते हैं पर

जल-रज—जल-रूप रज से या जल-कणों से लिप्त नहीं होते, उसी प्रकार कुमार दृढप्रतिज्ञ जो काममय जगत् में उत्पन्न होगा, भोगमय जगत् में संवर्धित होगा—पलेगा-पुसेगा, पर काम-रज से—शब्दात्मक, रूपात्मक भोग्य पदार्थों से—भोगासक्ति से, भोग-रज से—गन्धात्मक, रसात्मक, स्पर्शात्मक भोग्य पदार्थों से—भोगसक्ति से लिप्त नहीं होगा, मित्र—सुहृद्, ज्ञाति—सजातीय, निजक—भाई, बहिन आदि पितृपक्ष के पारिवारिक, स्वजन—नाना, मामा, आदि मातृपक्ष के पारिवारिक, तथा अन्यान्य सम्बन्धी, परिजन—सेवकवृन्द—इनमें आसक्त नहीं होगा।

११३—से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिति, बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति।

११३—वह तथारूप—वीतराग की आज्ञा के अनुसर्ता अथवा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र से युक्त स्थविरों—ज्ञानवृद्ध, संयमवृद्ध श्रमणों के पास केवलबोधि—विशुद्ध सम्यक् दर्शन प्राप्त करेगा। गृहवास का परित्याग कर वह अनगार-धर्म में प्रव्रजित—दीक्षित होगा—श्रमण-जीवन स्वीकार करेगा।

११४—से णं भविस्सइ अणगारे भगवंते ईरियासमिए जाव (भासासमिए, एसणासमिए, आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणियासमिए, मणगुत्ते, वयगुत्ते, कायगुत्ते, गुत्ते, गुत्तिदिए) गुत्तबंभयारी।

११४—वे अनगार भगवान्—मुनि दृढप्रतिज्ञ ईर्या—गमन, हलन, चलन आदि क्रिया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने आदि तथा मल, मूत्र, खंखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील होंगे। वे मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त—मन, वचन तथा शरीर की क्रियाओं का गोपायन—संयम करने वाले, गुप्त शब्द आदि विषयों में रागरहित—अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को उनके विषय व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित तथा गुप्त ब्रह्मचारी—नियमोपनियम-पूर्वक ब्रह्मचर्य का संरक्षण—परिपालन करने वाले होंगे।

११५—तस्स णं भगवंतस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स अणंते, अणुत्तरे, णिव्वाघाए, निरावरणे, कसिणे, पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जहिति।

११५—इस प्रकार की चर्या में संप्रवर्तमान—ऐसा साधनामय जीवन जीते हुए मुनि दृढ-प्रतिज्ञ को अनन्त—अन्तरहित या अनन्त पदार्थ विषयक—अनन्त पदार्थों को जानने वाला, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, निर्व्याघात—बाधा या व्यवधान रहित, निरावरण—आवरणरहित, कृत्स्न—समग्र-सर्वार्थ-ग्राहक, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण, अपने समग्र अविभागी अंशों से समायुक्त, केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होगा।

११६—तए णं से दढपइण्णे केवली बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणिहिति, केवलिपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणए, केसलोए, बंभचेरवासे, अच्छत्तगं अणोवाहणगं, भूमि-सेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, परघरपवेसो लद्धावलद्धं, परेहिं हीलणाओ, खिसणाओ, निंदणाओ,

गरहणाओ, तालणाओ, तज्जणाओ, परिभवणाओ, पव्वहणाओ, उच्चावया गामकंटगा, बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति, सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति ।

११६—तत्पश्चात् दृढप्रतिज्ञ केवली बहुत वर्षों तक केवलि-पर्याय का पालन करेंगे—केवलि-अवस्था में विचरेंगे । यों केवलि-पर्याय का पालन कर, एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर जिस लक्ष्य के लिए नग्नभाव—शारीरिक संस्कारों के प्रति अनासक्ति, मुण्डभाव—सांसारिक सम्बन्ध तथा ममत्व का त्याग कर श्रमण-जीवन की साधना, अस्नान—स्नान न करना, अदन्तवन—मंजन नहीं करना, केशलुंचन—बालों को अपने हाथ से उखाड़ना, अब्रह्मचर्यवास—ब्रह्मचर्य की आराधना—बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप में अध्यात्म की साधना, अच्छत्रक—छत्र (छाता) धारण नहीं करना, जूते या पादरक्षिका धारण नहीं करना, भूमि पर सोना, जलक—काष्ठपट्ट पर सोना, सामान्य काठ की पटिया पर सोना, भिक्षा हेतु परगृह में प्रवेश करना, जहाँ आहार मिला हो या न मिला हो, औरों से जन्म-कर्म की भर्त्सनापूर्ण अवहेलना—अवज्ञा या तिरस्कार, खिसना—मर्मोद्घाटनपूर्वक अपमान, निन्दना—निन्दा, गर्हणा—लोगों के समक्ष अपने सम्बन्ध में प्रकट किये गये कुत्सित भाव, तर्जना—अंगुली आदि द्वारा संकेत कर कहे गये कटु वचन, ताडना—थप्पड़ आदि द्वारा परिताड़न, परिभवना—परिभव—अपमान, परिव्यथना—व्यथा, नाना प्रकार की इन्द्रियविरोधी—आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों के लिए कष्टकर स्थितियाँ, बाईस प्रकार के परिषह तथा देवादिकृत उपसर्ग आदि स्वीकार किये, उस लक्ष्य को पूरा कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में सिद्ध होंगे, बुद्ध होंगे, मुक्त होंगे, परिनिर्वृत होंगे, सब दुखों का अन्त करेंगे ।

प्रत्यनीकों का उपपात

११७—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—आयरिय-पडिणीया, उवज्झायपडिणीया, कुलपडिणीया, गणपडिणीया, आयरियउवज्झायाणं अयसकारगा, अवण्णकारगा, अकित्तिकारया, बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा, वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, तेरस सागरोवमाइं ठिई, अणाराहगा, सेसं तं चेव ।

११७—जो ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में प्रव्रजित श्रमण होते हैं, जैसे—आचार्य-प्रत्यनीक—आचार्य के विरोधी, उपाध्याय-प्रत्यनीक—उपाध्याय के विरोधी, कुल-प्रत्यनीक—कुल के विरोधी, गण-प्रत्यनीक[2]—गण के विरोधी, आचार्य और उपाध्याय के अयशस्कर—अपयश करने वाले, अवर्णकारक—अवर्णवाद बोलने वाले, अकीर्तिकारक—अपकीर्ति या निन्दा करने वाले, असद्भाव—वस्तुतः जो हैं नहीं, ऐसी बातों या दोषों के उद्भावन-आरोपण तथा मिथ्यात्व के

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

२. आचार्य, उपाध्याय, कुल तथा गण का सूत्र-संख्या ३० के विवेचन के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है, जो द्रष्टव्य है ।

अभिनिवेश द्वारा अपने को, औरों को—दोनों को दुराग्रह में डालते हुए, दृढ़ करते हुए—अपने को तथा औरों को आशातना-जनित पाप में निपतित करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते हैं। अपने पाप-स्थानों की आलोचना, प्रतिक्रमण नहीं करते हुए मृत्यु-काल आ जाने पर मरण प्राप्तकर वे उत्कृष्ट लान्तक नामक छठे देवलोक में किल्विषिक संज्ञक देवों में (जिनका चाण्डालवत् साफ-सफाई करना कार्य होता है) देवरूप में उत्पन्न होते हैं। अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी वहां स्थिति तेरह सागरोपम-प्रमाण होती है। अनाराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनि जीवों का उपपात

११८—सेज्जे इमे सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवंति, तं जहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा। तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहमग्गणगवेसणं करेमाणाणं सण्णीपुव्व-जाइसरणे समुप्पज्जइ।

तए णं समुप्पण्णजाइसरणा समाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं पडिवज्जंति, पडिवज्जित्ता बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा बहूइं वासाइं आउयं पालेंति, पालित्ता आलोइयपडिक्कंता, समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, अट्ठारस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, परलोगस्स आराहगा, सेसं तं चेव।

११८—जो ये संज्ञी—समनस्क या मन सहित, पर्याप्त—आहारादि-पर्याप्तियुक्त तिर्यग्-योनिक—पशु, पक्षी जाति के जीव होते हैं, जैसे—जलचर—पानी में चलने वाले (रहने वाले), स्थलचर—पृथ्वी पर चलने वाले तथा खेचर—आकाश में चलने वाले (उड़ने वाले), उनमें से कइयों के प्रशस्त—उत्तम अध्यवसाय, शुभ परिणाम तथा विशुद्ध होती हुई लेश्याओं—अन्तः परिणतियों के कारण ज्ञानावरणीय एवं वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए अपनी संज्ञित्व-अवस्था से पूर्ववर्ती भवों की स्मृति—जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न होते ही वे स्वयं पाँच अणुव्रत स्वीकार करते हैं। ऐसा कर अनेकविध शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग, पोषधोपवास आदि द्वारा आत्म-भावित होते हुए बहुत वर्षों तक अपने आयुष्य का पालन करते हैं—जीवित रहते हैं। फिर वे अपने पाप-स्थानों की आलोचना कर, उनसे प्रतिक्रान्त हो, समाधि-अवस्था प्राप्त कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सहस्रार-कल्प—देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होते है। अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी वहाँ स्थिति अठारह सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

आजीवकों का उपपात

१२०—से जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु आजीविया भवंति, तं जहा—दुघरंतरिया, तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया, उप्पलबेंटिया, घरसमुदाणिया, विज्जयंतरिया उद्दिया समणा, ते णं

---

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तहिं तेसिं गई, बावीसं सागरोवमाइं ठिई, अणाराहगा, सेसं तं चेव।

१२०—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो आजीवक होते हैं, जैसे—दो घरों के अन्तर से—दो घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले, तीन घर छोड़कर भिक्षा लेनेवाले, सात घर छोड़कर भिक्षा लेनेवाले, नियम-विशेषवश भिक्षा में केवल कमल-डंठल लेनेवाले, प्रत्येक घर से भिक्षा लेनेवाले, जब बिजली चमकती हो तब भिक्षा नहीं लेनेवाले, मिट्टी से बने नांद जैसे बड़े बर्तन में प्रविष्ट होकर तप करनेवाले, वे ऐसे आचार द्वारा विहार करते हुए—जीवन-यापन करते हुए बहुत वर्षों तक आजीवक-पर्याय का पालन कर, मृत्यु-काल आने पर मरण प्राप्त कर, उत्कृष्ट अच्युत कल्प में (बारहवें देवलोक में) देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे आराधक नहीं होते। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

आत्मोत्कर्षक आदि प्रव्रजित श्रमणों का उपपात

१२१—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—अत्तुक्कोसिया, परपरिवाइया, भूइकम्मिया, भुज्जो-भुज्जो कोउयकारगा, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे आभिओगिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं ईई, बावीसं सागरोवमाइं ठिई, परलोगस्स अणाराहगा, सेसं तं चेव।

ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये प्रव्रजित श्रमण होते हैं, जैसे—आत्मोत्कर्षक—अपना उत्कर्ष दिखानेवाले—अपना बड़प्पन या गरिमा बखाननेवाले, परपरिवादक—दूसरों की निन्दा करने वाले, भूतिकर्मिक—ज्वर आदि बाधा, उपद्रव शान्त करने हेतु अभिमन्त्रित भस्म आदि देनेवाले, कौतुककारक—भाग्योदय आदि के निमित्त चामत्कारिक बातें करनेवाले। वे इस प्रकार की चर्या लिये विहार करते हुए—जीवन चलाते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते हैं। अपने गृहीत पर्याय का पालन कर वे अन्ततः अपने पाप-स्थानों की आलोचना नहीं करते हुए, उनसे प्रतिक्रान्त नहीं होते हुए, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट अच्युत कल्प में आभियोगिक—सेवकवर्ग के देवों में देव रूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक नहीं होते। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

निह्नवों का उपपात

१२२—सेज्जे इमे गामागर जाव[2] सण्णिवेसेसु णिण्हगा भवंति, तं जहा—१ बहुरया, २ जीवपएसिया, ३ अव्वत्तिया, ४ सामुच्छेइया, ५ दोकिरिया, ६ तेरासिया, ७ अबद्धिया इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा, केवलचरियालिंगसामण्णा, मिच्छद्दिट्ठि बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा, वुप्पाएमाणा विहरित्ता बहूइं वासाइं

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

सामण्णपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, एक्कतीस सागरोवमाइं ठिई, परलोगस्स अणाराहगा, सेसं तं चेव।

१२२—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये निह्नव होते हैं, जैसे—बहुरत, जीवप्रादेशिक, अव्यक्तिक, सामुच्छेदिक, त्रैक्रिय, त्रैराशिक तथा अबद्धिक, वे सातों ही जिन-प्रवचन—जैन-सिद्धान्त, वीतरागवाणी का अपलाप करने वाले या उलटी प्ररूपणा करनेवाले होते हैं। वे केवल चर्या—भिक्षा-याचना आदि बाह्य क्रियाओं तथा लिंग—रजोहरण आदि चिह्नों में श्रमणों के सदृश होते हैं। वे मिथ्यादृष्टि हैं। असद्भाव—जिनका सद्भाव या अस्तित्व नहीं है, ऐसे अविद्यमान पदार्थों या तथ्यों की उद्भावना—निराधार परिकल्पना द्वारा, मिथ्यात्व के अभिनिवेश द्वारा अपने को, औरों को—दोनों को दुराग्रह में डालते हुए, दृढ़ करते हुए—अतथ्यपरक (जिन-प्रवचन के प्रतिकूल) संस्कार जमाते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते हैं। श्रमण-पर्याय का पालन कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट ग्रैवेयक देवों में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। वहाँ उनकी स्थिति इकतीस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक नहीं होते। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में जिन सात निह्नवों का उल्लेख हुआ है—आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी वृत्ति में संक्षेप में उनकी चर्चा की है। उस सम्बन्ध में यत्र-तत्र और भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। जिन-प्रवचन के अपलापी ये निह्नव सिद्धान्त के किसी एक देश या एकांश को लेकर हठाग्रह किंवा दुराग्रह से अभिभूत थे।

उनके वादों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. बहुरतवाद—बहुत समयों में रत या आसक्त बहुरत कहे जाते थे। उनके अनुसार कार्य की निष्पन्नता बहुत समयों से होती है।[1] अतः क्रियमाण को कृत नहीं कहा जा सकता। अपेक्षा-भेद पर आधृत अनेकान्तमय समंजस विचारधारा में बहुरतवादियों की आस्था नहीं थी।

बहुरतवाद का प्रवर्तक जमालि था। वह क्षत्रिय राजकुमार था। भगवान् महावीर का जामाता था। वैराग्यवश वह भगवान् के पास प्रव्रजित हुआ, उसके पाँच सौ साथी भी। ज्ञानाराधन एवं तपश्चरण पूर्वक वह श्रमण-धर्म का पालन करने लगा।

एक बार उसने जनपद-विहार का विचार किया। भगवान् से अनुज्ञा मांगी। भगवान् कुछ बोले नहीं। फिर भी उसने अपने पाँच सौ श्रमण-साथियों के साथ विहार कर दिया।

वह श्रावस्ती में रुका। कठोर चर्या तथा तप की आराधना में लगा। एक बार वह घोर पित्तज्वर से पीड़ित हो गया। असह्य वेदना थी। उसने अपने साधुओं को बिछौना तैयार करने की आज्ञा दी। साधु वैसा करने लगे। जमालि ज्वर की वेदना से अत्यन्त व्याकुल था। क्षण-क्षण का समय बीतना भारी था। उसने अधीरता से पूछा—क्या बिछौना तैयार हो गया? साधु बोले—देवानुप्रिय! बिछौना बिछ गया है। तीव्र ज्वर-जनित आकुलता थी ही, जमालि टिक नहीं पा रहा

---

१. बहुषु समयेषु रताः—आसक्ताः, बहुभिरेव समयैः कार्यं निष्पद्यते नैकसमयेनेत्येवंविधवादिनो बहुरताः—जमालिमतानुपातिनः। —औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

था। वह तत्काल उठा, गया और देखा कि बिछौना बिछाया जा रहा है। यह देखकर उसने विचार किया—कार्य एक समय में निष्पन्न नहीं होता, बहुत समयों से होता है। कितनी बड़ी भूल चल रही है कि क्रियमाण को कृत कह दिया जाता है। भगवान् महावीर भी ऐसा कहते हैं। जमालि के मन में इस प्रकार एक मिथ्या विचार बैठ गया। वेदना शान्त होने पर अपने साथी श्रमणों के सक्षम उसने यह विचार रखा। कुछ सहमत हुए, कुछ असहमत। जो सहमत हुए, उसके साथ रहे, जो सहमत नहीं हुए, वे भगवान् महावीर के पास आगये।

जमालि कुछ समय पश्चात् भगवान् महावीर के पास आया। वार्तालाप हुआ। भगवान् महावीर ने उसे समझाया, पर उसने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। धीरे-धीरे उसके साथी उसका साथ छोड़ते गये।

२. **जीवप्रादेशिकवाद**—एक प्रदेश भी कम हो तो जीव जीव-जीवत्वयुक्त नहीं कहा जा सकता, अतएव जिस एक—अन्तिम प्रदेश से पूर्ण होने पर जीव जीव कहलाता है, वह एक प्रदेश ही वस्तुतः जीव है। जीवप्रादेशिकवाद का यह सिद्धान्त था। इसके प्रवर्त्तक तिष्यगुप्ताचार्य थे।[1]

३. **अव्यक्तकवाद**—साधु आदि के सन्दर्भ में यह सारा जगत् अव्यक्त है। अमुक साधु है या देव है, ऐसा कुछ भी स्पष्टतया व्यक्त या प्रकट नहीं होता।[2] यह अव्यक्तकवाद का सिद्धान्त है। इस वाद के प्रवर्तक आचार्य आषाढ माने जाते हैं।

इस वाद के चलने के पीछे एक घटना है। आचार्य आषाढ श्वेतविका नगरी में थे। वे अपने शिष्यों को योग-साधना सिखा रहे थे। अकस्मात् उनका देहान्त हो गया। अपने आयुष्य-बन्ध के अनुसार वे देव हो गये। उन्होंने यह सोचकर कि उनके शिष्यों का अभ्यास अधूरा न रहे, अपने मृत शरीर में प्रवेश किया। यह सब क्षण भर में घटित हो गया। किसी को कुछ भान नहीं हुआ। शिष्यों का अभ्यास पूरा कराकर वे देवरूप में उस देह से बाहर निकले और उन्होंने श्रमणों को सारी घटना बतलाते हुए उनसे क्षमा-याचना की कि देवरूप में असंयत होते हुए भी उन्होंने संयतात्माओं से वन्दन-नमस्कार करवाया। यह कहकर वे अपने अभीष्ट स्थान पर चले गये।

यह देखकर श्रमणों को संदेह हुआ कि जगत् में कौन साधु है, कौन देव है, यह अव्यक्त है। उन्होंने इस एक बात को पकड़ लिया, दुराग्रह-ग्रस्त हो गये। उन श्रमणों से यह वाद चला। इस प्रकार अव्यक्तकवाद के प्रवर्तक वस्तुतः आचार्य आषाढ के श्रमण-शिष्य थे।

---

१. जीवः प्रदेश एवैको येषां मतेन ते जीवप्रदेशाः। एकेनापि प्रदेशेन न्यूनो जीवो न भवत्ययो येनैकेन प्रदेशेन पूर्णः सन् जीवो भवति, स एवैकः प्रदेशः जीवो भवतीत्येवंविधवादिनस्तिष्यगुप्ताचार्यमताविसंवादिनः।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

२. अव्यक्तं समस्तमिदं जगत् साध्वादिविषये श्रमणोऽयं देवो वाऽयमित्यादिविविक्तप्रतिभासोदयाभावात्ततश्चाव्यक्तं यस्त्विति मतमस्ति येषां ते अव्यक्तिकाः, अविद्यमाना वा साध्वादिव्यक्तिरेषामित्यव्यक्तिकाः, आषाढाचार्य-शिष्यमतान्तः पातिनः।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

४. **सामुच्छेदिकवाद**— नारक आदि भावों का एकान्ततः प्रतिक्षण समुच्छेद—विनाश होता रहता है। सामुच्छेदिकवाद का ऐसा अभिमत है। इसके प्रवर्तक अश्वमित्र माने जाते हैं।[1]

इसके प्रवर्तन से सम्बद्ध कथानक इस प्रकार है—

कौण्डिल नामक आचार्य थे। उनके शिष्य का नाम अश्वमित्र था। आचार्य शिष्य को 'पूर्व-ज्ञान' का अभ्यास करा रहे थे। पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था। पर्याय की एक समयवर्तिता प्रसंगोपात्तरूप में समझा रहे थे। प्रथम समय के नारक समुच्छिन्न—विच्छिन्न—होंगे, दूसरे समय के नारक समुच्छिन्न होंगे। पर्यायात्मक दृष्टि से इसी प्रकार सारे जीव समुच्छिन्न होंगे। अश्वमित्र ने सारे सन्दर्भ को यथार्थरूप में न समझते हुए केवल समुच्छेद या समुच्छिन्नता को ही पकड़ लिया। वह दुराग्रही हो गया। उसने सामुच्छेदिकवाद का प्रवर्तन किया।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

५. **द्वैक्रियवाद**—शीतलता और उष्णता आदि की दोनों अनुभूतियाँ एक ही समय में साथ होती हैं, ऐसी मान्यता द्वैक्रियवाद है। गंगाचार्य इसके प्रवर्तक थे।[2]

इसके प्रवर्तन से सम्बद्ध कथा इस प्रकार है—

गङ्ग नामक मुनि धनगुप्त आचार्य के शिष्य थे। वे अपने गुरु को वन्दन करने जा रहे थे। मार्ग में उल्लुका नामक नदी पड़ती थी। मुनि जब उसे पार कर रहे थे, उनके सिर पर सूर्य की उष्ण किरणें पड़ रही थीं, पैरों में पानी की शीतलता का अनुभव हो रहा था।

मुनि गङ्ग सोचने लगे—आगमों में तो बतलाया है, एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति नहीं होती, पर मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ऐसा होता है। तभी तो एक ही साथ मुझे शीतलता एवं उष्णता का अनुभव हो रहा है। वे इस विचार में आग्रहग्रस्त हो गये। उन्होंने दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ होने का सिद्धान्त स्थापित किया।

६. **त्रैराशिकवाद**—त्रैराशिकवादी जीव, अजीव तथा नोजीव—जो जीव भी नहीं, अजीव भी नहीं—ऐसी तीन राशियाँ स्वीकार करते हैं। त्रैराशिकवाद के प्रवर्तक आचार्य रोहगुप्त थे।[3]

इसके प्रवर्तन की कथा इस प्रकार है—रोहगुप्त अन्तरंजिका नामक नगरी में ठहरे हुए थे। वे अपने गुरु आचार्य श्रीगुप्त को वन्दन करने जा रहे थे। पोट्टशाल नामक परिव्राजक अपनी विद्याओं के प्रदर्शन द्वारा लोगों को आश्चर्यान्वित कर रहा था, वाद हेतु सबको चुनौती भी दे रहा था। रोहगुप्त ने पोट्टशाल की चुनौती स्वीकार कर ली। पोट्टशाल वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याएँ साधे हुए

---

१. नारकादिभावानां प्रतिक्षणं समुच्छेदं क्षयं वदन्तीति सामुच्छेदिकाः, अश्वमित्रमतानुसारिणः।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

२. द्वे क्रिये—शीतवेदनोष्णवेदनादिस्वरूपे एकत्र समये जीवोऽनुभवतीत्येवं वदन्ति ये, ते द्वैक्रिया गङ्गाचार्यमतानुवर्तिनः।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

३. त्रीन् राशीन् जीवाजीवनोजीवरूपान् वदन्ति ये, ते त्रैराशिकाः, रोहगुप्तमतानुसारिणः।
—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

था। आचार्य श्रीगुप्त ने रोहगुप्त को मयूरी, नकुली, बिडाली आदि उन विद्याओं को निरस्त करने वाली विद्याएँ सिखला दीं।

राजसभा में चर्चा प्रारम्भ हुई। पोट्टशाल बहुत चालाक था। उसने रोहगुप्त को पराजित करना कठिन समझ कर रोहगुप्त के पक्ष को ही अपना पूर्वपक्ष बना लिया, जिससे रोहगुप्त उसका खण्डन न कर सकें। उसने कहा—जगत् में दो ही राशियाँ हैं—जीवराशि और अजीवराशि। रोहगुप्त असमंजस में पड़ गए। दो राशियों का पक्ष ही उन्हें मान्य था, किन्तु पोट्टशाला को पराजित न करने और उसके पक्ष को स्वीकार कर लेने से अपयश होगा, इस विचार से उन्होंने जीव, अजीव तथा नोजीव—इन तीन राशियों की स्थापना की। तर्क द्वारा अपना मत सिद्ध किया। पोट्टशाला द्वारा प्रयुक्त वृश्चिकी, सर्पी तथा मूषिकी आदि विद्याओं को मयूरी, नकुल एवं बिडाली आदि विद्याओं द्वारा निरस्त कर दिया। पोट्टशाल पराजित हो गया।

रोहगुप्त गुरु के पास आये। सारी घटना उन्हें बतलाई। आचार्य श्रीगुप्त ने रोहगुप्त से कहा कि तीन राशियों की स्थापना कर उसने (रोहगुप्त ने) उचित नहीं किया। यह सिद्धान्तविरुद्ध हुआ। अतः वह वापस राजसभा में जाए और इसका प्रतिवाद करे। रोहगुप्त ने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। वे वैसा नहीं कर सकें। उन्होंने त्रैराशिकवाद का प्रवर्तन किया।

७. अबद्धिकवाद—कर्म जीव के साथ बँधता नहीं, वह केंचुल की तरह जीव का मात्र स्पर्श किये साथ लगा रहता है। अबद्धिकवादी ऐसा मानते हैं। गोष्ठमाहिल इस वाद के प्रवर्तक थे।[1]

इसके प्रवर्तन की कथा इस प्रकार है—

दुर्बलिका पुष्यमित्र, जो आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी थे, अपने विन्ध्य नामक शिष्य को कर्म-प्रवाद के बन्धाधिकार का अभ्यास करा रहे थे। वहाँ यथाप्रसंग कर्म के द्विविध रूप की चर्चा आई—जैसे गीली दीवार पर सटाई गई मिट्टी दीवार से चिपक जाती है, वैसे ही कुछ कर्म ऐसे हैं, जो आत्मा के साथ चिपक जाते हैं, एकाकार हो जाते हैं। जिस प्रकार सूखी दीवार पर सटाई गई मिट्टी केवल दीवार का स्पर्श कर नीचे गिर जाती है, उसी प्रकार कुछ कर्म ऐसे हैं, जो आत्मा का स्पर्श मात्र करते हैं, गाढ रूप में बंधते नहीं। गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वह सशंक हुआ। उसने अपनी शंका उपस्थित की कि यदि आत्मा और कर्म एकाकार हो जाएं तो वे पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। अतः यही न्याय-संगत है कि कर्म आत्मा के साथ बंधते नहीं, आत्मा का केवल संस्पर्श करते हैं। दुर्बलिका पुष्यमित्र ने गोष्ठामाहिल को वस्तु-स्थिति समझाने का प्रयत्न किया पर गोष्ठामाहिल ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा तथा अबद्धिकवाद का प्रवर्तन किया।

बहुरतवाद भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष पश्चात्, जीवप्रादेशिकवाद कैवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात्, अव्यक्तवाद भगवान् महावीर के निर्वाण के एक सौ चौदह वर्ष पश्चात्, सामुच्छेदिकवाद निर्वाण के दो सौ वर्ष पश्चात्, द्वैक्रियवाद निर्वाण के दो सौ अट्ठाईस वर्ष पश्चात्, त्रैराशिकवाद निर्वाण के पाँच सौ चवालीस वर्ष पश्चात् तथा अबद्धिकवाद निर्वाण के छह सौ नौ वर्ष पश्चात् प्रवर्तित हुआ।

---

१. अबद्धं सत् कर्म कञ्चुकवत् पार्श्वतः स्पृष्टमात्रं जीवं समनुगच्छतीत्येवं वदन्तीत्यबद्धिकाः, गोष्ठामाहिलमतावलम्बिनः।

—औपपातिक सूत्र वृत्ति पत्र १०६

जमालि, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल के अतिरिक्त अन्य सभी निह्नव अपनी अपनी भूलों का प्रायश्चित्त लेकर पुनः संघ में सम्मिलित हो गये। जमालि, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल, जो संघ से अन्त तक पृथक् ही रहे, उनकी कोई परम्परा नहीं चली। न उनका कोई साहित्य ही उपलब्ध है।

अल्पारंभी आदि मनुष्यों का उपपात

१२३—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा, सुसीला, सुव्वया, सुप्पडियाणंदा साहूहिं एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया एवं जाव (एगच्चाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया) एगच्चाओ कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायाओ, अरइरइओ, मायामोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया, एगच्चाओ पयणपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ पयणपयावणाओ अपडिविरया, एगच्चाओ कोट्टणपट्टिणतज्जणतालणवहबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरिया, एगच्चाओ ण्हाणमद्दणवण्णगविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया, जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति, तओ वि एगच्चाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया।

१२३—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे अल्पारंभ—अल्प—थोड़ी हिंसा से जीवन चलानेवाले, अल्पपरिग्रह—सीमित धन, धान्य आदि में सन्तोष रखनेवाले, धार्मिक—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का आचरण करनेवाले, धर्मानुग—श्रुतधर्म या आगमानुमोदित धर्म का अनुगमन—अनुसरण करनेवाले धर्मिष्ठ—धर्मप्रिय—धर्म में प्रीति रखनेवाले, धर्माख्यायी—धर्म का आख्यान करनेवाले, भव्य प्राणियों को धर्म बतानेवाले अथवा धर्मख्याति—धर्म द्वारा ख्याति प्राप्त करनेवाले, धर्मप्रलोकी—धर्म को उपादेय रूप में देखनेवाले, धर्मप्ररंजन—धर्म में विशेष रूप से अनुरक्त रहनेवाले, धर्मसमुदाचार—धर्म का सानन्द, सम्यक् आचरण करनेवाले, धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलानेवाले, सुशील—उत्तम शील—आचारयुक्त, सुव्रत—श्रेष्ठ व्रतयुक्त, सुप्रत्यानन्द—आत्मपरितुष्ट; वे साधुओं के पास—साधुओं के साक्ष्य से अंशतः—स्थूल रूप में जीवनभर के लिए हिंसा से, (असत्य से, चोरी से, अब्रह्मचर्य से, परिग्रह से) क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेय से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से, परपरिवाद से, रति-अरति से तथा मिथ्यादर्शनशल्य से प्रतिविरत—निवृत्त होते हैं, अंशतः—सूक्ष्मरूप में अप्रतिविरत—अनिवृत्त होते हैं, अंशतः—स्थूल रूप में जीवन भर के लिए आरम्भ-समारम्भ से विरत होते हैं, अंशतः—सूक्ष्म रूप में अविरत होते हैं, वे जीवन भर के लिए अंशतः किसी क्रिया के करने-कराने से प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं, वे जीवन भर के लिए अंशतः पकाने, पकवाने से प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

होते हैं, वे जीवन भर के लिये कूटने, पीटने, तर्जित करने—कटु वचनों द्वारा भर्त्सना करने, ताड़ना करने, थप्पड़ आदि द्वारा ताड़ित करने, वध—प्राण लेने, बन्ध—रस्सी आदि से बाँधने, परिक्लेश—पीड़ा देने से अंशतः प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं, वे जीवन भर के लिए स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला तथा अलंकार से अंशतः प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं, इसी प्रकार और भी पापमय प्रवृत्ति युक्त, छल-प्रपंच युक्त, दूसरों के प्राणों को कष्ट पहुंचानेवाले कर्मों से जीवन भर के लिए अंशतः प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं।

१२४—तं जहा—समणोवासगा भवंति, अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसला, असहेज्जा, देवासुर-णाग-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा, निग्गंथे पावयणे णिस्संकिया, णिक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता "अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे" ऊसिय-फलिहा, अवंगुयदुवारा, चियत्तंतेउरपुरघरप्पवेसा चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेत्ता समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं, वत्थपडिग्गहकंबलपाय-पुच्छणेणं, ओसहभेसज्जेणं पडिहारएण य पीढफलगसेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा विहरंति, विहरित्ता भत्तं पच्चक्खंति। ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता, समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, बावीसं सागरोवमाइं ठिई, आराहगा, सेसं तहेव।

१२४—ऐसे श्रमणोपासक—गृही साधक होते हैं, जिन्होंने जीव, अजीव आदि पदार्थों का स्वरूप भली भांति समझा है, पुण्य और पाप का भेद जाना है, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध एवं मोक्ष को भली भांति अवगत किया है, जो किसी दूसरे की सहायता के अनिच्छुक हैं—आत्मनिर्भर हैं, जो देव, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देवों द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रवचन से अनतिक्रमणीय—विचलित नहीं किये जा सकने योग्य हैं, निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो निःशंक—शंकारहित, निष्कांक्ष—आत्मोत्थान के अतिरिक्त अन्य आकांक्षा रहित, निर्वि-चिकित्स—विचिकित्सा या संशयरहित, लब्धार्थ—धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किए हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्टार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप में आत्मसात् किये हुए हैं, जो अस्थि और मज्जा तक धर्म के प्रति प्रेम तथा अनुराग से भरे हैं, जिनका यह निश्चित विश्वास है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजनभूत हैं, उच्छ्रित-परिघ—जिनके घर के किवाड़ों के आगल नहीं लगी रहती हो, अपावृतद्वार—जिनके घर के दरवाजे कभी बन्द नहीं रहते हों—भिक्षुक, याचक, अतिथि आदि खाली न लौट जाएं, इस दृष्टि से जिनके घर के दरवाजे सदा खुले रहते हों, त्यक्तान्तःपुरगृहद्वारप्रवेश—शिष्ट जनों के आवागमन के कारण घर के भीतरी भाग में उनका प्रवेश जिन्हें अप्रिय नहीं लगता हो, या अन्तःपुर अथवा घर में जिनका प्रवेश प्रीतिकर हो, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा को परिपूर्ण पौषध का सम्यक् अनुपालन करते हुए, श्रमण-निर्ग्रन्थों को प्रासुक—अचित्त, एषणीय—निर्दोष अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्छन, औषध—जड़ी, बूटी आदि वनौषधि,

भेषज—तैयार औषधि, दवा, प्रतिहारिक—लेकर वापस लौटा देने योग्य वस्तु, पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए घास आदि द्वारा प्रतिलाभित करते हुए विहार करते हैं—जीवन-यापन करते हैं; इस प्रकार का जीवन जीते हुए वे अन्ततः भोजन का त्याग कर देते हैं। बहुत से भोजन-काल अनशन द्वारा विच्छिन्न करते हैं, बहुत दिनों तक निराहार रहते हैं। वैसा कर वे पाप-स्थानों की आलोचना करते हैं, उनसे प्रतिक्रान्त होते हैं—प्रतिक्रमण करते हैं। यों समाधि अवस्था प्राप्त कर मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्टतः अच्युत कल्प में वे देव रूप में उत्पन्न होते हैं। अपने स्थान के अनुरूप वहाँ उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

१२५—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अणारंभा, अपरिग्गहा धम्मिया जाव (धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मपलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा सुसीला, सुव्वया, सुपडियाणंदा, साहू, सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया, जाव (सव्वाओ मुसावायाओ पडिविरया, सव्वाओ, अदिण्णादाणाओ पडिविरया, सव्वाओ मेहुणाओ पडिविरया) सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया, सव्वाओ, कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोभाओ जाव (पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायाओ, अरइरईओ, मायामोसाओ) मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया, सव्वाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया, सव्वाओ करणकारावणाओ पडिविरिया, सव्वाओ पयणपयावणाओ पडिविरया, सव्वाओ कोट्टणपिट्टणतज्जण-तालणवहबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया, सव्वाओ ण्हाण-मद्दण-वण्णग-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकाराओ पडिविरया, जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए।

१२५—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे—अनारंभ—आरंभरहित, अपरिग्रह—परिग्रहरहित, धार्मिक, (धर्मानुग, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायी, धर्मप्रलोकी, धर्मप्ररंजन, धर्म-समुदाचार, धर्मपूर्वक जीविका चलाने वाले,) सुशील, सुव्रत, स्वात्मपरितुष्ट, वे साधुओं के सान्निध्य से जीवन भर के लिए सम्पूर्णतः—सब प्रकार की हिंसा, सम्पूर्णतः असत्य, सम्पूर्णतः चोरी, सम्पूर्णतः अब्रह्मचर्य तथा सम्पूर्णतः परिग्रह से प्रतिविरत होते हैं, सम्पूर्णतः क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, (प्रेय से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से परपरिवाद से अरति-रति से, मायामृषा से,) मिथ्यादर्शनशल्य से प्रतिविरत होते हैं, सब प्रकार के आरंभ-समारंभ से प्रतिविरत होते हैं, करने, तथा कराने से संपूर्णतः प्रतिविरत होते हैं, पकाने एवं पकवाने से सर्वथा प्रतिविरत होते हैं, कूटने, पीटने, तर्जित करने, ताडित करने, किसी के प्राण लेने, रस्सी आदि से बाँधने एवं किसी को कष्ट देने से सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं, स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला, और अलंकार से सम्पूर्ण रूप में प्रतिविरत होते हैं, इसी प्रकार और भी पाप-प्रवृत्तियुक्त, छल-प्रपंचयुक्त, दूसरों के प्राणों को कष्ट पहुंचाने वाले कर्मों से जीवन भर के लिए सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं।

अनारंभी श्रमण

१२६—से जहाणामए अणगारा भवंति—इरियासमिया, भासासमिया, जाव (एसणासमिया

---

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिया, उच्चारपासवण-खेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणियासमिया, मणगुत्ता, वयगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिदिया, गुत्तबंभयारी, अममा, अकिंचणा, छिण्णग्गंथा, छिण्णसोया, निरुवलेवा, कंसपाईव मुक्कतोया, संख इव निरंगणा, जीवो इव अप्पडिहयगई, जच्चकणगं पिव जायरूवा, आदरिसफलगा इव पागडभावा, कुम्मो इव गुत्तिदिया, पुक्खरपत्तं इव निरुवलेवा, गगणमिव निरालंबणा, अणिलो इव निरालया, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, सागरो इव गंभीरा, विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का, मंदरा इव अप्पकंपा, सारयसलिलं इव सुद्धहियया, खग्गिविसाणं इव एगजाया, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसभो इव जायत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंता) इणमेव निग्गंथं पावयणं पुरओकाउं विहरंति।

१२६—वे अनगार—श्रमण ऐसे होते हैं, जो ईर्या—गमन, हलन-चलन आदि क्रिया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने आदि में, मल, मूत्र, खंखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील होते हैं, जो मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त—मन, वचन तथा शरीर को क्रियाओं का गोपायन—संयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयों में रागरहित—अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को उनके विषय-व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त ब्रह्मचारी—नियमोपनियम पूर्वक ब्रह्मचर्य का संरक्षण—परिपालन करने वाले, अमम—ममत्वरहित, अकिञ्चन—परिग्रहरहित, छिन्नग्रन्थ—संसार से जोड़नेवाले पदार्थों से विमुक्त, छिन्नस्रोत—लोक-प्रवाह में नहीं बहनेवाले या आस्रवों को रोक देने वाले, निरुपलेप—कर्म-बन्ध के लेप से रहित, कांसे के पात्र में जैसे पानी नहीं लगता, उसी प्रकार स्नेह, आसक्ति आदि के लगाव से रहित, शंख के समान निरंगण—राग आदि की रंजनात्मकता से शून्य—शंख जैसे सम्मुखीन रंग से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार सम्मुखीन क्रोध, द्वेष, राग, प्रेम, प्रशंसा, निन्दा आदि से अप्रभावित, जीव के समान अप्रतिहत—प्रतिघात या निरोध रहित गतियुक्त, जात्य—उत्तम जाति के, विशोधित, अन्य कुधातुओं से अमिश्रित शुद्ध स्वर्ण के समान जातरूप—प्राप्त निर्मल चारित्र्य में उत्कृष्ट भाव से संस्थित—निर्दोष चारित्र्य के प्रतिपालक, दर्पणपट्ट के सदृश प्रकट भाव—प्रवंचना, छलना व कपट रहित शुद्ध भाव युक्त, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को विषयों से खींच कर निवृत्ति-भाव में संस्थित रखने वाले, कमलपत्र के समान निर्लेप, आकाश के सदृश निरालम्ब—निरपेक्ष, वायु की तरह निरालय—गृहरहित, चन्द्रमा के समान सौम्य लेश्यायुक्त—सौम्य, सुकोमल-भाव-संवलित, सूर्य के समान दीप्त तेज—दैहिक तथा आत्मिक तेज युक्त, समुद्र के समान गम्भीर, पक्षी की तरह सर्वथा विप्रमुक्त—मुक्तपरिकर, अनियतवास—परिवार, परिजन आदि से मुक्त तथा निश्चित निवास रहित, मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प—अनुकूल, प्रतिकूल स्थितियों में, परिषहों में अविचल, शरद् ऋतु के जल से समान शुद्ध हृदय युक्त, गेंडे के सींग के समान एक जात—राग आदि विभावों से रहित, एकमात्र आत्मनिष्ठ, भारन्ड[1] पक्षी के समान अप्रमत—प्रमादरहित, जागरूक, हाथी के सदृश शौण्डीर—कषाय आदि को जीतने में शक्तिशाली, बलोन्नत, वृषभ के समान धैर्यशील—सुस्थिर,

---

१. ऐसी मान्यता है—भारण्ड पक्षी के एक शरीर, दो सिर तथा तीन पैर होते हैं। उसकी दोनों ग्रीवाएँ अलग-अलग होती हैं। यों वह दो पक्षियों का समन्वित रूप लिये होता है। उसे अपने जीवन-निर्वाह हेतु खानपान आदि क्रियाओं में अत्यन्त प्रमादरहित या जागरूक रहना होता है।

सिंह के सदृश दुर्धर्ष—परिषहों, कष्टों से अपराजेय, पृथ्वी के समान सभी शीत, उष्ण, अनुकूल, प्रतिकूल स्पर्शों को समभाव से सहने में सक्षम तथा घृत द्वारा भली भाँति हुत—हवन की हुई अग्नि के समान तेज से जाज्वल्यमान—ज्ञान तथा तप के तेज से दीप्तिमान् होते हैं, निर्ग्रन्थ-प्रवचन—वीत-राग-वाणी—जिन-आज्ञा को सम्मुख रखते हुए विचरण करते हैं—ऐसे) पवित्र आचारयुक्त जीवन का सन्निर्वाह करते हैं।

१२७—तेसि णं भगवंताणं एएणं विहारेणं विहरमाणाणं अत्थेगइयाणं अणंते जाव (अणुत्तरे, णिव्वाघाए, निरावरणे कसिणे, पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जइ। ते बहूइं वासाइं केवलि-परियागं पाउणंति, पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खंति, भत्तं पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे जाव (मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणए, केसलोए, बंभचेरवासे, अच्छत्तगं, अणोवाहणगं, भूमिसेज्जा, फलहसेज्जा, कट्ठसेज्जा, परघरपवेसो लद्धावलद्धं, परेहिं हीलणाओ, खिसणाओ, निंदणाओ, गरहणाओ तालणाओ, तज्जणाओ, परिभवणाओ, पव्वहणाओ, उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सास-णिस्सासेहिं सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं) अंतं करेंति।

१२७—ऐसी चर्या द्वारा संयमी जीवन का सन्निर्वाह करने वाले पूजनीय श्रमणों में से कइयों को अनन्त—अन्तरहित, (अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, निर्व्याघात—बाधारहित या व्यवधानरहित, निरावण—आवरणरहित, कृत्स्न—समग्र—सर्वार्थग्राहक, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण—अपने समस्त अविभागी अंशों से युक्त) केवलज्ञान, केवलदर्शन समुत्पन्न होता है। वे बहुत वर्षों तक केवलिपर्याय का पालन करते हैं— कैवल्य-अवस्था में विचरण करते हैं। अन्त में आहार का परित्याग करते हैं, अनशन सम्पन्न कर (जिस लक्ष्य के लिए नग्नभाव—शरीर-संस्कार सम्बन्धी औदासीन्य, मुण्डभाव—श्रामण्य, अस्नान, अदन्तवन, केश-लुंचन, ब्रह्मचर्यवास, छत्र—छाते तथा उपानह—जूते, पादरक्षिका का अग्रहण, भूमि, फलक व काष्ठपट्टिका पर शयन, प्राप्त, अप्राप्त की चिन्ता किए बिना भिक्षा हेतु परगृहप्रवेश, अवज्ञा, अपमान, निन्दा, गर्हा, तर्जना, ताड़ना, परिभव, प्रव्यथा, अनेक इन्द्रिय-कष्ट, बाईस प्रकार के परिषह एवं उपसर्ग आदि स्वीकार किये, उस लक्ष्य को पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वृत होते है,) सब दुःखों का अन्त करते हैं।

१२८—जेसि पि य णं एगइयाणं णो केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जइ, ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्तं पच्चक्खंति। ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे जाव[1] तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं ऊसासणीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं, निव्वाघायं, निरावरणं, कसिणं, पडिपुण्णं केवलवरनाणदंसणं उप्पादेंति, तओ पच्छा सिज्झिहिंति जाव[2] अंतं करेहिंति।

१२८—जिन कइयों—कतिपय अनगारों को केवलज्ञान, केवलदर्शन, उत्पन्न नहीं होता, वे बहुत वर्षों तक छद्मस्थ-पर्याय—कर्मावरणयुक्त अवस्था में होते हुए संयम-पालन करते हैं—साधना

१. देखें सूत्र-संख्या १२७

२. देखें सूत्र-संख्या १२७

रत रहते हैं। फिर किसी आबाध—रोग आदि विघ्न के उत्पन्न होने पर या न होने पर भी वे भोजन का परित्याग कर देते हैं। बहुत दिनों का अनशन करते हैं। अनशन सम्पन्न कर, जिस लक्ष्य से कष्ट-पूर्ण संयम-पथ स्वीकार किया, उसे आराधित कर—प्राप्त कर—पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं, सब दुःखों का अन्त करते हैं।

१२९—एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तेतीसं सागरोवमाइं ठिई, आराहगा, सेसं तं चेव।

१२९—कई एक ही भव करने वाले—भविष्य में केवल एक ही बार मनुष्य-देह धारण करने वाले भगवन्त—भक्ता-अनुष्ठानविशेषसेवी अथवा भयत्राता—संयममयी साधना द्वारा संसार-भय से अपना परित्राण करने वाले—सांसारिक मोह-माया से अव्याप्त या अप्रभावित साधक जिनके पूर्व-संचित कर्मों में से कुछ क्षय अवशेष है—उनके कारण, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। शेष पूर्ववत्।

सर्वकामादिविरत मनुष्यों का उपपात

१३०—सेज्जे इमे गामागर जाव[1] सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—सव्वकामविरया, सव्वरागविरया, सव्वसंगातीता, सव्वसिणेहाइक्कंता, अक्कोहा, निक्कोहा, खीणक्कोहा एवं माणमाय-लोहा, अणुपुव्वेणं अट्ठ कम्मपयडीओ खवेत्ता उप्पिं लोयग्गपइट्ठाणा हवंति।

१३०—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे—सर्वकामविरत—शब्द आदि समस्त काम्य विषयों से निवृत्त—उत्सुकता रहित, सर्वरागविरत—सब प्रकार के राग परिणामों से विरत, सर्व संगातीत—सब प्रकार की आसक्तियों से हटे हुए, सर्वस्नेहातिक्रान्त—सब प्रकार के स्नेह—प्रेमानुराग से रहित, अक्रोध—क्रोध को विफल करने वाले, निष्क्रोध—जिन्हें क्रोध आता ही नहीं—क्रोधोदयरहित, क्षीणक्रोध—जिनका क्रोधमोहनीय कर्म क्षीण हो गया हो, इसी प्रकार जिनके मान, माया, लोभ क्षीण हो गये हों, वे आठों कर्म-प्रकृतियों का क्षय करते हुए लोकाग्र—लोक के अग्र-भाग में प्रतिष्ठित होते हैं—मोक्ष प्राप्त करते हैं।

केवलि-समुद्घात

१३१—अणगारे णं भंते! भावियप्पा केवलिसमुग्घाएणं समोहणित्ता, केवलकप्पं लोयं फुसित्ता णं चिट्ठइ?

हंता, चिट्ठइ।

१३१—भगवन्! भावितात्मा—अध्यात्मानुगत अनगार केवलि-समुद्घात द्वारा आत्मप्रदेशों को देह से बाहर निकाल कर, क्या समग्र लोक का स्पर्श कर स्थित होते हैं?

हाँ, गौतम! स्थित होते हैं।

---

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१३२—से णूणं भंते ! केवलकप्पे लोए तेहिं निज्जरापोग्गलेहिं फुडे ?

हंता फुडे ।

१३२—भगवन् ! क्या उन निर्जरा-प्रधान—अकर्मावस्था प्राप्त पुद्गलों से—खिरे हुए पुद्गलों से समग्र लोक स्पृष्ट—व्याप्त होता है ?

हाँ, गौतम ! होता है ।

१३३—छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं, गंधेणं गंधं, रसेणं रसं, फासेणं फासं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

१३३—भगवन् ! छद्मस्थ—कर्मावरणयुक्त, विशिष्टज्ञानरहित मनुष्य क्या उन निर्जरा-पुद्गलों के वर्णरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रस को तथा स्पर्शरूप से स्पर्श को जानता है ? देखता है ?

गौतम ! ऐसा संभव नहीं है ।

१३४—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि वण्णेणं वण्णं जाव (गंधेणं गंधं, रसेणं रसं, फासेणं फासं) जाणइ, पासइ ।

१३४—भगवन् ! यह किस अभिप्राय से कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुद्गलों के वर्णरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रस को तथा स्पर्शरूप से स्पर्श को जरा भी नहीं जानता, नहीं देखता ।

१३५—गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए, सव्वखुड्डाए, वट्टे, तेलापूयसंठाणसंठिए वट्टे, रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे, पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे, पडिपुण्ण-चंदसंठाणसंठिए एक्कं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलियं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते ।

१३५—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप सभी द्वीपों तथा समुद्रों के बिलकुल बीच में स्थित है । यह आकार में सबसे छोटा है, गोल है । तैल में पके हुए पूए के समान गोल है । रथ के पहिये के आकार के सदृश गोल है । कमल-कर्णिका—कमल के बीज-कोष की तरह गोल है । पूर्ण चन्द्रमा के आकार के समान गोलाकार है । एक लाख योजन-प्रमाण लम्बा-चौड़ा है । इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष तथा साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक बतलाई गई है ।

१३६—देवे णं महिड्ढीए, महज्जुतीए, महब्बले, महाजसे, महासुक्खे, महाणुभावे सविलेवणं गंधसमुग्गयं गिण्हइ, गिहित्ता तं अवदालेइ, अवदालित्ता जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छराणिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१३६—एक अत्यधिक ऋद्धिमान्, द्युतिमान्, अत्यन्त बलवान्, महायशस्वी, परम सुखी, बहुत प्रभावशाली देव चन्दन, केसर आदि विलेपनोचित सुगन्धित द्रव्य से परिपूर्ण डिब्बा लेता है, लेकर उसे खोलता है, खोलकर—उस सुगन्धित द्रव्य को सर्वत्र बिखेरता हुआ तीन चुटकी बजाने जितने समय में समस्त जम्बूद्वीप की इक्कीस परिक्रमाएँ कर तुरन्त आ जाता है।[1]

१३७—से णूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे तेहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ?

हंता फुडे।

१३७—क्या समस्त जम्बूद्वीप उन घ्राण-पुद्गलों—गन्ध-परमाणुओं से स्पृष्ट—व्याप्त होता है ?

हाँ, भगवन् ! होता है।

१३८—छउमत्थे णं गोयमा ! मणुस्से तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं जाव[2] जाणइ, पासइ ?

भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे।

१३८—गौतम ! क्या छद्मस्थ मनुष्य घ्राण-पुद्गलों को वर्ण रूप से वर्ण आदि को जरा भी जान पाता है ? देख पाता है ?

भगवन् ! ऐसा संभव नहीं है।

१३९—से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाणं णो किंचि वण्णेणं वण्णं जाव[3] जाणइ, पासइ।

१३९—गौतम ! इस अभिप्राय से यह कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुद्गलों के वर्णरूप से वर्ण आदि को जरा भी नहीं जानता, नहीं देखता।

१४०—सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता, समणाउसो ! सव्वलोयं पि य णं ते फुसित्ता णं चिट्ठंति।

१४०—आयुष्मान् श्रमण ! वे पुद्गल इतने सूक्ष्म कहे गये हैं। वे समग्र लोक का स्पर्श कर स्थित रहते हैं।

केवली-समुद्घात का हेतु

१४१—कम्हा णं भंते ! केवली समोहणंति ? कम्हा णं केवली समुग्घायं गच्छंति ?

---

१. 'जाव इणामेवेत्तिकट्टु' त्ति यावदिति परिमाणार्थस्तावदित्यस्य गम्यमानस्य सव्यपेक्षः, 'इणामेव' त्ति इदं गमनम्, एवमिति चप्पुटिकारूपशीघ्रत्वावेदकहस्तव्यापारोपदर्शनपरः, अनुस्वाराश्रयणं च प्राकृतत्वात्, द्विर्वचनं च शीघ्रतातिशयोपदर्शनपरम्, इति रूपप्रदर्शनार्थः। —औपपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र १०९

२. देखें सूत्र-संख्या १३३

३. देखें सूत्र-संख्या १३३

गोयमा ! केवली णं चत्तारि कम्मंसा अपलिक्खीणा भवंति, तं जहा—१. वेयणिज्जं, २. आउयं, ३. णामं, ४. गोत्तं। सव्वबहुए से वेयणिज्जे कम्मे भवइ। सव्वत्थोए से आउए कम्मे भवइ। विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य, विसमसमकरणयाए बंधणेहिं ठिईहि य। एवं खलु केवली समोहणंति, एवं खलु केवली समुग्घायं गच्छंति।

१४१—भगवन् ! केवली किस कारण समुद्घात करते हैं—आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण करते हैं।

गौतम ! केवलियों के वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र—ये चार कर्मांश अपरिक्षीण होते हैं—सर्वथा क्षीण नहीं होते, उनमें वेदनीय कर्म सबसे अधिक होता है, आयुष्य कर्म सबसे कम होता है, बन्धन एवं स्थिति द्वारा विषम कर्मों को वे सम करते हैं। यों बन्धन और स्थिति से विषम कर्मों को सम करने हेतु केवली आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण करते हैं, समुद्घात करते हैं।

१४२—सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे;

अकित्ता णं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा।
जरामरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया॥

१४२—भगवन् ! क्या सभी केवली समुद्घात करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता।

समुद्घात किये बिना ही अनन्त केवली, जिन—वीतराग (जन्म,) वृद्धावस्था तथा मृत्यु से विप्रमुक्त—सर्वथा रहित होकर सिद्धि—सिद्धावस्था रूप सर्वोत्कृष्ट गति को प्राप्त हुए हैं।

समुद्घात का स्वरूप

१४३—कइसमए णं भंते ! आउज्जीकरणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते।

१४३—भगवन् ! आवर्जीकरण—उदीरणावलिका में कर्मप्रक्षेप व्यापार—कर्मों को उदयावस्था में लाने का प्रक्रियाक्रम कितने समय का कहा गया है ?

गौतम् ! वह असंख्येय समयवर्ती अन्तर्मुहूर्त का कहा गया है।

१४४—केवलिसमुग्घाए णं भंते। कइसमइए पण्णत्ते ?

गोयमा ! अट्ठसमइए पण्णत्ते। तं जहा—पढमे समए दंडं करेइ, बिईए समए कवाडं करेइ, तइए समए मंथं करेइ, चउत्थे समये लोयं पूरेइ, पंचमे समए लोयं पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ। तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।

१४४—भगवन् ! केवली-समुद्घात कितने समय का कहा गया है ?

गौतम ! केवली-समुद्घात आठ समय का कहा गया है। जैसे—पहले समय में केवली आत्म-

प्रदेशों को विस्तीर्ण कर दण्ड के आकार में करते हैं अर्थात् पहले समय में उनके आत्मप्रदेश ऊर्ध्व-लोक तथा अधोलोक के अन्त तक प्रसृत होकर दण्डाकार हो जाते हैं। दूसरे समय में वे (केवली) आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण कर कपाटाकार करते हैं—आत्मप्रदेश पूर्व तथा पश्चिम दिशा में फैलकर कपाट का आकार धारण कर लेते हैं। तीसरे समय में केवली उन्हें विस्तीर्ण कर मन्थानाकार करते हैं—आत्मप्रदेश दक्षिण तथा उत्तर दिशा में फैलकर मथानी का आकार ले लेते हैं। चौथे समय केवली लोकशिखर सहित इनके अन्तराल की पूर्ति हेतु आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण करते हैं। पांचवें समय में अन्तराल स्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं—वापस संकुचित करते हैं। छठे समय में मन्थानी के आकार में अवस्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं। सातवें समय में कपाट के आकार में स्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं। आठवें समय में दण्ड के आकार में स्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं। तत्पश्चात् वे (पूर्ववत्) शरीरस्थ हो जाते हैं।

१४५—से णं भंते ! तथा समुग्घायं गए किं मणजोगं जुंजइ ? वयजोगं जुंजइ ? कायजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! णो मणजोगं जुंजइ, णो वयजोगं जुंजइ, कायजोगं जुंजइ।

१४५—भगवन् ! समुद्घातगत—समुद्घात में प्रवर्तमान केवली क्या मनोयोग का प्रयोग करते हैं ? क्या वचन-योग का प्रयोग करते हैं ? क्या काय-योग का प्रयोग करते हैं ?

गौतम ! वे मनोयोग का प्रयोग नहीं करते। वचन-योग का प्रयोग नहीं करते। वे काय-योग का प्रयोग करते हैं। अर्थात् वे मानसिक तथा वाचिक कोई क्रिया न कर केवल कायिक क्रिया करते हैं।

१४६—कायजोगं जुंजमाणे किं ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ ? ओरालियमिस्ससरीर-कायजोगं जुंजइ ? वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ ? वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? आहारग-सरीरकायजोगं जुंजइ ? आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? कम्मसरीरकायजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं पि जुंजइ, णो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ, णो वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, णो आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, णो आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, कम्मसरीर-कायजोगं पि जुंजइ, पढमट्ठमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, बिइयछट्ठसत्तमेसु समएसु ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, तइयचउत्थपंचमेहिं कम्मसरीरकायजोगं जुंजइ ?

१४६—भगवन् ! काय-योग को प्रयुक्त करते हुए क्या वे औदारिक-शरीर-काय-योग का प्रयोग करते हैं—औदारिक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या औदारिक-मिश्र—औदारिक और कार्मण—दोनों शरीरों से क्रिया करते हैं ? क्या वैक्रिय शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या वैक्रिय-मिश्र—कार्मण-मिश्रित या औदारिक-मिश्रित वैक्रिय शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या आहारक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या आहारक-मिश्र—औदारिक-मिश्रित आहारक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या कार्मण शरीर से क्रिया करते हैं ? अर्थात् सात प्रकार के काययोग में से किस काययोग का प्रयोग करते हैं ?

गौतम ! वे औदारिक-शरीर-काय-योग का प्रयोग करते हैं, औदारिक-मिश्र शरीर से भी क्रिया करते हैं। वे वैक्रिय शरीर से क्रिया नहीं करते। वैक्रिय-मिश्र शरीर से क्रिया नहीं करते। आहारक शरीर से क्रिया नहीं करते। आहारक-मिश्र शरीर से भी क्रिया नहीं करते। अर्थात् इन कायिक योगों का वे प्रयोग नहीं करते। पर औदारिक तथा औदारिक-मिश्र के साथ-साथ कार्मण-शरीर-काय-योग का भी प्रयोग करते हैं।

पहले और आठवें समय में वे औदारिक शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं। दूसरे, छठे और सातवें समय में वे औदारिक मिश्र शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं। तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में वे कार्मण शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं।

समुद्घात के पश्चात् योग-प्रवृत्ति

१४७—से णं भंते ! तहा समुग्घायगए सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ?

णो इणट्ठे समट्ठे ?

से णं तओ पडिणियत्तइ, पडिणियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता तओ पच्छा मणजोगं पि जुंजइ, वयजोगं पि जुंजइ, कायजोगं पि जुंजइ।

१४७—भगवन् ! क्या समुद्घातगत—समुद्घात करने के समय कोई सिद्ध होते हैं ? बुद्ध होते हैं ? मुक्त होते हैं ? परिनिर्वृत होते हैं—परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं ? सब दुःखों का अन्त करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता। वे उससे—समुद्घात से वापस लौटते हैं। लौटकर अपने ऐहिक—मनुष्य शरीर में आते हैं—अवस्थित होते हैं। तत्पश्चात् मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग का भी प्रयोग करते हैं—मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया भी करते हैं।

१४८—मणजोगं जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजइ ? मोसमणजोगं जुंजइ ? सच्चामोसमणजोगं जुंजइ ? असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजइ, णो मोसमणजोगं जुंजइ, णो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं पि जुंजइ।

१४८—भगवन् ! मनोयोग का उपयोग करते हुए क्या सत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या मृषा—असत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या सत्य-मृषा—सत्य-असत्य मिश्रित (जिसका कुछ अंश सत्य हो, कुछ असत्य हो ऐसे) मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या अ-सत्य-अ-मृषा—न सत्य, न असत्य—व्यवहार-मनोयोग का उपयोग करते हैं ?

गौतम ! वे सत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं। असत्य मनोयोग का उपयोग नहीं करते। सत्य-असत्य-मिश्रित मनोयोग का उपयोग नहीं करते। किन्तु अ-सत्य-अ-मृषा-मनोयोग—व्यवहार मनोयोग का वे उपयोग करते हैं।

विवेचन—मन की प्रवृत्ति मनोयोग है। द्रव्य-मनोयोग तथा भाव-मनोयोग के रूप में वह दो प्रकार का है। मन की प्रवृत्ति हेतु मनोवर्गणा के जो पुद्गल संगृहीत किये जाते हैं, उन्हें द्रव्य-मनोयोग कहा जाता है। उन गृहीत पुद्गलों के सहयोग से आत्मा जो मननात्मक प्रवृत्ति; वर्तमान, भूत, भविष्य आदि के सन्दर्भ में चिन्तन, मनन, विमर्श आदि करती है, उसे भाव-मनोयोग कहा जाता है। केवली में इसका सद्भाव नहीं रहता।

जैसा प्रस्तुत सूत्र में संकेतित हुआ है, मनोयोग चार प्रकार का है—

१. सत्य मनोयोग, २. असत्य मनोयोग, ३. सत्य-असत्य-मिश्रित मनोयोग तथा ४. व्यवहार मनोयोग—मन की वैसी व्यावहारिक आदेश, निर्देश आदि से सम्बद्ध प्रवृत्ति, जो सत्य भी नहीं होती, असत्य भी नहीं होती।

१४९—वयजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजइ ? मोसवइजोगं जुंजइ ? सच्चामोसवइजोगं जुंजइ ? असच्चामोसवइजोगं जुंजइ ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजइ, णो मोसवइजोगं जुंजइ, णो सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ।

१४९—भगवन् ! वाक्योग को प्रयुक्त करते हुए—वचन-क्रिया में प्रवृत्त होते हुए क्या सत्य वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं। क्या मृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं ? क्या सत्य-मृषा-वाक् योग को प्रयुक्त करते हैं ? क्या असत्य-अमृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं ?

गौतम ! वे सत्य-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं। मृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त नहीं करते। न वे सत्य-मृषा-वाक्-योग को ही प्रयुक्त करते हैं। वे असत्य-अमृषा-वाक्-योग—व्यवहार-वचन-योग को भी प्रयुक्त करते हैं।

१५०—कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, उल्लंघेज्ज वा, पलंघेज्ज वा, उक्खेवणं वा, अवक्खेवणं वा, तिरियक्खेवणं वा करेज्जा पाडिहारियं वा पीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जा।

१५०—वे काययोग को प्रवृत्त करते हुए आगमन करते हैं, स्थित होते हैं—ठहरते हैं, बैठते हैं, लेटते हैं, उल्लंघन करते हैं—लांघते हैं, प्रलंघन करते हैं—विशेष रूप से लांघते हैं, उत्क्षेपण करते हैं—हाथ आदि को ऊपर करते हैं, अवक्षेपण करते हैं—नीचे करते हैं तथा तिर्यक् क्षेपण करते हैं—तिरछे या आगे-पीछे करते हैं। अथवा ऊँची, नीची और तिरछी गति करते हैं। काम में ले लेने के बाद प्रातिहारिक—वापस लौटाने योग्य उपकरण—पट्ट, शय्या, संस्तारक आदि लौटाते हैं।

योग-निरोध : सिद्धावस्था

१५१—से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ, जाव (बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ, सव्व-दुक्खाणं) अंतं करेइ ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

१५१—भगवन् ! क्या सयोगी—मन, वचन तथा काय योग से युक्त सिद्ध होते हैं ? (बुद्ध होते हैं ? मुक्त होते हैं ? परिनिर्वृत्त होते हैं—परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं ?) सब दुःखों का अन्त करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१५२—से णं पुव्वामेव सण्णिस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुण-परिहीणं पढमं मणजोगं निरुंभइ, तयाणंतरं च णं बिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं विइयं वइजोगं निरुंभइ, तयाणंतरं च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णजोगस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तइयं कायजोगं णिरुंभइ।

१५२—वे सबसे पहले पर्याप्त—आहार आदि पर्याप्ति युक्त, संज्ञी—समनस्क पंचेन्द्रिय जीव के जघन्य मनोयोग के नीचे के स्तर से असंख्यातगुणहीन मनोयोग का निरोध करते हैं। अर्थात् इतना मनोव्यापार उनके बाकी रहता है। उसके बाद पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव के जघन्य वचन-योग के नीचे के स्तर से असंख्यातगुणहीन वचन-योग का निरोध करते हैं। तदनन्तर अपर्याप्त—आहार आदि पर्याप्तिरहित सूक्ष्म पनक—नीलन-फूलन जीव के जघन्य योग के नीचे के स्तर से असंख्यात-गुणहीन काय-योग का निरोध करते हैं।

१५३—से णं एएणं उवाएणं पढमं मणजोगं निरुंभइ, मणजोगं निरुंभित्ता वयजोगं निरुंभइ, वयजोगं निरुंभित्ता कायजोगं निरुंभइ, कायजोगं निरुंभित्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगत्तं पाउणइ, अजोगत्तणं पाउणित्ता ईसिं हस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढियं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जेहिं गुणसेढीहिं अणंते कम्मंसे खवयंते वेयणिज्जाउयणामगोए इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ, खवित्ता ओरालियतेय-कम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहइ, विप्पजहित्ता उज्जुसेढीपडिवण्णे अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ।

१५३—इस उपाय या उपक्रम द्वारा वे पहले मनोयोग का निरोध करते हैं। मनोयोग का निरोध कर वचन-योग का निरोध करते हैं। वचन-योग का निरोध कर काय-योग का निरोध करते हैं। काय-योग का निरोध कर सर्वथा योगनिरोध करते हैं—मन, वचन तथा शरीर से सम्बद्ध प्रवृत्तिमात्र को रोकते हैं। इस प्रकार योग-निरोध कर वे अयोगत्व—अयोगावस्था प्राप्त करते हैं। अयोगावस्था प्राप्तकर ईषत्स्पृष्ट पांच ह्रस्व अक्षर—अ, इ, उ, ऋ, ऌ के उच्चारण के असंख्यात कालवर्ती अन्तर्मुहूर्त तक होने वाली शैलेशी अवस्था—मेरुवत् अप्रकम्प दशा प्राप्त करते हैं। उस शैलेशी-काल में पूर्वरचित गुण-श्रेणी के रूप में रहे कर्मों को असंख्यात गुण-श्रेणियों में अनन्त कर्मांशों के रूप में क्षीण करते हुए वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र—इन चारों कर्मों का युगपत्—एक साथ क्षय करते हैं। इन्हें क्षीण कर औदारिक, तैजस तथा कार्मण शरीर का पूर्ण रूप से परित्याग कर देते हैं। वैसा कर ऋजु श्रेणिप्रतिपन्न हो—आकाश-प्रदेशों की सीधी पंक्ति का अवलम्बन कर अस्पृश्यमान गति द्वारा एक समय में ऊर्ध्व-गमन कर—ऊँचे पहुँच साकारोपयोग—ज्ञानोपयोग में सिद्ध होते हैं।

सिद्धों का स्वरूप

१५४—ते णं तत्थ सिद्धा हवंति सादीया, अपज्जवसिया, असरीरा, जीवघणा, दंसणनाणोवउत्ता, निट्ठियट्ठा, निरेयणा, नीरया, णिम्मला, वितिमिरा, विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति।

१५४—वहाँ—लोकाग्र में सादि—मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदिसहित, अपर्यवसित—अन्तरहित, अशरीर—शरीररहित, जीवघन—घनरूप—सघन अवगाढ आत्मप्रदेश युक्त, ज्ञानरूप साकार तथा दर्शन रूप अनाकार उपयोग सहित, निष्ठितार्थ—कृतकृत्य, सर्व प्रयोजन समाप्त किये हुए, निरेजन—निश्चल, स्थिर या निष्प्रकम्प, नीरज—कर्मरूप रज से रहित—बध्यमान कर्मवर्जित, निर्मल—मलरहित—पूर्वबद्ध कर्मों से विनिर्मुक्त, वितिमिर—अज्ञानरूप अन्धकार रहित, विशुद्ध—परम शुद्ध—कर्मक्षयनिष्पन्न आत्मशुद्धियुक्त सिद्ध भगवान् भविष्य में शाश्वतकाल पर्यन्त (अपने स्वरूप में) संस्थित रहते हैं।

१५५—से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया, अपज्जवसिया जाव (असरीरा, जीवघणा, दंसणनाणोवउत्ता, निट्ठियट्ठा, निरेयणा, नीरया, णिम्मला, वितिमिरा, विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं) चिट्ठंति।

गोयमा! से जहाणामए बीयाणं अग्गिदड्ढाणं पुणरवि अंकुरुप्पत्ती ण भवइ, एवामेव सिद्धाणं कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया, अपज्जवसिया जाव[1] चिट्ठंति।

१५५—भगवान्! वहाँ वे सिद्ध होते हैं, सादि—मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदि-सहित, अपर्यवसित—अन्तरहित, (अशरीर—शरीर-रहित, जीवघन—घनरूप—अवगाहरूप आत्म-प्रदेशयुक्त, दर्शनज्ञानोपयुक्त—दर्शन रूप अनाकार तथा ज्ञानरूप साकार उपयोग सहित, निष्ठितार्थ—कृतकृत्य, सर्व प्रयोजन समाप्त किये हुए, निरेजन—निश्चल, स्थिर या निष्प्रकम्प, नीरज—कर्मरूप रज से रहित—बध्यमान कर्म-वर्जित, निर्मल—मलरहित—पूर्वबद्ध कर्मों से विनिर्मुक्त, वितिमिर—अज्ञानरूप अन्धकार से रहित, विशुद्ध—परम शुद्ध—कर्मक्षयनिष्पन्न आत्मशुद्धि युक्त) शाश्वतकाल-पर्यन्त स्थित रहते हैं—इत्यादि आप किस आशय से फरमाते हैं?

गौतम! जैसे अग्नि से दग्ध—सर्वथा जले हुए बीजों की पुनः अंकुरों के रूप में उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्म-बीज दग्ध होने के कारण सिद्धों की भी फिर जन्मोत्पत्ति नहीं होती। गौतम! मैं इसी आशय से यह कह रहा हूँ कि सिद्ध सादि, अपर्यवसित·····होते हैं।

सिद्धमान के संहनन संस्थान आदि

१५६—जीवा णं भंते! सिज्झमाणा कयरंमि संघयणे सिज्झंति?

गोयमा! वइरोसभणारायसंघयणे सिज्झंति।

१५६—भगवन्! सिद्ध होते हुए जीव किस संहनन (दैहिक अस्थि-बंध) में सिद्ध होते हैं?

गौतम! वे वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन में सिद्ध होते हैं।

---

१. देखें सूत्र यही।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१५७—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि संठाणे सिज्झंति ?

गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अण्णयरे संठाणे सिज्झंति ।

१५७—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव किस संस्थान (दैहिक आकार) में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! छह संस्थानों[1] में से किसी भी संस्थान में सिद्ध हो सकते हैं ।

१५८—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि उच्चत्ते सिज्झंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं सत्तरयणीए, उक्कोसेणं पंचधणुसइए सिज्झंति ।

१५८—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव कितनी अवगाहना—ऊँचाई में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! जघन्य—कम से कम सात हाथ तथा उत्कृष्ट—अधिक से अधिक पाँच सौ धनुष की अवगाहना में सिद्ध होते हैं ।

विवेचन – सिद्ध होने वाले जीवों की प्रस्तुत सूत्र में जो अवगाहना प्ररूपित की गई है, वह तीर्थंकरों की अपेक्षा से समझना चाहिए । भगवान् महावीर जघन्य सात हाथ की और भ० ऋषभ उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की अवगाहना से सिद्ध हुए । सामान्य केवलियों की अपेक्षा यह कथन नहीं है । क्योंकि कूर्मापुत्र दो हाथ की अवगाहना से सिद्ध हुए । मरुदेवी की अवगाहना पांच सौ धनुष से अधिक थी ।

१५९—जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि आउए सिज्झंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगट्ठवासाउए, उक्कोसेणं पुव्वकोडियाउए सिज्झंति ।

१५९—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव कितने आयुष्य में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! कम से कम आठ वर्ष से कुछ अधिक आयुष्य में तथा अधिक से अधिक करोड़ पूर्व के आयुष्य में सिद्ध होते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आठ वर्ष या उससे कम की आयु वाले और क्रोड पूर्व से अधिक की आयु के जीव सिद्ध नहीं होते हैं ।

सिद्धों का परिवास

१६०—अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे, एवं जाव अहे सत्तमाए ।

१६०—भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभा पृथ्वी—प्रथम नारक भूमि के नीचे सिद्ध निवास करते हैं ?

नहीं, ऐसा अर्थ—अभिप्राय—ठीक नहीं है ।

रत्नप्रभा के साथ-साथ शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा तथा तमस्तमःप्रभा—पहली से सातवीं तक सभी नारकभूमियों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझना चाहिए अर्थात् उनके नीचे सिद्ध निवास नहीं करते ।

१.—१. समचतुरस्र, २, न्यग्रोधपरिमण्डल, ३. सादि, ४. वामन, ५. कुब्ज, ६. हुंड ।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१६१—अत्थि णं भंते ! सोहम्मस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे, एवं सव्वेसिं पुच्छा—ईसाणस्स, सणंकुमारस्स जाव (माहिंदस्स, बंभस्स, लंतगस्स, महासुक्कस्स, सहस्सारस्स, आणयस्स, पाणयस्स, आरणस्स) अच्चुयस्स गेवेज्जविमाणाणं अणत्तरविमाणाणं ।

१६१—भगवन् ! क्या सिद्ध सौधर्म कल्प (देवलोक) के नीचे निवास करते हैं ?

नहीं ऐसा अभिप्राय ठीक नहीं है। ईशान, सनत्कुमार, (माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण एवं) अच्युत तक, ग्रैवेयक विमानों तथा अनुत्तर विमानों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए। अर्थात् इनके नीचे भी सिद्ध निवास नहीं करते।

१६२—अत्थि णं भंते ! ईसीपब्भाराए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इट्ठे समट्ठे ।

१६२—भगवन् ! क्या सिद्ध ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे निवास करते हैं ?

नहीं, ऐसा अभिप्राय ठीक नहीं है।

१६३—से कहिं खाइ णं भंते ! सिद्धा परिवसंति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिमसूरियग्गहगणणक्खत्ततारारूवाणं बहूइं जोयणाइं, बहूइं जोयणसयाइं, बहूइं जोयणसहस्साइं, बहूइं जोयणसयसहस्साइं, बहूओ जोयणकोडीओ, बहूओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढतरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसणंकुमारमाहिंदबंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरणअच्चुए तिण्णि य अट्ठारे गेविज्जविमाणावाससए वीईवइत्ता विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजिय-सव्वट्ठसिद्धस्स य महाविमाणस्स सव्वउवरिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालसजोयणाइं अबाहाए एत्थ णं ईसीपब्भारा णाम पुढवी पण्णत्ता, पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिरएणं ।

१६३—भगवन् ! फिर सिद्ध कहाँ निवास करते हैं ?

गौतम ! इस रत्नप्रभा भूमि के बहुसम रमणीय भूभाग से ऊपर, चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र तथा तारों के भवनों से बहुत योजन, बहुत सैकड़ों योजन, बहुत हजारों योजन, बहुत लाखों योजन बहुत करोड़ों योजन तथा बहुत क्रोड़ाक्रोड़ योजना से ऊर्ध्वतर—बहुत ऊपर जाने पर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत कल्प, तथा तीन सौ अठारह ग्रैवेयक विमान-आवास से भी ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध महाविमान के सर्वोच्च शिखर के अग्रभाग से बारह योजन के अन्तर पर ऊपर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी कही गई है।

वह पृथ्वी पैंतालीस लाख योजन लम्बी तथा चौड़ी है। उसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ अधिक है।

१६४—ईसीपब्भाराए णं पुढवीए बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणिए खेत्ते अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं, तयाणंतरं च णं मायाए मायाए परिहायमाणी परिहायमाणी सव्वेसु चरिमपेरंतेसु मच्छियपत्ताओ तणुयतरा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं बाहल्लेणं पण्णत्ता।

१६४—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी अपने ठीक मध्य भाग में आठ योजन क्षेत्र में आठ योजन मोटी है। तत्पश्चात् मोटेपन में क्रमशः कुछ कुछ कम होती हुई सबसे अन्तिम किनारों पर मक्खी की पाँख से पतली है। उन अन्तिम किनारों की मोटाई अंगुल के असंख्यातवें भाग के तुल्य है।

१६५—ईसीपब्भाराए णं पुढवीए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—ईसी इ वा, ईसीपब्भारा इ वा, तणू इ वा, तणुतणू इ वा, सिद्धी इ वा, सिद्धालए इ वा, मुत्ती इ वा, मुत्तालए इ वा, लोयग्गे इ वा, लोयग्गथूभिगा इ वा, लोयग्गपडिबुज्झणा इ वा, सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तसुहावहा इ वा।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१६५—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बारह नाम बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. ईषत्, २. ईषत्प्राग्भारा, ३. तनु, ४. तनुतनु, ५. सिद्धि, ६. सिद्धालय, ७. मुक्ति, ८. मुक्तालय, ९. लोकाग्र, १०. लोकाग्रस्तूपिका, ११. लोकाग्रप्रतिबोधना, १२. सर्वप्राणभूतजीव-सत्त्वसुखावहा।

१६६—ईसीपब्भारा णं पुढवी सेया आयंसतलविमल-सोल्लिय-मुणाल-दगरय-तुसार-गोक्खीर-हारवण्णा, उत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया, सव्वज्जुणसुवण्णयमई, अच्छा, सण्हा, लण्हा, घट्ठा, मट्ठा, णीरया, णिम्मला, णिप्पंका, णिक्कंकडच्छाया, समरीचिया, सुप्पभा, पासादीया, दरिसणिज्जा, अभिरूवा, पडिरूवा।

१६६—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी दर्पणतल के जैसी निर्मल, सोल्लिय पुष्प, कमलनाल, जलकण, तुषार, गाय के दूध तथा हार के समान श्वेत वर्णयुक्त है। वह उलटे छत्र जैसे आकार में अवस्थित है—उलटे किये हुए छत्र जैसा उसका आकार है। वह अर्जुन स्वर्ण—श्वेत स्वर्ण—अत्यधिक मूल्य युक्त श्वेत धातुविशेष जैसी द्युति लिए हुए है। वह आकाश या स्फटिक—बिल्लौर[1] जैसी स्वच्छ, श्लक्ष्ण कोमल परमाणु-स्कन्धों से निष्पन्न होने के कारण कोमल तन्तुओं से बुने हुए वस्त्र के समान मुलायम, लष्ट—सुन्दर, ललित आकृतियुक्त, घृष्ट—तेज शाण पर घिसे हुए पत्थर की तरह मानो तराशी हुई, मृष्ट सुकोमल शाण पर घिस कर मानो पत्थर की तरह संवारी हुई, नीरज—रज-रहित, निर्मल—मलरहित, निष्पंक शोभायुक्त, समरीचिका—सुन्दर किरणों से—प्रभा से युक्त, प्रासादीय—चित्त को प्रसन्न करनेवाली, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—मनोज्ञ—मन को अपने में रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन में बस जानेवाली है।

१६७—ईसीपब्भाराए णं पुढवीए सेयाए जोयणंमि लोगंते। तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छब्भागे, तत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादीया, अपज्जवसिया

---

१. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर पृष्ठ ७२६

पूर्वाचार्य — आचार्य श्री जयविजयसागर जी महाराज

अणेगजाइजरामरणजोणिवेयण संसारकलकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचमइक्कंता सासयमणागयद्धं चिट्ठंति।

१६७—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के तल से उत्सोधांगुल (माप) द्वारा एक योजन पर लोकान्त है। उस योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग पर सिद्ध भगवान्, जो सादि—मोक्षप्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदियुक्त तथा अपर्यवसित—अनन्त हैं, जो जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अनेक योनियों की वेदना, संसार के भीषण दुःख, पुनः पुनः होनेवाले गर्भवास रूप प्रपंच—बार बार गर्भ में आने के संकट अतिक्रान्त कर चुके हैं, लाँघ चुके हैं, अपने शाश्वत—नित्य, भविष्य में सदा सुस्थिर स्वरूप में संस्थित रहते हैं।[1]

विवेचन—जैन साहित्य में वर्णित प्राचीन माप में अँगुल व्यावहारिक दृष्टि से सबसे छोटी इकाई है। वह तीन प्रकार का माना गया है—आत्मांगुल, उत्सेधांगुल तथा प्रमाणांगुल। वे इस प्रकार हैं—

आत्मांगुल—विभिन्न कालों के मनुष्यों का अवगाहन (अवगाहना)—आकृति-परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। अतः अंगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है। अपने समय के मनुष्यों के अंगुल के माप के अनुसार जो परिमाण होता है, उसे आत्मांगुल कहा जाता है। जिस काल में जो मनुष्य होते हैं, उस काल के नगर, वन, उपवन, सरोवर, कूप, वापी, प्रासाद आदि उन्हीं के अंगुल के परिमाण से—आत्मांगुल से नापे जाते हैं।

उत्सेधांगुल—आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल माना गया है। नारक, मनुष्य, देव आदि की अवगाहना का माप उत्सेधांगुल द्वारा होता है।

प्रमाणांगुल—उत्सेधांगुल से हजार गुना बड़ा एक प्रमाणांगुल होता है। रत्नप्रभा आदि नारक भूमियाँ, भवनपति देवों के भवन, कल्प (देवलोक—स्वर्ग), वर्षधर पर्वत, द्वीप आदि के विस्तार—लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गहराई, परिधि आदि शाश्वत वस्तुओं का माप प्रमाणांगुल से होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में इसका विस्तार से वर्णन है।[2]

सिद्ध : सारसंक्षेप

१६८—कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पडिट्ठिया ?।
कहिं बोंदि चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झई ? ॥१॥

१६८—सिद्ध किस स्थान पर प्रतिहत हैं—प्रतिरुद्ध हैं—आगे जाने से रुक जाते हैं ? वे कहाँ प्रतिष्ठित हैं—अवस्थित हैं ? वे यहाँ—इस लोक में देह को त्याग कर कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ?

१६९—अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिट्ठिया।
इह बोंदि चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥२॥

---

१. 'जोयणंमि लोगंते त्ति' इह योजनमुत्सेधाङ्गुलयोजनमवसेयम्। —औपपातिकसूत्र वृत्ति. पत्र ११५

२. अनुयोगद्वार सूत्र, पृष्ठ १९२-१९६

१६९—सिद्ध लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं अतः अलोक में जाने में प्रतिहत हैं—अलोक में नहीं जाते। इस मर्त्यलोक में ही देह का त्याग कर वे सिद्ध-स्थान में जाकर सिद्ध होते हैं।

१७०—जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयंमि।
आसी य पएसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स ॥३॥

१७०—देह का त्याग करते समय अन्तिम समय में जो प्रदेशघन आकार—नाक, कान, उदर आदि रिक्त या पोले अंगों की रिक्तता या पोलेपन के विलय से घनीभूत आकार होता है, वही आकार वहाँ—सिद्धस्थान में रहता है।

१७१—दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमभवे हवेज्ज संठाणं।
तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥४॥

१७१—अन्तिम भव में दीर्घ या ह्रस्व—लम्बा-ठिगना, बड़ा-छोटा जैसा भी आकार होता है, उससे तिहाई भाग कम में सिद्धों की अवगाहना—अवस्थिति या व्याप्ति होती है।

१७२—तिण्णि सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वो।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥५॥

१७२—सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तैंतीस धनुष तथा तिहाई धनुष (बत्तीस अंगुल) होती है, सर्वज्ञों ने ऐसा बतलाया है।

जिनकी देह पाँच सौ धनुष-विस्तारमय होती है, यह उनकी अवगाहना है।

१७३—चत्तारि य रयणीओ, रयणितिभागूणिया बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥

१७३—सिद्धों की मध्यम अवगाहना चार हाथ तथा तिहाई भाग कम एक हाथ (सोलह अंगुल) होती है, ऐसा सर्वज्ञों ने निरूपित किया है।

सिद्धों की मध्यम अवगाहना का निरूपण उन मनुष्यों की अपेक्षा से है, जिनकी देह की अवगाहना सात हाथ-परिमाण होती है।

१७४—एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइ अट्ठ भवे।
एस खलु सिद्धाणं, जहण्णओगाहणा भणिया ॥७॥

१७४—सिद्धों की जघन्य—न्यूनतम अवगाहना एक हाथ तथा आठ अंगुल होती है, ऐसा सर्वज्ञों द्वारा भाषित है।

यह अवगाहना दो हाथ की अवगाहना युक्त परिमाण-विस्तृत देह वाले कूर्मापुत्र आदि की अपेक्षा से है।

१७५—ओगाहणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होंति परिहीणा।
संठाणमणित्थत्थं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥८॥

१७५—सिद्ध अन्तिम भव की अवगाहना से तिहाई भाग कम अवगाहना युक्त होते हैं। जो वार्धक्य और मृत्यु से विप्रमुक्त हो गये हैं—सर्वथा छूट गये हैं, उनका संस्थान—आकार किसी भी लौकिक आकार से नहीं मिलता।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१७६—जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अण्णोण्णसमोगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥९॥

१७६—जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ भव-क्षय—जन्म-मरण रूप सांसारिक आवागमन के नष्ट हो जाने से मुक्त हुए अनन्त सिद्ध हैं, जो परस्पर अवगाढ—एक दूसरे में मिले हुए हैं। वे सब लोकान्त का—लोकाग्र भाग का संस्पर्श किये हुए हैं।

१७७—फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहि णियमसो सिद्धो।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥१०॥

१७७—(एक-एक) सिद्ध समस्त आत्म-प्रदेशों द्वारा अनन्त सिद्धों का सम्पूर्ण रूप में संस्पर्श किये हुए हैं। यों एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्त सिद्धों की अवगाहना है—एक में अनन्त अवगाढ हो जाते हैं और उनसे भी असंख्यातगुण सिद्ध ऐसे हैं जो देशों और प्रदेशों से—कतिपय भागों से—एक-दूसरे में अवगाढ़ हैं।

तात्पर्य यह है कि अनन्त सिद्ध तो ऐसे हैं जो पूरी तरह एक-दूसरे में समाये हुए हैं और उनसे भी असंख्यात गुणित सिद्ध ऐसे हैं जो देश-प्रदेश से—कतिपय अंशों में, एक-दूसरे में समाये हुए हैं।

अमूर्त्त होने के कारण उनकी एक-दूसरे में अवगाहना होने में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती।

१७८—असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य णाणे य।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥११॥

१७८—सिद्ध शरीर रहित, जीवघन—सघन अवगाह रूप आत्म-प्रदेशों से युक्त तथा दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग में उपयुक्त हैं। यों साकार—विशेष उपयोग—ज्ञान तथा अनाकार—सामान्य उपयोग—दर्शन—चेतना सिद्धों का लक्षण है।

१७९—केवलणाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे।
पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिणंताहिं ॥१२॥

१७९—वे केवलज्ञानोपयोग द्वारा सभी पदार्थों के गुणों एवं पर्यायों को जानते हैं तथा अनन्त केवलदर्शन द्वारा सर्वतः—सब ओर से—समस्त भावों को देखते हैं।

१८०—ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं ॥१३॥

१८०—सिद्धों को जो अव्याबाध—सर्वथा विघ्न बाधारहित, शाश्वत सुख प्राप्त है, वह न मनुष्यों को प्राप्त है और न समग्र देवताओं को ही।

१८१—जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धा पिंडियं अणंतगुणं।
ण य पावइ मुत्तिसुहं, णंताहिं वग्गवग्गूहिं ॥१४॥

१८१—तीन काल गुणित अनन्त देव-सुख, यदि अनन्त वार वर्गवर्गित किया जाए तो भी वह मोक्ष-सुख के समान नहीं हो सकता।

विवेचन—अतीत, वर्तमान तथा भूत—तीनों कालों से गुणित देवों का सुख, कल्पना करें, यदि लोक तथा अलोक के अनन्त प्रदेशों पर स्थापित किया जाए, सारे प्रदेश उससे भर जाएँ तो वह अनन्त देव-सुख से संज्ञित होता है।

दो समान संख्याओं का परस्पर गुणन करने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, उसे वर्ग कहा जाता है। उदाहरणार्थ पाँच का पाँच से गुणन करने पर गुणनफल पच्चीस आता है। पच्चीस पांच का वर्ग है। वर्ग का वर्ग से गुणन करने पर जो गुणनफल आता है, उसे वर्गवर्गित कहा जाता है। जैसे पच्चीस का पच्चीस से गुणन करने पर छः सौ पच्चीस गुणनफल आता है। यह पाँच का वर्ग-वर्गित है।

देवों के उक्त अनन्त सुख को यदि अनन्त वार वर्गवर्गित किया जाए तो भी वह मुक्ति-सुख के समान नहीं हो सकता।

१८२—सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धा पिंडिओ जइ हवेज्जा।
सोणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ण माएज्जा ॥१५॥

१८२—एक सिद्ध के सुख को तीनों कालों से गुणित करने पर जो सुख-राशि निष्पन्न हो, उसे यदि अन्त वर्ग से विभाजित किया जाए, जो सुख-राशि भागफल के रूप में प्राप्त हो, वह भी इतनी अधिक होती है कि सम्पूर्ण आकाश में समाहित नहीं हो सकती।

१८३—जह णाम कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहिं असंतीए ॥१६॥

१८३—जैसे कोई म्लेच्छ—असभ्य वनवासी पुरुष नगर के अनेकविध गुणों को जानता हुआ भी वन में वैसी कोई उपमा नहीं पाता हुआ उस (नगर) के गुणों का वर्णन नहीं कर सकता।

१८४—इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं।
किंचि विसेसेणेत्तो, ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं ॥१७॥

१८४—उसी प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है। उसकी कोई उपमा नहीं है। फिर भी (सामान्य जनों के बोध हेतु) विशेष रूप से उपमा द्वारा उसे समझाया जा रहा है, सुनें।

१८५-८६—जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥
इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥१९॥

१८५-८६—जैसे कोई पुरुष अपने द्वारा चाहे गये सभी गुणों—विशेषताओं से युक्त भोजन कर, भूख-प्यास से मुक्त होकर अपरिमित तृप्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार सर्वकालतृप्त—सब समय परम तृप्ति युक्त, अनुपम शान्तियुक्त सिद्ध शाश्वत—नित्य तथा अव्याबाध—सर्वथा विघ्न-बाधारहित परम सुख में निमग्न रहते हैं।

१८७—सिद्धत्ति य बुद्धत्ति य, पारगयत्ति य परंपरगयत्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥२०॥

१८७—वे सिद्ध हैं—उन्होंने अपने सारे प्रयोजन साध लिये हैं। वे बुद्ध हैं—केवलज्ञान द्वारा समस्त विश्व का बोध उन्हें स्वायत्त है। वे पारगत हैं—संसार-सागर को पार कर चुके हैं। वे परंपरागत हैं—परंपरा से प्राप्त मोक्षोपायों का अवलम्बन कर वे संसार-सागर के पार पहुँचे हुए हैं। वे उन्मुक्त-कर्मकवच हैं—जो कर्मों का बख्तर उन पर लगा था, उससे वे छूटे हुए हैं। वे अजर हैं—वृद्धावस्था से रहित हैं। अमर हैं—मृत्युरहित हैं—तथा वे असंग हैं—सब प्रकार की आसक्तियों से तथा समस्त पर-पदार्थों के संसर्ग से रहित हैं।

१८८—णित्थिण्णसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंति सासयं सिद्धा ॥२१॥

१८८—सिद्ध सब दुःखों को पार कर चुके हैं जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु के बन्धन से मुक्त हैं। निर्बाध, शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।

१८९—अतुलसुहसागरगया, अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयमद्धं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥२२॥

१८९—अनुपम सुख-सागर में लीन, निर्बाध, अनुपम मुक्तावस्था प्राप्त किये हुए सिद्ध समग्र अनागत काल में—भविष्य में सदा प्राप्तसुख, सुखयुक्त अवस्थित रहते हैं।

परिशिष्ट-१

'गण' और 'कुल' संबंधी विशेष विचार

गण

भगवान् महावीर का श्रमण-संघ बहुत विशाल था। अनुशासन, व्यवस्था, संगठन, संचालन आदि की दृष्टि से उसकी अपनी अप्रतिम विशेषताएँ थीं। फलतः उत्तरवर्ती समय में भी वह समीचीनतया चलता रहा, आज भी एक सीमा तक चल रहा है।

भगवान् महावीर के नौ गण थे, जिनका स्थानांग सूत्र में उल्लेख[1] है—

१. गोदास गण,	२. उत्तरबलिस्सह गण,
३. उद्देह गण,	४. चारण गण,
५. उद्दवाइय गण,	६. विस्सवाइय गण,
७. कामर्द्धिक गण,	८. मानव गण,
९. कोटिक गण।	

इन गणों की स्थापना का मुख्य आधार आगम-वाचना एवं धर्मक्रियानुपालन की व्यवस्था था। अध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन श्रमण-जीवन का अपरिहार्य अंग है। जिन श्रमणों के अध्ययन की व्यवस्था एक साथ रहती थी, वे एक गण में समाविष्ट थे। अध्ययन के अतिरिक्त क्रिया अथवा अन्यान्य व्यवस्थाओं तथा कार्यों में भी उनका साहचर्य तथा ऐक्य था।

गणस्थ श्रमणों के अध्यापन तथा देखभाल का कार्य या उत्तरदायित्व गणधरों पर था।

भगवन् महावीर के ग्यारह गणधर थे[2]—

१. इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा, ६. मण्डित, ७. मौर्यपुत्र ८. अकम्पित, ९. अचलभ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास।

इन्द्रभूति भगवान् महावीर के प्रथम व प्रमुख गणधर थे। वे गौतम गोत्रीय थे, इसलिए आगम-वाङ्मय और जैन परंपरा में वे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम से सप्तम तक के गणधरों के अनुशासन में उनके अपने-अपने गण थे। अष्टम तथा नवम गणधर का सम्मिलित रूप में एक गण

---

१. समणस्स णं भगवओ महावीरस्स णव गणा हुत्था, तं जहा—गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे।

—ठाणं ९. २९, पृष्ठ ८५६

२. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७३

था। इसी प्रकार दसवें तथा ग्यारहवें गणधर का भी एक गण था।[1] कहा जाता है कि श्रमण-संख्या कम होने के कारण इन दो-दो गणधरों के गणों को मिलाकर एक-एक किया गया था।

अध्यापन, क्रियानुष्ठान की सुविधा रहे, इस हेतु गण पृथक्-पृथक् थे। वस्तुतः उनमें कोई मौलिक भेद नहीं था। वाचना का भी केवल शाब्दिक भेद था, अर्थ की दृष्टि से वे अभिन्न थीं। क्योंकि भगवान् महावीर ने अर्थरूप में जो तत्त्व-निरूपण किया, भिन्न-भिन्न गणधरों ने अपने-अपने शब्दों में उसका संकलन या संग्रथन किया, जिसे वे अपने-अपने गण के श्रमण-समुदाय को सिखाते थे। अतएव गणविशेष की व्यवस्था करनेवाले तथा उसे वाचना देनेवाले गणधर का निर्वाण हो जाने पर उस गण का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। निर्वाणोन्मुख गणधर अपने निर्वाण से पूर्व दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा के गण में उसका विलय कर देते थे।

भगवान् महावीर के संघ की यह परंपरा थी कि सभी गणों के श्रमण, जो भिन्न-भिन्न गणधरों के निर्देशन तथा अनुशासन में थे, प्रमुख पट्टधर के शिष्य माने जाते थे। इस परंपरा के अनुसार सभी श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर सहजतया उनके उत्तराधिकारी सुधर्मा के शिष्य माने जाने लगे। यह परम्परा आगे भी चलती रही।

यह बड़ी स्वस्थ परम्परा थी। जब तक रही, संघ बहुत सबल एवं सुव्यवस्थित रहा। वस्तुतः धर्म-संघ का मुख्य आधार श्रमण-श्रमणी-समुदाय ही है। उनके सम्बन्ध में जितनी अधिक जागरूकता और सावधानी बरती जाती है, संघ उतना ही दृढ़ और स्थिर बनता है।

भगवान् महावीर के समय से चलती आई गुरु-शिष्य-परम्परा का आचार्य भद्रबाहु तक निर्वाह होता रहा। उनके बाद इस क्रम ने एक नया मोड़ लिया। तब तक श्रमणों की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। भगवान् महावीर के समय व्यवस्था की दृष्टि से गणों के रूप में संघ का जो विभाजन था, वह यथावत् रूप में नहीं चल पाया। सारे संघ का प्रमुख नेतृत्व एकमात्र पट्टधर पर होता था, वह भी आर्य जम्बू तक तो चल सका, आगे सम्भव नहीं रहा। फलतः उत्तरवर्ती काल में संघ में से समय-समय पर भिन्न-भिन्न नामों से पृथक्-पृथक् समुदाय निकले, जो 'गण' संज्ञा से अभिहित हुए।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् महावीर के समय में 'गण' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त था, आगे चलकर उसका अर्थ परिवर्तित हो गया। भगवान् महावीर के आदेशानुवर्ती गण संघ के निरपेक्ष भाग नहीं थे, परस्पर सापेक्ष थे। आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर जो गण अस्तित्व में आये, वे एक दूसरे से निरपेक्ष हो गये। परिणाम यह हुआ, दीक्षित श्रमणों के शिष्यत्व का ऐक्य नहीं रहा। जिस समुदाय में वे दीक्षित होते, उस समुदाय या गण के प्रधान के शिष्य कहे जाते।

भगवान् महावीर के नौ गणों के स्थानांग सूत्र में जो नाम आये हैं, उनमें से एक के अतिरिक्त ठीक वे ही नाम आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् भिन्न भिन्न समय में विभिन्न आचार्यों के नाम से निकलने वाले आठ गणों के मिलते हैं, जो कल्प-स्थविरावली के निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट है—

"काश्यपगोत्रीय स्थविर गोदास से गोदास-गण निकला।

स्थविर उत्तरबलिस्सह से उत्तरबलिस्सह गण निकला।

---

१. जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व, पहला भाग, पृष्ठ ३९

काश्यपगोत्रीय स्थविर आर्यरोहण से उद्देह-गण निकला।

हारीतगोत्रीय स्थविर श्रीगुप्त से चारणगण निकला।

भारद्वाजगोत्रीय स्थविर भद्रयश से उद्वाइय-गण निकला।

कुंडिलगोत्रीय स्थविर कामर्द्धि से वेसवाडिय (विस्सवाइय) गण निकला।

वशिष्ठगोत्रीय काकन्दीय स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण निकला।

कोटिककाकन्दीय व्याघ्रापत्यगोत्रीय स्थविर सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से कोटिक-गण निकला।"[1]

भगवान् महावीर के नौ गणों में सातवें का नाम कामर्द्धिक (कामड्ढिय) था। उसे छोड़ देने पर अवशेष नाम ज्यों के त्यों हैं। थोड़ा बहुत कहीं कहीं वर्णात्मक भेद दिखाई देता है, वह केवल भाषात्मक है। अपने समय की जीवित—जन-प्रचलित भाषा होने के कारण प्राकृत की ये सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं।

प्रश्न उपस्थित होता है, भगवान् महावीर के गणों का गोदासगण, बलिस्सहगण आदि के रूप में जो नामकरण हुआ, उसका आधार क्या था? यदि व्यक्तिविशेष के नाम के आधार पर गणों के नाम होते तो क्या यह उचित नहीं होता कि उन-उन गणों के व्यवस्थापकों—गणधरों के नाम पर वैसा होता? गणस्थित किन्हीं विशिष्ट साधुओं के नामों के आधार पर ये नाम दिये जाते तो उन विशिष्ट साधुओं के नाम आगम-वाङ्मय में, जिसका ग्रथन गणधरों द्वारा हुआ, अवश्य मिलते। पर ऐसा नहीं है। समझ में नहीं आता, फिर ऐसा क्यों हुआ। विद्वानों के लिए यह चिन्तन का विषय है।

ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि उत्तरवर्ती समय में भिन्न-भिन्न श्रमण-स्थविरों के नाम से जो आठ समुदाय या गण चले, उन (गणों) के नाम भगवान् महावीर के गणों के साथ भी जोड़ दिये गये हों।

एक गण जो बाकी रहता है, उसका नामकरण स्यात् आर्य सुहस्ती के बारह अंतेवासियों में से चौथे कामिड्ढि (कामर्द्धि) नामक श्रमण-श्रेष्ठ के नाम पर कर दिया गया हो, जो अपने समय के सुविख्यात आचार्य थे, जिनसे वेसवाडिय (विस्सवाइय) नामक गण निकला था।

---

१. थेरेहिंतो णं गोदासेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो गोदासगणं नामं गणं निग्गए।
थेरेहिंतो णं उत्तरबलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहगणं नामं गणं निग्गए।
थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणं नामं गणं निग्गए।
थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो हारिय गोत्तेहिंतो एत्थ णं चारणगणं नामं गणं निग्गए।
थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियगणं निग्गए।
थेरेहिंतो णं कामिड्ढिहिंतो कुंडिलसगोत्तेहिंतो एत्थ णं वेसवाडियगणं नामं गणं निग्गए।
थेरेहिंतो णं इसिगुत्तेहिंतो णं काकंदएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो तत्थ णं माणवगणं नाम गणं निग्गए।
थेरेहिंतो णं सुट्ठिय-सुपडिबुद्धेहिंतो कोडियकाकंदएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो एत्थ णं कोडियगणं नामं गणं निग्गए।

स्पष्टतया कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता, ऐसा (यह सब) क्यों किया गया। हो सकता है, उत्तरवर्ती गणों की प्रतिष्ठापन्नता बढ़ाने के लिए यह स्थापित करने का प्रयत्न रहा हो कि भगवान् महावीर के गण भी इन्हीं नामों से अभिहित होते थे।

एक सम्भावना और की जा सकती है, यद्यपि है तो बहुत दूरवर्ती, स्यात् भगवान् महावीर के नौ गणों में से प्रत्येक में एक एक ऐसे उत्कृष्ट साधना-निरत, महातपा, परमज्ञानी, ध्यानयोगी साधक रहे हों, जो जन-सम्पर्क से दूर रहने के नाते बिलकुल प्रसिद्धि में नहीं आये, पर जिनकी उच्चता एवं पवित्रता असाधारण तथा स्पृहणीय थी। उनके प्रति श्रद्धा, आदर और बहुमान दिखाने के लिए उन गणों के नामकरण, जिन-जिन में वे थे, उनके नामों से कर दिये गये हों।

उत्तरवर्ती समय में संयोग कुछ ऐसे बने हों कि उन्हीं नामों के आचार्य हुए हों, जिनमें अपने नामों के साथ प्राक्तन गणों के नामों का साम्य देखकर अपने-अपने नाम से नये गण प्रवर्तित करने का उत्साह जागा हो।

ये सब मात्र कल्पनाएँ और सम्भावनाएँ हैं। इस पहलू पर और गहराई से चिन्तन एवं अन्वेषण करना अपेक्षित है।

तिलोयपण्णत्ति में भी गण का उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है—

"सभी तीर्थंकरों में से प्रत्येक के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, वैक्रियलब्धिधर, विपुलमति और वादी श्रमणों के साथ गण होते हैं।"[१]

भगवान् महावीर के सात गणों का वर्णन करते हुए तिलोयपण्णत्तिकार ने लिखा है—

"भगवान् महावीर के सात गणों में उन-उन विशेषताओं से युक्त श्रमणों की संख्याएँ इस प्रकार थीं—पूर्वधर तीन सौ, शिक्षक नौ हजार नौ सौ, अवधिज्ञानी एक हजार तीन सौ, केवली सात सौ, वैक्रियलब्धिधर नौ सौ, विपुलमति पाँच सौ तथा वादी चार सौ।"[२]

प्रस्तुत प्रकरण पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि 'गण' शब्द का प्रयोग यहाँ अवश्य हुआ है पर वह संगठनात्मक इकाई का द्योतक नहीं है। इसका केवल इतना-सा आशय है कि भगवान् महावीर के शासन में अमुक-अमुक वैशिष्ट्य-सम्पन्न श्रमणों के अमुक-अमुक संख्या के समुदाय या समूह थे अर्थात् उनके संघ में इन-इन विशेषताओं के इतने श्रमण थे।

केवलियों, पूर्वधरों तथा अवधिज्ञानियों के और इसी प्रकार अन्य विशिष्ट गुणधारी श्रमणों के अलग-अलग गण होते, यह कैसे सम्भव था। यदि ऐसा होता तो उदाहरणार्थ सभी केवली एक

---

१. पुव्वधर सिक्खको ही, केवलिवेकुव्वी विउलमदिवादी।
पत्तेकं सत्तगणा, सव्वाणं तित्थकत्ताणं॥ —तिलोयपण्णत्ति १०९८

२. तिसयाइं पुव्वधरा, णवणउदिसयाइं होंति सिक्खगणा।
तेरससयाणि ओही, सत्तसयाइं पि केवलिणो॥
इगिसयरहिदसहस्सं, वेकुव्वी पणसयाणी विउलमदी।
चत्तारि सया वादी, गणसंखा वड्ढमाणजिणे॥ —तिलोयपण्णत्ति ११६०-६१

ही गण में होते। वहाँ किसी तरह की तरतमता नहीं रहती। न शिक्षक-शैक्ष भाव रहता और न व्यवस्थात्मक संगति ही। यहाँ गण शब्द मात्र एक सामूहिक संख्या व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है।

श्वेताम्बर-साहित्य में भी इस प्रकार के वैशिष्ट्य-सम्पन्न श्रमणों का उल्लेख हुआ है, जहाँ भगवान् महावीर के संघ में केवली सात सौ, मनःपर्यवज्ञानी पांच सौ, अवधिज्ञानी तेरह सौ, चतुर्दश-पूर्वधर तीन सौ, वादि चार सौ, वैक्रियलब्धिधारी सात सौ तथा अनुत्तरोपपातिक मुनि आठ सौ बतलाये गये हैं।[1]

केवली, अवधिज्ञानी, पूर्वधर और वादी—दोनों परम्पराओं में इनकी एक समान संख्या मानी गई है। वैक्रियलब्धिधर की संख्या में दो सौ का अन्तर है। तिलोयपण्णति में उनकी संख्या दो सौ अधिक मानी गई है।

उक्त विवेचन से बहुत साफ है कि तिलोयपण्णतिकार ने गण का प्रयोग सामान्यतः प्रचलित अर्थ समूह या समुदाय में किया है।

कुल

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रमणों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। गणों के रूप में जो इकाइयाँ निष्पन्न हुई थीं, उनका रूप भी विशाल होता गया। तब स्यात् गण-व्यवस्थापकों को वृहत् साधु-समुदाय की व्यवस्था करने मे कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ हो। क्योंकि अनुशासन में बने रहना बहुत बड़ी सहिष्णुता और धैर्य की अपेक्षा रखता है। हर कोई अपने उद्दीप्त अहं का हनन नहीं कर सकता। अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं, जिनसे व्यवस्थाक्रम में कुछ और परिवर्तन आया। जो समुदाय गण के नाम से अभिहित होते थे, वे कुलात्मक इकाइयों में विभक्त हुए।

इसका मुख्य कारण एक और भी है। जहाँ प्रारंभ में जैनधर्म बिहार और उसके आसपास के क्षेत्रों में प्रसृत था, उसके स्थान पर तब तक उसका प्रसार-क्षेत्र काफी बढ़ चुका था। श्रमण दूर-दूर के क्षेत्रों में बिहार, प्रवास करने लगे थे। जैन श्रमण वाह्य साधनों का मर्यादित उपयोग करते थे, अब भी वैसा है। अतएव यह संभव नहीं था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से पर्यटन करने वाले मुनिगण का पारस्परिक संपर्क बना रहे। दूरवर्ती स्थान से आकर मिल लेना भी संभव नहीं था, क्योंकि जैन श्रमण पद-यात्रा करते थे। ऐसी स्थिति में जो-जो श्रमण-समुदाय विभिन्न स्थानों में विहार करते थे, वे दीक्षार्थी मुमुक्षु जनों को स्वयं अपने शिष्य के रूप में दीक्षित करने लगे। उनका दीक्षित श्रमण-समुदाय उनका कुल कहलाने लगा। यद्यपि ऐसी स्थिति आने से पहले भी स्थविर-श्रमण दीक्षार्थियों को दीक्षित करते थे परन्तु दीक्षित श्रमण मुख्य पट्टधर या आचार्य के ही शिष्य माने जाते थे। परिवर्तित दशा में ऐसा नहीं रहा। दीक्षा देने वाले दीक्षागुरु और दीक्षित उनके शिष्य—ऐसा सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इससे संघीय ऐक्य की परंपरा विच्छिन्न हो गई और कुल के रूप में एक स्वायत्त इकाई प्रतिष्ठित हो गई।

भगवतीसूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेवसूरि ने एक स्थान पर कुल का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

---

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग पृष्ठ ४७३.

"एक आचार्य की सन्तति या शिष्य-परम्परा को कुल समझना चाहिए। तीन परस्पर सापेक्ष कुलों का एक गण होता है।"[1]

पञ्चवस्तुक-टीका में तीन कुलों के स्थान पर परस्पर सापेक्ष अनेक कुलों के श्रमणों के समुदाय को गण कहा है।[2]

प्रतीत होता है कि उत्तरोत्तर कुलों की संख्या बढ़ती गई। छोटे-छोटे समुदायों के रूप में उनका बहुत विस्तार होता गया। यद्यपि कल्प-स्थविरावली में जिनका उल्लेख हुआ है, वे बहुत थोड़े से हैं, पर जहाँ कुल के श्रमणों की संख्या नौ तक मान ली गई, उससे उक्त तथ्य अनुमेय है। पृथक्-पृथक् समुदायों या समूहों के रूप में विभक्त रहने पर भी वे भिन्न-भिन्न गणों में सम्बद्ध रहते थे। एक गण में कम से कम तीन कुलों का होना आवश्यक था। अन्यथा गण की परिभाषा में वह नहीं आता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक गण में कम से कम तीन कुल अर्थात् तदन्तर्वर्ती कम से कम सत्ताईस साधु सदस्यों का होना आवश्यक माना गया। ऐसा होने पर ही गण को प्राप्त अधिकार उसे सुलभ हो सकते थे।

गणों एवं कुलों का पारस्परिक सम्बन्ध, तदाश्रित व्यवस्था आदि का एक समयविशेष तक प्रवर्तन रहा। मुनि पं. कल्याणविजयजी ने युगप्रधान-शासनपद्धति के चलने तक गण एवं कुलमूलक परम्परा के चलते रहने की बात कही है, पर युगप्रधान-शासनपद्धति यथावत् रूप में अब तक चली, उसका संचालन क्रम किस प्रकार का रहा, इत्यादि बातें स्पष्ट रूप में अब तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं। अतः काल की इयत्ता में इसे नहीं बाँधा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है, संघ-संचालन या व्यवस्था-निर्वाह के रूप में यह क्रम चला, जहां मुख्य इकाई गण था और उसकी पूरक या योजक इकाइयाँ कुल थे। इनमें परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य था, जिससे संघीय शक्ति विघटित न होकर संगठित बनी रही।

---

१. एत्थ कुलं विण्णेयं, एगायरियस्स संतई जा उ।
तिण्ह कुलाणमिहं पुण, साधेक्खाणं गणो होई॥ —भगवती सूत्र ८.८ वृत्ति

२. परस्परसापेक्षणामनेककुलानां साधूनां समुदाये। —पञ्चवस्तुक टीका, द्वार १

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अनुयोगद्वार सूत्र

प्रकाशक—
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद जैन संघ
हैद्राबाद (दक्षिण)

अन्तकृद्दशासूत्र

प्रकाशक—
मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार
ब्यावर (राजस्थान)

उववाइय सुत्त

प्रकाशक—
श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति
रक्षक संघ,
सैलाना (मध्य प्रदेश)

उववाई सूत्र

प्रकाशक—
सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद जैन संघ
हैद्राबाद (दक्षिण)

ओववाइयसुत्तं

फर्गुसन कॉलिज, पूना

औपपातिकसूत्रम्

प्रकाशक—
श्री अ. भा. श्वेताम्बर स्थानकवासी
जैन शास्त्रोद्धार समिति
ग्रीन लोज पासे, राजकोट

जयध्वज

प्रकाशक—
जयध्वज प्रकाशन समिति
९८, मिन्ट स्ट्रीट,
मद्रास-१

जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व

पहला भाग

प्रकाशक—
मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल, ट्रस्ट,
१/४ सी० खगेन्द्र चटर्जी रोड,
काशीपुर, कलकत्ता-२

जैनधर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम भाग

प्रकाशक—
जैन इतिहास समिति
आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभंडार,
लाल भवन, चौड़ा रास्ता,
जयपुर-३ (राजस्थान)

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास

भाग २

प्रकाशक—
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान,
जैनाश्रम, हिन्दू युनिवर्सिटी,
वाराणसी-५